कुन्दकुन्दाचार्य

की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि

डॉ० सुषमा गांग
प्रवक्ता
सस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर

भूमिका लेखक
डॉ० दयानन्द भार्गव
प्रोफेसर व अध्यक्ष, सस्कृत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर

भारतीय विद्या प्रकाशन
दिल्ली वाराणसी
(भारत)

पुरोवाक्

यह ग्रन्थ जोधपुर विश्वविद्यालय के सस्कृत-विभाग की प्राध्यापिका डॉ० कुमारी सुषमा गाग के पी-एच० डी० की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है। डॉ० गाग ने यह शोध-कार्य डॉ० रसिक विहारी जोशी के मार्ग-दर्शन में किया और यदि डॉ० जोशी सम्प्रति मैक्सिको मे न होते तो यह पुरोवाक् उन्हीं के द्वारा लिखा जाता।

आचार्य कुन्दकुन्द की गणना साक्षात्कृतधर्मा ऋषियो मे होती है। उनके वक्तव्यो का आधार तर्क न होकर स्वानुभूति है अत उनकी वाणी का एक विलक्षण स्वारस्य है। वे आत्मदर्शन के उस स्तर से बोलते हैं जहाँ सम्प्रदाय निरर्थक हो जाता है किन्तु फिर भी वे सदा जैनाचार्य की भाषा ही प्रयुक्त करते है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने डॉ० नथमल टाटिया के शोधग्रन्थ के पुरोवाक् मे लिखा था—We have had enough of analytical work attempting to describe the different systems in isolation, taking each as a distinct prasthāna and proceeding along its own line But time, I belive, has come when scholars should come out from their narrow grooves, take up a synthetic view of things, and try to discover the underlying unity and interpret India's outlook as a whole यदि महामहोपाध्याय जी द्वारा निर्दिष्ट दिशा मे जाना हो तो भारत की आत्मा को समझने मे जैनदर्शन के प्रतिनिधि के रूप मे आचार्य कुन्दकुन्द का अनुशीलन परम सहायक हो सकता है। यदि भारत की समग्र चेतना को समझने मे उपयोगी बन सकने योग्य आचार्य कुन्दकुन्द का उपयोग भी कही जैन-दर्शन की ही समग्रता को खण्डित किये जाने के लिए किया जा रहा हो तो यह मानवता-मात्र का दुर्भाग्य है। टीकाकारो ने उपनिषदो के अभिप्राय को लेकर भी मतभेद प्रस्तुत किये हैं किन्तु उपनिषदो का सचेत अध्येता जानता है कि उपनिषदो का एक अखण्ड सन्देश है जो टीकाकार आचार्यों के ऊपर उठा हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द का भी एक ऐसा ही सन्देश है जो व्याख्याकारों की साम्प्रदायिक घेराबन्दी का अतिक्रमण कर जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द यदि कभी आत्मा के द्रष्टा ज्ञाता पक्ष पर बल देते हैं तो वे सांख्य के इतने निकट आ जाते हैं कि उन्हे स्वय पाठक को सावधान करना पडता है कि वे साख्य-दर्शन की बात नही कह रहे हैं।[1] निश्चय तथा शुद्धनय पर उनका बल उन्हे वेदान्त के निकट ला देता है।[2] उनका जैन-दर्शन की परिधि मे रहकर भी जैनेतर दर्शनो

---

१. संसारस्य अभावो पसज्जदे संख-समओ वा। —समयसारः ११७

२. उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ —समयसारकलश, १।१३

की परिधि को छू लेना इस बात का सूचक है कि 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' तथा 'सन्नासु केवलमय विदुषा विवाद' की घोषणाएँ सत्य हैं। एक कट्टर दिगम्बर जैनाचार्य होकर भी कुन्दकुन्द श्वेताम्बर जैनो मे जितनी प्रशसा प्राप्त कर सके उतनी प्रशसा कोई दूसरा आचार्य नही प्राप्त कर सका है। डॉ० गांग स्वय श्वेताम्बर जैन हैं। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैं मानता हूँ कि आचार्य कुन्दकुन्द को साम्प्रदायिक कारागार से मुक्त होना चाहिए और यही धीरे-धीरे हो रहा है।

मेरी मान्यता है कि ससार के सभी अध्यात्मवादी मनीषी सम्प्रदाय-मुक्त रहे हैं और यदि हम उन्हें सीमा मे बाँधते हैं तो यह हमारी अपनी सीमा है उन मनीषियो की नहीं। गीता का अनासक्तियोग आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा मे इस प्रकार मुखरित हुआ है—

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव॥[3]

इसी आधार पर तो उत्तराध्ययन ने यह घोषणा की थी—

न कामभोगा समय उवेन्ति
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥[4]

अर्थात् कामभोग न समता के हेतु हैं न वे विकार के हेतु हैं, जो उनके प्रति द्वेष या मूर्च्छा का भाव रखता है वही उनमे मोह रखने के कारण विकार को प्राप्त होता है।

इसी भाव की व्याख्या आचार-चूला ने यह कहकर की कि इन्द्रियो के सम्पर्क मे आने वाले शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श विषयो का ग्रहण न हो यह सम्भव नही है किन्तु उन विषयो के प्रति राग-द्वेष का त्याग भिक्षु को करना चाहिए।[5]

भारतीय चिन्तन मे अन्तर्निहित इस एकता के सूत्र का ही यह परिणाम था कि जहाँ एक ओर गीता ने 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का घोष दिया वहाँ दूसरी ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे सम्यग्दृष्टि के लिए कर्मफल के प्रति आकाक्षा रखने का निषेध किया—

जो दु ण करेदि कखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥[6]

इस स्थिति मे जो 'येषाञ्च शाश्वतिको विरोध' सूत्र के उदाहरण के रूप मे 'श्रमण-ब्राह्मणम्' शब्द देखकर भारतीय चिन्तन मे अन्तर्निहित एकता पर सन्देह करते हैं, उनसे

---

३. समयसार, गाथा १९६

४ उत्तराध्ययन, ३२।१०१

५ आचार-चूला, १५।७२-७६

६. समयसार, २३०

मैं सहमत नही । यह कहा जा सकता है कि मैं श्रमण तथा ब्राह्मण परम्परा की आपात-रमणीय समानता पर बल देकर उनकी एकता स्थापित करने का अनुचित प्रयत्न कर रहा हूँ किन्तु मुझे अपने इस प्रयास मे कम से कम आचार्य तुलसी जैसे जैनागमो के मर्मज्ञ का समर्थन प्राप्त है क्योकि उन्होंने घोषणा की है कि—"आचाराङ्ग और गीता द्वारा अभिमत त्याग की कसौटी मे शाब्दिक भिन्नता होने पर भी आर्थिक भिन्नता नही है।"[७]

आचार्य कुन्दकुन्द मे तो यह आर्थिक अभिन्नता शाब्दिक अभिन्नता की सीमा को भी छू गयी है। प्रस्तुत है गीता का एक श्लोक तथा समयसार की एक गाथा—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।।[८]

तथा

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।[९]

कोई तुलनात्मक अध्ययन करने का मेरा प्रयोजन यहाँ नहीं है किन्तु इस पुरोवाक् के प्रारम्भ मे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का जो आर्षवाक्य मैंने उद्धृत किया था उसे आचार्य कुन्दकुन्द के सन्दर्भ मे किस प्रकार पुष्पित पल्लवित किया जा सकता है—इसका दिङ्मात्र उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया है।

ऊपर जो सामञ्जस्य की चर्चा मैंने की है उसका यह अर्थ न माना जाये कि आचार्य कुन्दकुन्द को लेकर स्वय जैनो तथा दिगम्बर जैनो के बीच भी जो विवाद परस्पर चल रहे हैं उनसे मैं अपरिचित हूँ। नियतिवाद तथा पुरुषार्थ को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द को केन्द्र मे रखकर एक बडा विवाद चल रहा है। यही स्थिति निश्चय तथा व्यवहारनयों के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर चल रहे विवाद की है। मैं शिक्षा क्षेत्र का व्यक्ति हूँ और यह मानता हूँ कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध ।' किन्तु यदि यह वाद वितण्डा मे बदलकर साम्प्रदायिक रूप ले ले तो मैं उसमे कोई हित निहित नहीं पाता। नियति तथा पुरुषार्थ एव निश्चय तथा व्यवहार जैसे विषयो को लेकर मैं केवल यही मानना चाहूँगा कि ये सभी नय हैं, प्रमाण इनके सयोग से बनता है। जिन जैन तार्किको ने नय को न प्रमाण माना है न अप्रमाण उनकी दृष्टि बहुत तात्त्विक थी।[१०] प्रयोजनवश कभी एकनय पर तथा कभी दूसरी नय पर आचार्य बल देते रहते हैं किन्तु इस कारण कोई भी नय न अपने आप मे मुख्य होती है न गौण। विवक्षावश ही नय की गौणता या मुख्यता रहती है। किन्तु प्रत्यक्षानुभूति के समय नय-विकल्प-जाल समाप्त हो जाता है—

---

७. आयारो, भूमिका, पृ० १४

८ गीता २।१९

९. समयसार, २४७

१०. नाप्रमाण प्रमाण वा नयो ज्ञानात्मको मत· ।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ।।
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।६।२१, ५

'समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कथञ्चनापि नयपक्ष न परिगृह्णति स खलु निखिलविकल्पेभ्य परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्र समयसार ।'[11]

अभिप्राय यह है कि इन सब दार्शनिक विवादो की परिसमाप्ति आत्मानुभूति के होने पर ही सम्भव है, उससे पूर्व रुचि-भेद, अभिव्यक्ति-भेद तथा प्रयोजन-भेद के कारण परस्पर विरोधी वक्तव्यो की सम्भावना बनी ही रहेगी। इन अपेक्षाओ की कोई सख्या निर्धारित नही है, अनन्त अभिव्यक्ति के प्रकार है तथा अनन्त ही नय हैं—जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णयवादा।[12] अनेकान्तवाद के प्रमुख पक्षधर आचार्य कुन्दकुन्द को हम किसी भी एकान्तवाद की परिधि मे न बाँधे यही उचित होगा।

ऊपर समयसार को ही मुख्यत लक्ष्य बनाकर इसलिए कहा है कि जिस प्रकार वेदत्रयी मे ऋग्वेद तथा प्रस्थानत्रयी मे उपनिषद् प्रमुख हैं उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की नाटकत्रयी मे समयसार प्रमुख है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि आचार्य कुन्दकुन्द की नाटकत्रयी मे समयसार प्रमुख है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही कि आचार्य कुन्दकुन्द की अन्य रचनाएँ किसी प्रकार भी कम महत्त्व की हैं। प्रवचनसार की निम्न गाथा धर्म की सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक व्याख्या के रूप मे स्वीकार की जा सकती है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।[13]

प्रवचनसार की निम्नगाथा मे वैदिक, बौद्ध तथा जैन तीनो परम्पराओ के उपदेशो का सार सगृहीत है—

समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।[14]

यही स्थिति जीवन्मुक्ति की है जिसे गीता ने स्थितप्रज्ञता का नाम दिया है। मानव जीवन के सर्वोत्कृष्ट आदर्श के रूप मे इस स्थिति को प्रस्तुत करना भारतीय सस्कृति की साझी धरोहर है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय मे क्रमश आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख कृतियो—पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार तथा नियमसार—का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अध्याय मे कुन्दकुन्दाचार्य के व्यक्तित्व तथा कृतित्व एव षष्ठ तथा सप्तम अध्याय मे उनके आत्म-निरूपण एव दार्शनक सिद्धातो का उल्लेख है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये की प्रवचनसार की भूमिका तथा प्रोफेसर चक्रवर्ती

---

११ समयसार, आत्मख्याति, १४३

१२. धवला, १।६७

१३. प्रवचनसार, १।७

१४. वही, ३।४१

की समयसार एव पञ्चास्तिकायसार की भूमिकाएँ कुन्दकुन्द पर कार्य करने वालो के लिए आलोकस्तम्भ का कार्य करती हैं। इधर आचार्य कुन्दकुन्द पर कुछ और भी शोध-कार्य हुए हैं जो दुर्भाग्यवश अप्रकाशित ही हैं उदाहरणत. आगरा विश्वविद्यालय से क्रमश १९६३ तथा १९६५ मे पी-एच० डी० हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध डॉ० प्रद्युम्न जैन कृत 'आचार्य कुन्दकुन्द का दर्शन तथा डॉ० लालबहादुर जैन कृत 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार'। पूना मे डॉ० एस० एम० शाह आचार्य कुन्दकुन्द के निश्चय तथा व्यवहार विवेचन पर दीर्घकाल से अनुसधान कर रहे हैं। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आधुनिक काल मे विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ प्रतिपाद्य विशेषत द्रष्टव्य हैं। उदाहरणतः लेखिका का प्रथम अध्याय मे यह विवेचन कि—समयसार द्रव्यदृष्टिप्रधान है, प्रवचनसार पर्यायदृष्टिप्रधान, पञ्चास्तिकाय प्रमाणदृष्टिप्रधान तथा नियमसार साधकदृष्टिप्रधान है अथवा समयसार, प्रवचनसार तथा पञ्चास्तिकाय क्रमश दर्शन, चारित्र तथा ज्ञान को प्रधानता देने वाली कृतियाँ हैं—विबुधजनो के लिए पर्याप्त रोचक है।

इसी प्रकार द्वितीय अध्याय मे व्यवहारकाल तथा निश्चयकाल का एव महासत्ता तथा अवान्तरसत्ता का वर्णन उद्बोधक है। गुण-गुणी में भेदाभेद की स्थापना करते हुए लेखिका कहती हैं कि 'द्रव्यक्षेत्रादि चतुष्टय का अभेद होने के कारण एकत्व अथवा अभेद है तथा द्रव्य और गुण मे आश्रय और आश्रित की अपेक्षा से कथञ्चित् भेद है।' भारतीय-दर्शन के छात्रो के लिए ऐसे प्रसङ्ग नये चिन्तन को जन्म देने वाले सिद्ध हो सकते हैं। आत्मा के स्वभाव के कर्ता तथा परभाव के अकर्ता के विषय को भी लेखिका ने विशद रूप से रखा है।

प्राचीन नैयायिको की मान्यता है कि शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है। लेखिका ने कहा है शब्द की उत्पत्ति भाषावर्गणा के स्कन्धो से होती है आकाश से नहीं। आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियो के आलोक मे ऐसे विषयों पर पुनर्विचार की अत्यन्त आवश्यकता है ताकि भारतीय-दर्शन आधुनिक विचारधारा से पिछड़ न जाये।

तृतीय अध्याय मे लेखिका ने मीमासा जैसे जैनेतर दर्शन के सिद्धान्तो के आधार पर जैन सिद्धान्तो की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के प्रयत्न का मैं इसलिए अभिनन्दन करता हूँ कि इससे दर्शन के नये आयाम उद्घाटित होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द अपनी परम्परा में मुक्त पुरुष माने जाते हैं किन्तु उनके निम्न वचनो मे जिस विनयशीलता के दर्शन होते हैं वह आज के अध्यात्मपुरुषो के लिए अनुकरणीय है—"मैं अपने निज विभव से इस एकत्वविभक्त आत्मा का दर्शन कराता हूँ; यदि दर्शन करा सकूँ, उसका उल्लेख कर सकूँ तो प्रमाण मानना और कहीं चूक जाऊँ तो मेरा छल ग्रहण नही करना।"[१५] प्राच्यविद्या की परम्परा के प्रारम्भिक दिनों मे जिस विनयशीलता के दर्शन वैदिकसूक्तो के ऋषियों मे होते हैं वह विनयशीलता कुन्दकुन्दाचार्य तक सुरक्षित है। पता नही क्यो प्राच्यविद्या के आधुनिक पण्डितो मे वैदुष्य के कारण कठोरता आ जाती है?

---

१५ समयसार, ५

लेखिका ने आचार्य कुन्दकुन्द की इस विशिष्ट अवधारणा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि कषाय उपयोग नहीं है तथा उपयोग कषाय नहीं है।[16] मेरा मानना है कि इस धारणा की पुष्टि साधक के जीवन मे निर्मलता तथा लघुता लाने मे बहुत सहायक है।

आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म पुरुष है, व्याकरण का पाण्डित्य प्रदर्शन उनका प्रयोजन कदापि नहीं। किन्तु वे कभी-कभी सहज भाव से ऐसी व्युत्पत्ति दे देते हैं जो शब्द के मर्म तक पहुँचने के लिए विवश कर देती है। उदाहरणत आवश्यक के सन्दर्भ मे अवश की निम्न व्युत्पत्ति द्रष्टव्य है—'ण वसो अवसो, अवसस्स कम्म वावस्सयंति।'[17] जो अन्य के वश में नहीं वह अवश है, अवश का कर्म आवश्यक है।

डॉ० मांग द्वारा कुन्दकुन्द के सन्दर्भ मे जीव तथा आत्मा शब्दो के प्रयोगो के आधार पर लिया गया यह निर्णय भी पर्याप्त ठीक लगता है कि आत्मा साध्य है जिस तक साधक जीव को पहुँचना है, जीव ही जब ज्ञान-चेतना रूप से परिणमन करता है तो परमात्मा कहलाता है। जीव के विवेचन में लेखिका ने तुलनात्मक दृष्टि से साख्य, वेदान्त आदि दर्शनों का भी उल्लेख किया है जो विषय के स्पष्टीकरण मे सहायक है।

षष्ठ अध्याय में एक तालिका के माध्यम से—आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपादित सभी विषय षट्द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ, कर्म, आत्मत्रय, उपयोगत्रय, चारित्र, दर्शन तथा ज्ञान—आत्मलाभोन्मुख हैं—यह विवेचन लेखिका ने सुन्दर शैली में किया है। दार्शनिक सिद्धान्तों वाला अध्याय जैनागम तथा दार्शनिक युग के बीच की कड़ी प्रस्तुत करने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० गांग के कुछ विशिष्ट निष्कर्षों की ओर मैंने सकेत ऊपर दिया है किन्तु मैं उनके सभी निष्कर्षों से सहमत होऊँ ऐसा आवश्यक नही है। उदाहरणत मेरी दृष्टि में नाटक-त्रय या प्राभृतत्रय की वेदान्त की प्रस्थानत्रयी से तुलना अशत ही सत्य है पूर्णत नही। मैं मानता हूँ कि प्रस्थानत्रयी की कृतियों में विचारो का वैसा ऐक्य नहीं है जैसा प्राभृत-त्रयी में। प्रस्थानत्रयी अनेक मनीषियों के विचारों का सग्रह है जबकि नाटकत्रयी एक ही व्यक्ति की रचना है अत इस प्रकार का भेद होना स्वाभाविक है। हाँ, स्व स्व सम्प्रदाय में प्राप्त मान्यता की दृष्टि से दोनों में जो समानता डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने मानी है, उससे मैं सहमत हूँ। इसी प्रकार मेरी यह मान्यता है कि जैन तीर्थङ्कर अपना प्रवचन प्राणिमात्र के कल्याण के लिए देते हैं अत कल्याणेच्छुक कोई भी प्राणी उनके उपदेश का पात्र है। अपात्र को विद्या नहीं देनी—यह विचार मूलत वैदिक परम्परा का प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत स्त्री, शूद्र आदि को वेदाध्ययन का अपात्र मान लिया गया है। कठोपनिषद् जैसे ब्रह्मविद्या के ग्रन्थों में पात्र-अपात्र का विचार अन्तर्निहित प्रतीत होता है। जैन तीर्थङ्कर इस सन्दर्भ में अधिक उदार प्रतीत होते हैं। वे सभी को समान रूप से समवसरण में प्रवचन का लाभ देते हैं। उस प्रवचन का लाभ पात्रता के अनुरूप ही होता है किन्तु प्रवचन देने वाला आत्मविद्या को इस आधार पर गोपनीय नहीं रखता कि उसके

१६. समयसार, १८१-१८२
१७. नियमसार, १४१-१४२

सम्मुख स्थित श्रोता उस विद्या का अपात्र है।

मैं यह भी नहीं समझता कि कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियां प्राथमिक अभ्यासियो के लिए नहीं वरन् अभ्यस्तों हेतु हैं। जैन दर्शन के मर्म को सरल से सरल पद्धति द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयत्न कुन्दकुन्दाचार्य का है अत कोई भी जिज्ञासु उन्हे पढकर लाभान्वित हो सकता है—ऐसा मेरा मानना है। तथापि यह सत्य है कि आचार्य कुन्द-कुन्द जैसे मौलिक चिन्तक ने जैन दर्शन की मान्यताओ का केवल पिष्ट-पोषण ही न कर दृष्टि विशेष से उसका पुनराख्यान किया है। इन सामान्य असहमतियो के होने पर भी डॉ० गाग के प्रस्तुत अध्ययन को मैं प्रामाणिक मानता हूँ। कहीं-कहीं कुछ प्रमाद भी मुझे दृष्टिगोचर हुए हैं किन्तु यह मैं उस टङ्कित प्रति के विषय मे कह रहा हूँ जो यह पुरोवाक् लिखते समय मेरे सम्मुख है। मैं आशा करता हूँ कि मुद्रित प्रति मे ऐसे प्रमादों का निरसन हो गया होगा।

डॉ० सुषमा गांग के उज्ज्वल सारस्वत भविष्य की कामनाओ सहित मैं इस आशसा से यह कृति विद्वज्जगत् के अवलोकनार्थ प्रस्तुत करता हूँ कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे देदीप्यमान मणि के स्वरूप को समझने में यह महत्त्वपूर्ण सोपान सिद्ध हो।

जोधपुर
चैत्र कृष्णा त्रयोदशी
वि० स० २०३९

—दयानन्द भार्गव
आचार्य तथा अध्यक्ष
सस्कृत-विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-कार्य को प्रारम्भ करने की प्रेरणा मुझे डॉ० रसिक बिहारी जोशी, तत्कालीन प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, से मिली। इस शोध-प्रबन्ध मे मैंने कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

मुझे शोधकार्य के प्रारम्भिक काल मे विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग से प्राप्त शोधवृत्ति द्वारा सहायता प्राप्त हुई अत मैं आयोग के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ। राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर, सुमेर पब्लिक-लाइब्रेरी, जोधपुर, श्री जैन रत्नपुस्तकालय, जोधपुर, श्री जैन ज्ञानरत्न पुस्तकालय, जोधपुर, दिगम्बर जैन पचायती मन्दिर, जोधपुर, महाराजा-सयाजीराव-ओरिएण्टल रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, श्री राजेन्द्र ग्रन्थागार, आहोर, जैन-साहित्य-शोध-सस्थान, महावीर-भवन, जयपुर, आगरा-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय, आगरा तथा जोधपुर-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय, जोधपुर से सन्दर्भ ग्रन्थो की सुविधाएँ प्राप्त हुई, एतदर्थ इन पुस्तकालयो से सम्बद्ध अधिकारियो के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रस्तुत शोध-कार्य के सम्बन्ध मे मैंने कुन्दकुन्दाचार्य से सम्बन्धित शोध-कार्य मे प्रवृत्त विद्वानो से विचार विनिमय किया। स्वर्गीय डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डॉ० कस्तूर चन्द कासलीवाल, डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, डॉ० बी० जे० सान्देसरा, डॉ० यू० पी० शाह के प्रति मैं उनके द्वारा दिए गये महत्त्वपूर्ण सुझावो के लिए आभारी हूँ।

मैं श्री कल्याण भारती, अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय तथा विभाग के अन्य समस्त सहयोगियो द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहन तथा सहयोग के लिए आभार व्यक्त करती हूँ।

मैं अपने विद्वान् निर्देशक आदरणीय डॉ० रसिकविहारी जोशी, पी-एच० डी०, डी० लिट् (पेरिस), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होने मुझे अपनी जैन दर्शन मे गहन दृष्टि से लाभान्वित करके दुरूह विषयो को बोधगम्य करने मे सहायता प्रदान की। यह मेरे लिए गौरव का विषय है कि मुझे डॉ० जोशी जैसे सस्कृत-विद्वान् के पाण्डित्यपूर्ण निर्देशन मे अपना शोधकार्य पूरा करने का अवसर मिला। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे जो कुछ भी प्रशसनीय प्रतीत होगा उसका श्रेय डॉ० जोशी के कुशल निर्देशन को ही है। उनकी सतत वात्सल्यपूर्ण प्रेरणा के कारण ही प्रस्तुत शोध-कार्य सम्पन्न हो सका अत मैं उनके प्रति सविनय एव सादर कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

—सुषमा गांग

निवेदना

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों मे दार्शनिक दृष्टि से सम्बद्ध अध्ययन का प्रतिफल है। शोध-प्रबन्ध की विषयवस्तु अष्ट अध्यायो मे प्रस्तुत की गई है।

प्रथम अध्याय—'प्रस्तावना' मे कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन, काल तथा कृतियो पर प्रकाश डाला गया है। कुन्दकुन्दाचार्य का दार्शनिक चिन्तन तथा कृतियो का सृजन जिस वातावरण तथा पृष्ठभूमि में हुआ, उसके ज्ञान के लिए कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, कुन्दकुन्दाचार्य के काल का अध्ययन उनकी रचनाओ की प्राचीनता तथा जैन परम्परा मे उनका स्थान व महत्त्व निर्धारण करने के लिए प्रस्तुत किया गया है, कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो का सक्षिप्त परिचय उनकी दार्शनिक दृष्टि को समग्ररूपेण समझने के लिए दिया गया है।

द्वितीय अध्याय—मे पञ्चास्तिकाय मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि का निरूपण करते समय षड्-द्रव्यो में से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यो को बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय तथा कालद्रव्य को एकप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय से भिन्न द्रव्य निरूपित किया गया है। इस अध्याय मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि पञ्चास्तिकाय को केन्द्रबिन्दु मानकर प्रस्तुत की गई है। पञ्चास्तिकाय मे निबद्ध विषयवस्तु का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन निम्नलिखित वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है—

(क) अस्तिकाय का स्वरूप
(ख) सत्ता का स्वरूप
(ग) द्रव्य का स्वरूप
(घ) पञ्चास्तिकाय-निरूपण
(ङ) कालद्रव्य-निरूपण
(च) मोक्ष-मार्ग-निरूपण
(छ) अर्थ-पदार्थ-तत्त्वार्थ-निरूपण

तृतीय अध्याय—'प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि' मे प्रवचनसार रचना का तात्पर्य-निर्णय उपक्रमादिलिंगन्याय से करके, प्रवचनसार की रचना के उद्देश्य का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है। प्रवचनसार की विषयवस्तु मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि का अन्वेषण करते समय प्रमुख तीन बिन्दु सामने आते हैं—(अ) द्रव्य (ब) पर्याय तथा (स) चारित्र। इस अध्याय में कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि को प्रस्तुत करते समय इन्ही बिन्दुओ को प्रधानता प्रदान की गई है। प्रवचनसार पर उपलब्ध

विभिन्न टीकाओ के आधार पर तृतीय अध्याय की सम्पूर्ण विषय वस्तु को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है—

(क) उपक्रमादि लिंग न्याय से प्रवचनसार का तात्पर्य निर्णय
(ख) 'प्रवचनसार' संज्ञा का तात्पर्य
(ग) प्रवचनसार की रचना का उद्देश्य
(घ) प्रवचनसार मे पर्याय दृष्टि
(ङ) प्रवचनसार—चारित्र निरूपण प्रधान कृति
(च) निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय—मे समयसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि प्रस्तुत की गई है। इस अध्याय मे नय-दृष्टि तथा आत्मनिरूपण को अध्ययन का केन्द्रबिन्दु रखा गया है। जैन साहित्य मे समयसार का विशिष्ट स्थान है। अपने दार्शनिक महत्त्व के कारण ही कुन्दकुन्दाचार्य की यह कृति जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायो मे समान रूप से समादृत है। समयसार मे भेद-विज्ञान के माध्यम से निरूपित दार्शनिक दृष्टि कुन्दकुन्दाचार्य के समग्र दार्शनिक चिन्तन का मेरुदण्ड है। चतुर्थ अध्याय मे उक्त महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु निम्नलिखित वर्गों मे वर्गीकृत है—

(क) 'समयसार' शीर्षक का तात्पर्य
(ख) पदार्थ-निरूपण
(ग) समयसार की रचना का प्रयोजन
(घ) समयसार मे भेद विज्ञान-निरूपण
(ङ) समयसार मे कर्तृ-कर्म-निरूपण

पंचम अध्याय—'नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि' कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि से सम्बद्ध विभिन्न मौलिक तथ्यो को प्रस्तुत करता है। कुन्दकुन्दाचार्य कृत रचना नियमसार अभी तक शोधकर्ताओ द्वारा उपेक्षित रही है। इस रचना का दार्शनिक दृष्टि से कोई भी प्रामाणिक अध्ययन उपलब्ध नही है। इस कृति का अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमे मोक्ष प्राप्ति के मार्ग 'रत्नत्रय' की दार्शनिक दृष्टि से विवेचना की गई है। विषयवस्तु को निम्नलिखित वर्गों तथा उपवर्गों मे विभाजित किया गया है—

(क) 'नियमसार' शीर्षक का तात्पर्य
(ख) नियमसार रचना का प्रयोजन
(ग) नियमसार मे दार्शनिक दृष्टि वर्ण्य विषय के परिप्रेक्ष्य में
  (१) तत्त्वार्थ-निरूपण
  (२) नियम-निरूपण
  (३) रत्नत्रय के सन्दर्भ मे उपयोग समीक्षा
  (४) भेदविज्ञान-निरूपण
  (५) षडावश्यक-निरूपण

(६) केवली-स्वरूप-निरूपण

(७) निर्वाण-स्वरूप

(८) नियमसार मे रत्नत्रय के सन्दर्भ मे व्यवहारनय तथा निश्चयनय का समन्वय निश्चयोन्मुखी व्यवहारनय

(घ) नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित मौलिक दृष्टि

(ङ) निष्कर्ष

षष्ठ अध्याय—'कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे आत्म-निरूपण' मे आत्म-प्रतिपादन-पूर्वक यह प्रमाणित किया गया है कि आत्मनिरूपण ही कुन्दकुन्दाचार्य के सम्पूर्ण काव्य-सृजन का केन्द्रबिन्दु रहा। इस अध्याय मे आत्मा का विभिन्न दृष्टियो से वर्गीकरण, आत्मा के स्वरूप का विशद वर्णन, आत्मा और जीव शब्द मे एकार्थता व कथचित् भेद का निरूपण और विशुद्ध आत्मा की उपादेयता को कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियो के आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

सप्तम अध्याय—'दार्शनिक-सिद्धान्त' मे जैनागम तथा जैन परम्परा मे प्रचलित प्रमुख जैन-दार्शनिक सिद्धान्तो का वर्णन इस अपेक्षा से प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह स्पष्ट जाना जा सके कि समकालीन दार्शनिक सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि मे कुन्दकुन्दाचार्य का दार्शनिक चिन्तन किस प्रकार विकसित हुआ तथा उनकी दार्शनिक दृष्टि ने सम-कालीन दार्शनिक सिद्धान्तो को नये आयाम प्रदान करने मे क्या योगदान दिया। इस अध्याय की विषयवस्तु निम्नलिखित वर्गों मे वर्गीकृत की गई है—

(क) स्याद्वाद-निरूपण

(ख) कर्म-सिद्धान्त-निरूपण

(ग) कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे नय-निरूपण

उपसहार—मे 'कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियो मे दार्शनिक दृष्टि' नामक शोधप्रबन्ध के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

(क) कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म स्थान

(ख) कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन से सम्बद्ध परम्परागत कथाएं

(ग) कुन्दकुन्दाचार्य के परम्परागत नाम

(घ) कुन्दकुन्दाचार्य का समय

(ङ) कुन्दकुन्दाचार्य का कृतित्व

प्रस्तावना

कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर परम्परा के आचार्यों मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी महत्ता इसी प्रमाण द्वारा सिद्ध हो जाती है कि दिगम्बर जैन मगलाचरण मे उनका स्थान गौतम गणधर के तत्काल पश्चात् आता है।[1] दक्षिण भारत के चार दिगम्बर जैन सघो मे से तीन के लिए कुन्दकुन्दान्वय होना भी इसी तथ्य का प्रतिपादक है।[2] कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ मे से प्रमुख तीन पचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार आध्यात्मिक ग्रन्थो मे वही स्थान रखते हैं जो उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता वेदान्तियो के धर्म ग्रन्थो मे रखते है। कुन्दकुन्दाचार्य की ये रचनाएँ नाटकत्रय या प्राभृत-त्रय के नाम से भी जानी जाती है।

कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म-स्थान

(१) कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म-स्थान दक्षिण भारत के किसी प्रदेश मे अथवा कर्णाटक प्रदेश मे द्रष्टव्य है क्योकि कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर-श्वेताम्बर सघभेद के पश्चात् हुए—ऐसा सुनिश्चित है।[3] स्वय कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी रचनाओ मे यत्र-तत्र व्यवहार-नय से स्त्रीमुक्तिनिषेध तथा वस्त्रो को मोक्षप्राप्ति मे बाधक कहा है,[4] इस प्रकार उन्होने पश्चात्कालीन श्वेताम्बर शास्त्रीय मान्यताओ का खण्डन किया है। सघभेद के बीज यथासम्भव श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय मे पडे जो दुर्भिक्ष पडने से मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के साथ अपने सघ को लेकर दक्षिण भारत गए थे।[5] दुर्भिक्ष और भद्रबाहु का स्थानातरण दोनो घटनाएँ सत्य हैं क्योकि इस विषय पर सभी सम्प्रदाय एक मत हैं।

(२) कुन्दकुन्दाचार्य के नाम की वर्तनी कोण्डकुन्द है, इससे कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म स्थान दक्षिण भारत मे कोई द्रविड देश होगा ऐसा अनुमानित है क्योकि यह सत्य है कि वे मूलसघ के अतिप्रसिद्ध नायक कहे जाते है तथा द्रविड सघ से सम्बद्ध हैं।[6]

(३) इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार मे आचार्य पद्मनन्दि को कुण्डकुण्दपुर से सम्बद्ध कहा है[7] और यह स्थान सम्भवत कर्णाटक प्रान्त मे है। श्रवण-बेलगोला के कतिपय शिलालेखो मे उनका नाम कोण्डकुन्द लिखा है।[8]

(४) महात्मा एलाचार्य अपरनाम कुन्दकुन्दाचार्य दक्षिण देश के मलयप्रान्त मे हेमग्राम के निवासी थे और द्रविड सघ के अधिपति थे।[9] मद्रास प्रेजीडेन्सी के मलाया प्रदेश मे 'पोन्नूर गाँव' को ही प्राचीन काल मे हेमग्राम कहते थे और सम्भवत वही कुण्डकुण्दपुर है। इसी के पास नीलगिरि पर्वत पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई है।

(५) नाथूराम प्रेमी के अनुसार द्रविड देशस्थ कोण्डकुण्द नामक स्थान के रहने वाले थे और इस कारण कोण्डकुन्द नाम से प्रसिद्ध थे।

(६) नन्दिसघ बलात्कार गण की गुर्वावली के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य उस मघ के आचाय थे। 'श्री जिनचन्द्र के शिष्य तथा उमास्वामी के गुरु थे।'[10] कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा पाषाणनिर्मित सरस्वती को वाचाल करने का उल्लेख शुभचन्द्र (ई० सन् १५१६-५६) कृत पाण्डव पुराण म भी मिलता है।[11]

तात्या नमिनाथ पागल ने किसी 'ज्ञान प्रबोध'[12] नामक भाषाग्रन्थ के आधार पर लिखी गई कुन्दकुन्दाचार्य की एक कथा मे कुन्दकुन्दाचार्य को मालवप्रान्तान्तर्गत बारापुर के रहने वाले बतलाया है।[13] किन्तु उक्त कथा को छोडकर इस बात का अन्य कोई विश्वस्त प्रमाण नही है।

गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग चार मील पर एक कोनकोण्डल नाम का गाँव है जो अनन्तपुर जिले के गूटी तालुके मे स्थित है। शिलालेखो मे इसका प्राचीन नाम कोण्डकुन्द मिलता है।[14] इस प्रदेश के अधिवासी आज भी इसे कोण्डकुन्दि कहते है। कन्नड म कुण्ड अथवा कोण्ड शब्द का अर्थ पहाडी होता है किन्तु जब ये शब्द किसी स्थान के नाम के साथ सम्बद्ध होते है तो उनका अर्थ होता है—पहाडी पर या उसके निकट बसा हुआ स्थान। यह अर्थ प्रकृत स्थान के साथ पूरा मघटित होता है। वर्तमान म भी यह गाँव एक पहाडी के बिल्कुल निकट है ऐसी देसाई, पी० बी० की धारणा है। यहा से अनेक शिलालेख प्राप्त हुए है। आदिचिन्नकेशव मन्दिर के सामने पाषाणसिल पर एक त्रुटित शिलालेख म पक्ति ३-१० म इस स्थान का वर्णन प्रतीत होता है, इसमे पद्मनन्दि नामोल्लेख दो बार है तथा उसके साथ चारण शब्द भी है जो अपनी विशेषता रखता है क्योकि ११२८ ई० के श्रवणबेलगोला शिलालेख मे इससे कुन्दकुन्दाचार्य को सम्बद्ध माना जाता है। तत्पश्चात् कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है।[15] ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म स्थान यही कोण्डकुन्दि रहा होगा।

श्रवणबेलगोला की मल्लिषेण प्रशस्ति मे कोण्डकुन्दाचार्य का उल्लेख कुन्दकुन्द के रूप मे आया है,[16] जिससे ज्ञात होता है कि वे कोण्डकुन्द अथवा कुन्दकुन्द नामक स्थान से सम्बद्ध थे।

इन मतो मे से देसाई, पी० बी० का मत तर्कसगत है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण को अमान्य करने का कोई आधार दृष्टिगोचर नही होता। मैं उनके इस मत स पूर्णत सहमत हूँ कि कुन्दकुन्दाचार्य दक्षिण भारत मे स्थित 'कोण्डकुन्दे' नामक स्थान के निवासी थे।

कुन्दकुन्दाचार्य की जीवन-सम्बन्धी परम्परागत कथाएँ

नाथूराम प्रेमी द्वारा उद्धृत कथा[17]

तात्या नमिनाथ पागल द्वारा 'कुन्दकुन्दाचार्याचे चरित' ग्रन्थ मे 'ज्ञान प्रबोध' नामक ग्रन्थ स कुन्दकुन्दाचार्य की जीवन सम्बन्धी कथा दी गई है। नाथूराम प्रेमी उसी कथा को उद्धृत करते है—

मालवा देश के बारापुर नगर मे राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी

का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य मे कुन्दश्रेष्ठी नाम का वणिक् रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक पुत्र था। उसका नाम कुन्दकुन्द था। एक दिन अपने मित्रबालको के साथ खेलते हुए उसने उद्यान मे एक मुनिराज को बैठे हुए देखा। मुनिराज नर-नारियो को उपदेश दे रहे थे। बालक ने उनका उपदेश बडे ध्यान से सुना। बालक उससे इतना प्रभावित हुआ कि वह उनका शिष्य हो गया। उस समय उसकी अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी।

मुनिराज का नाम जिनचन्द्र था। उन्होने तैंतीस वर्ष की आयु मे उस कुन्दकुन्द नाम के बालक को आचार्य पद प्रदान किया। एक बार आचार्य कुन्दकुन्द को जैन तत्व-ज्ञान के सम्बन्ध मे कोई शका उत्पन्न हुई। एक दिन ध्यान करते समय उन्होने शुद्ध मन-वचन काय से सीमन्धर स्वामी को नमस्कार किया। उन्हे सुनाई दिया कि समवसरण मे विराजमान सीमन्धरस्वामी ने उन्हे आशीर्वाद दिया 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु'। समवसरण मे उपस्थित श्रोताओ को आश्चर्य हुआ कि इन्होने किसको आशीर्वाद दिया है क्योकि यहाँ उन्हे नमस्कार करने वाला तो कोई दिखाई नही देता। सीमन्धरस्वामी ने बतलाया कि उन्होन भरत क्षेत्र के कुन्दकुन्द मुनि को आशीर्वाद दिया है। दो चारण मुनि जो पूर्व जन्म म कुन्दकुन्द के मित्र थे, कुन्दकुन्द को सीमन्धरस्वामी के समवसरण मे ले गए। जब वे उन्हे आकाश मार्ग मे ले जा रहे थे तो कुन्दकुन्द की मयूर पिच्छिका गिर गई। तब कुन्दकुन्द ने गद्ध के पखो मे काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह रहे और उनकी शकाएँ दूर हो गई। लौटते समय वह अपने साथ एक पुस्तक लाए थे किन्तु वह समुद्र मे गिर गई। बहुत से तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भारतवर्ष लौट आए, उन्होने धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया और सात सौ स्त्री-पुरुषो ने उनसे दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरनार पर्वत पर उनका श्वेताम्बरो से विवाद हो गया। तब ब्राह्मी देवी न यह स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। अन्त मे अपने शिष्य उमास्वाति को आचार्य पद प्रदान करके वे स्वर्गवासी हुए।

डॉ० चक्रवर्ती द्वारा उद्धृत कथा[१८]

भरतखण्ड के दक्षिण देश मे 'पिडथनाडू' नामक प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमरई नामक ग्राम मे करमण्डु नाम का धनी वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ मथिवरन नामक ग्वाला उनके पशु चराया करता था। एक दिन पशुओ को वन मे चराते समय उसने आश्चर्य से देखा कि समस्त वन दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है किन्तु मध्यवर्ती कुछ वृक्ष हरे-भरे है। कारण जानने की उत्सुकता से, उस स्थान पर जाने पर उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी मे आगम ग्रन्थ रखे है। उन शास्त्रो के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है ऐसा समझकर वह उन्हे घर ले गया तथा वहाँ एक पवित्र स्थान पर शास्त्रो को रखकर नित्य उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनो पश्चात् एक मुनि उनके घर पधारे, मालिक सेठ ने साधु को भक्तिभाव से उपहार दिया, उसी समय ग्वाले ने आगम ग्रन्थ मुनि को प्रदान किए। आगमदान से

प्रसन्न हो मुनि ने उन दोनो को आशीर्वाद दिया। सेठ के कोई सन्तान नही थी और मुनि के आशीर्वाद के फलस्वरूप ग्वाल-बाल ने सेठ के घर मे पुत्र के रूप मे जन्म लिया। बडा होने पर वह कुन्दकुन्द नामक एक महान मुनि और तत्वज्ञानी हुआ। तत्पश्चात् नाथूराम प्रेमी द्वारा उद्धृत कथा के विदेह गमन की घटना के समान ही दो चारणो के साथ पूर्व विदेह जाने की कथा वर्णित है।

इसी कथा से मिलती हुई एक कथा ब्रह्म नेमिदत्त के आराधना कथा-कोष मे शास्त्रदान के फल के उदाहरण मे सगृहीत है[१९]—

'भरतक्षेत्र' म कुरुमरई गाँव मे गोविन्द नाम का एक ग्वाला रहता था। एक बार उसने जगल की गुफा मे पाए गए जैन शास्त्र को उठा लिया और पद्मनन्दि नामक मुनि को भेंट कर दिया। उस शास्त्र की यह विशेषता थी कि अनेक महान् आचार्यों ने उसे देखा उस पर व्याख्या लिखी, और फिर उस शास्त्र को गुफा मे रख दिया। ग्वाला गोविन्द निरन्तर उस शास्त्र की पूजा करता रहा। एक दिन उसे व्याल ने मार डाला। मृत्यु के उपरान्त वह ग्वाला निदानवश ग्रामपति के घर मे उत्पन्न हुआ। एक बार उसने पद्मनन्दि मुनि के दर्शन किए तो उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। उसने जिन-दीक्षा धारण कर ली, वही समाधिपूर्वकमरण करके राजा कौण्डेश हुआ। वहाँ भी समस्त सुखो का परित्याग करके उसने दीक्षा ले ली। उसने जिन देव की पूजा की थी और गुरुओ की सेवा की थी अत वह श्रुतकेवली हुआ।[२०]

आशाधर (वि० स० १३००) ने अपने सागारधर्मामृत मे शास्त्रदान का फल बताते हुए कौण्डेश का उदाहरण दिया है और अपनी टीका मे उसे पूर्वजन्म मे गोविन्द नामक ग्वाला बतलाया है[२१]—

'कौण्डेश पुस्तकार्चावितरणविधिनाप्यागमाम्भोधिपारम्'

रत्नकरण्डश्रावकाचार[२२] मे शास्त्रदान मे कौण्डेश का नाम दिया है और गा० ४।२८ की सस्कृत टीका मे उपर्युक्त कथा दी है।

कुन्दकुन्दाचार्य की जीवन-सम्बन्धी कथाओ का प्रामाण्याप्रामाण्य विवेचन

उपर्युक्त कथाओ मे कुछ तथ्यो के अतिरिक्त स्थान तथा माता-पिता के नामादि से सम्बद्ध सूचनाएँ मात्र कल्पना पर आधारित प्रतीत होती हैं। उक्त सभी कथाएँ कुन्दकुन्दाचार्य के समकालीन रचित प्रतीत नही होती अत उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। विक्रम सवत् ९८९ मे रचित हरिषेण के बृहत्कथाकोष मे कुन्दकुन्दाचार्य का किंचित् उल्लेख न होना उक्त कथाओ की प्रामाणिकता मे सन्देह उत्पन्न करता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन से सम्बद्ध कुछ घटनाओ का परम्परागत वर्णन कथाओ अथवा किंवदन्तियो के रूप मे उपलब्ध होता है। किन्तु अन्य आचार्यों के सन्दर्भ मे भी उन्ही घटनाओ का उल्लेख अन्यत्र उपलब्ध होता है अत इन घटनाओ की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए मात्र इन कथाओ और किंवदन्तियो को आधार स्वीकार नही किया जा सकता। इन्हे प्रामाणिक मानने से पूर्व इनकी जाँच अपेक्षित है।

कुन्दकुन्दाचार्य के विदेह गमन का उल्लेख सर्वप्रथम देवसेन कृत दर्शनसार में उपलब्ध होता है[२३] जिसके अनुसार पद्मनन्दि मुनि ने सीमन्धर स्वामी से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया।

जयसेन ने पचास्तिकाय की टीका के प्रारम्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य के विदेह जाकर सीमन्धर स्वामी की वाणी को श्रवण करने को 'प्रसिद्ध कथा' कहा है।[२४]

१२ वी शताब्दी के श्रवणबेलगोला शिलालेखो से ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य को पृथ्वी से चार अगुल ऊपर आकाश मे सैकडो योजन गमन करने की चारण ऋद्धि उपलब्ध थी।[२५]

पचास्तिकाय की टीका की उत्थानिका मे ब्रह्मदेव ने भी प्रसिद्ध कथा का उल्लेख किया है।[२६]

विदेह गमन के उल्लेख कुन्दकुन्दाचार्य के अतिरिक्त पूज्यपाद (ईसा की पाँचवी शताब्दी) और उमास्वामि (दूसरी शताब्दी)[२७] के विषय मे भी मिलते हैं। उमास्वामि के विषय मे प्रसिद्ध है कि वे आकाश गमन सिद्धि के बल पर अपनी शकासमाधान करने हेतु विदेह क्षेत्र गए थे। मार्ग मे उनकी मयूरपिच्छ गिर गई अत उन्होने गृद्धपिच्छ ग्रहण की और अपना प्रयोजन सिद्ध किया, इसलिए उमास्वामि गृध्रपिच्छाचार्य कहलाए।[२८]

देवचन्द्र (१७७०-१८४१ ई०) की कन्नडी भाषा मे रचित 'राजावली' नामक ग्रन्थ मे इसी प्रकार की कथा पूज्यपाद या देवनन्दि के विषय मे भी लिखी है कि पूज्यपाद अपनी शकाओ का निरसन करने हेतु सीमन्धर जिनेश्वर के समवसरण मे गए थे और इसी कारण लोग उन्हे 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहने लगे।

७ जुलाई, १४३२ ईसवी के श्रवणबेलगोला शिलालेख मे उक्त परम्परा का उल्लेख मिलता है कि विदेह क्षेत्र मे जिनगमन से पूज्यपाद की देह पवित्र हो गई।

ऐसी स्थिति मे यह निर्णय करना कठिन है कि विदेह गमन सम्बन्धी घटना कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामि तथा पूज्यपाद मे से किस आचार्य के विषय मे सही है।

कुन्दकुन्दाचार्य के विषय मे प्रवचनसार की तृतीय गाथा[२९] को ही कुन्दकुन्दाचार्य की विदेहगमन विषयक परम्परा का कारण माना जा सकता है जिसमे उन्होंने मनुष्य क्षेत्र के समस्त अरिहन्तो को प्रणाम किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य का नाम गृध्रपिच्छ था ऐसा समझकर गृध्रपिच्छ या उमास्वामि से सम्बद्ध विदेहगमन घटना को कुन्दकुन्दाचार्य के साथ जोड दिया गया प्रतीत होता है।

'कुन्दकुन्दाचार्य के गिरनार पर्वत पर श्वेताम्बराचार्यों के साथ हुए वाद के समय कुन्दकुन्दाचार्य ने पाषाण-निर्मित सरस्वती की प्रतिमा को मुखरित कर दिया था'[३०] इस किंवदन्ती से यह प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व श्वेताम्बरो तथा दिगम्बरो का सम्प्रदाय रूप से विभाजन हो चुका था।

कुन्दकुन्दाचार्य के परम्परागत नाम

ऐसी मान्यता है कि कुन्दकुन्दाचार्य का मूल नाम द्रविड उच्चारण के आधार पर कोण्डकुण्दे रहा होगा जिसका कालान्तर मे संस्कृत रूपान्तरण कुन्दकुन्द हो गया होगा।[३१]

बारहवी शताब्दी (ए० डी०) के शिलालेखो से यह भी प्रमाण मिलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य का मूल नाम पद्मनन्दि था परन्तु बाद मे वे कोण्डकुन्द अथवा कुन्दकुन्द नाम से जाने गये।[32]

विजयनगर के १३८६ ए० डी० के एक शिलालेख मे, जो नन्दि सघ से सम्बन्धित है, इस बात का उल्लेख मिलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य के पाँच नाम प्रचलित थे जो इस प्रकार हैं—(१) पद्मनन्दि, (२) कुन्दकुन्द, (३) वक्रग्रीव, (४) एलाचार्य, (५) गृध्रपिच्छ। कुन्दकुन्दाचार्य के पाँच नामो का उल्लेख १५वी शताब्दी के पश्चात् से मिलता है। वे स्रोत जहाँ इन नामो का उल्लेख किया गया है, निम्नलिखित हैं—

१ नन्दि सघ की पट्टावली जिसका समय अनिश्चित है।[33]
२ हॉर्नले द्वारा दिगम्बर पट्टावलियो के तुलनात्मक अध्ययन की पाण्डुलिपि[34]
३ श्रुतसागर की षट्पाहुड की टीका का प्रशस्तिपद[35]
४ पचास्तिकाय की उत्थानिका मे जयसेन पद्मनन्दि को कुन्दकुन्द का अपरनाम कहते है।[36]

समयसार की अन्तिम गाथाओ की टीका करते हुए भी जयसेन का तात्पर्य पद्मनन्दि को कुन्दकुन्दाचार्य कहना है।

कुन्दकुन्दाचार्य स्वय एव उनके ग्रन्थो के आद्यटीकाकार अमृतचन्द्र इस विषय मे मौन हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच नामो की परम्परा का उल्लेख लगभग १४वी शताब्दी के पश्चात् से ही मिलता है तथा इससे पूर्व के शिलालेखो मे केवल दो नामो का उल्लेख मिलता है जो पाँच नामो की परम्परा के विरुद्ध है।

परम्परागत इन पाँच नामो की जाँच करना इसलिए भी आवश्यक प्रतीत होता है कि इस बात की भी सम्भावना है कि इनमे से कुछ नाम कुन्दकुन्दाचार्य के स्थान पर किन्ही अन्य व्यक्तियो से सम्बद्ध रहे हो।

वक्रग्रीव

वक्रग्रीव नाम का उल्लेख सर्वप्रथम ११२५ ए० डी० के शिलालेख मे पाया जाता है, जिसमे वक्रग्रीव द्रविड सघ तथा अरुगलान्वय की आचार्य परम्परा से सम्बन्धित बतलाये गए हैं।[37]

इसके पश्चात् वक्रग्रीव का उल्लेख श्रवणबेलगोला के ११२९ ए० डी० के शिलालेख मे मिलता है। इस शिलालेख के पाँचवे पद मे कुन्दकुन्दाचार्य के गुणो का उल्लेख है, छठे से नवें पद तक समन्तभद्र व सिंहनन्दी के यश का वर्णन है। इसके पश्चात् दशम पद मे वक्रग्रीव को एक प्रकाण्ड विद्वान् तथा तर्कशास्त्री के रूप मे आदर का पात्र बताया गया है। शिलालेख मे वर्णित क्रम के आधार पर ज्ञात होता है कि सम्भवत कुन्दकुन्द और वक्रग्रीव भिन्न व्यक्ति रहे हो। ११३७ ए० डी०, ११५८ ए० डी० तथा ११६८ ए० डी० के शिलालेखो मे भी वक्रग्रीवाचार्य का उल्लेख मिलता है लेकिन किसी स्थान पर भी उनको तथा कुन्दकुन्द को एक ही व्यक्ति नही बताया गया है।

इन सभी शिलालेखों मे जहाँ पर सघ, गण तथा अन्वय का उल्लेख मिलता है,

यह पाया जाता है कि वक्रग्रीव द्रविड संघ, नन्दीगण तथा अरुगलान्वय से सम्बन्धित थे, अत वक्रग्रीव कुन्दकुन्द से पूर्णत भिन्न अन्य आचार्य थे।

एलाचार्य

अज्ञात समय के, चिक्कहनसोगे के एक शिलालेख मे देशीगण तथा पुस्तकगच्छ के एलाचार्य नामक एक आचार्य का उल्लेख मिलता है लेकिन ऐसा कोई सकेत नही मिलता कि ये कुन्दकुन्दाचार्य थे अथवा नही। वीरसेन कृत धवला टीका की प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि एलाचार्य से वीरसेन ने सिद्धान्त की शिक्षा प्राप्त की तथा जयधवला टीका मे इस बात का उल्लेख है कि एलाचार्य ने सिद्धान्त के उस खण्ड पर स्वय अपनी व्याख्या भी प्रस्तुत की।

वीरसेन के गुरु एलाचार्य का काल ईसा की ८वी शताब्दी के अन्त के लगभग रहा होगा। इन्द्रनन्दि भी इन्ही एलाचार्य के विषय मे अपने श्रुतावतार मे यह उल्लेख करते हैं कि चित्रकूटपुरवासी एलाचार्य सिद्धान्त मे निपुण थे और उनसे वीरसेन ने सिद्धात का अध्ययन किया और चित्रकूट से वाटग्राम आकर धवला नामक टीका लिखी। इन्द्रनन्दि ने उपर्युक्त वर्णन के पूर्ववर्ती पदो मे (१६०-६१) कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि का भी उल्लेख किया है कि उन्होने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर 'परिकर्म' नामक बृहत् टीका लिखी है। कुन्दकुन्दपुर के यही पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य जान पडते हैं।

उपर्युक्त उल्लेखो से इन्द्रनन्दि द्वारा वर्णित एलाचार्य एव वीरसेन के गुरु एलाचार्य दोनो एक ही व्यक्ति जान पडते है। इन्द्रनन्दि एलाचार्य और पद्मनन्दि का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के रूप मे करते है अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वीरसेन द्वारा वर्णित एलाचार्य एव इन्द्रनन्दि द्वारा वर्णित पद्मनन्दि अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य निश्चित रूप से भिन्न-भिन्न व्यक्ति रहे होगे।

इसके अतिरिक्त दक्षिण मे हेमग्राम निवासी द्रविड गण के एक हेलाचार्य का भी उल्लेख मिलता है जो तान्त्रिक विद्या मे निष्णात थे। इन्द्रनन्दि योगीन्द्र ने हेलाचाय का उल्लेख 'ज्वालिनी मत' (तान्त्रिक रचना ९३९ ए० डी०) मे जिस प्रकार से किया है उससे यह प्रतीत होता है कि हेलाचार्य बहुत समय पूर्व हुए। यद्यपि इस बात का प्रमाण नही मिलता कि ये हेलाचाय वीरसेन के गुरु थे अथवा नही।

एलाचार्य कुन्दकुन्द का ही नाम था यह धारणा तब तक अप्रामाणिक रहेगी जब तक इसके सम्बन्ध मे अन्य प्रमाण या स्वतन्त्र परम्परा उपलब्ध न हो जाये।

कुन्दकुन्द के पाँच नाम होने की वैधता 'वक्रग्रीव' कुन्दकुन्द का नाम न होने से अप्रामाणिक हो चुकी है।

गृध्रपिच्छ

१११५ ए० डी० से १३९८ ए० डी० तक के श्रवणबेलगोला के शिलालेखो से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वामि का ही दूसरा नाम गृध्रपिच्छ था। इन शिलालेखो मे से कुछ मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि गृध्रपिच्छ उमास्वामि

का ही लोकप्रिय नाम था। शिलालेखो मे कही-कही उमास्वामि के लिए मात्र गृध्रपिच्छ भी कहा गया है एव अन्यत्र कुन्दकुन्द के उल्लेख के तुरन्त पश्चात् ही उमास्वामि का उल्लेख अपर नाम गृध्रपिच्छ सहित मिलता है। यदि गृध्रपिच्छ नाम कुन्दकुन्द एवं उमास्वामि दोनो के लिए प्रयोग मे लाया गया होता तो सामान्यत इस बात की आशा की जाती है कि ऐसा उल्लेख शिलालेखो मे मिलता।

श्रवणबेलगोला के १४३३ ए० डी० के शिलालेखो मे उल्लेख मिलता है कि उमा स्वामि कुन्दकुन्द के पवित्र बश से सम्बद्ध थे और उन्होने जैन धर्म के सिद्धानो को सक्षिप्त सूत्रो मे प्रस्तुत किया। उमास्वामि का गृध्रपिच्छ नाम जीवरक्षार्थ गिद्ध पक्षी के पखो का उपयोग करने के कारण प्रयोग म लाया जाता रहा होगा। यह बात असामान्य भी प्रतीत नही होती क्योकि इस प्रकार के अन्य नाम बलाकपिच्छ और मयूरपिच्छ जैन लेखको के लिए प्रयोग मे लाये जाते रहे थे। बलाकपिच्छ उमास्वामि के शिष्य थे। इस बात मे कोई सन्देह नही है कि गृध्रपिच्छ उमास्वामि का नाम था। गृध्रपिच्छ कुन्दकुन्द का ही नाम था, यह मत अपर्याप्त अथवा अप्रामाणिक जानकारी के आधार पर ही बना होगा। यह मत चौदहवी शताब्दी ए० डी० के अन्तिम चतुर्थांश के लगभग प्रचलन मे आया प्रतीत होता है। इसके कारण यह भ्रम भी उत्पन्न हो गया कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृध्रपिच्छाचार्य एव कुन्दकुन्दाचार्य एक ही व्यक्ति थे, तत्त्वार्थसूत्र के एक टीकाकार राजेन्द्रमौलि द्वारा इसी प्रकार का वणन किया गया है। यह निश्चित रूप से तथ्यो का भ्रामक प्रस्तुतीकरण है एव पूर्व-उपलब्ध प्रमाणा के विपरीत है।

कुन्दकुन्दाचार्य के नामो के विषय मे निष्कर्ष

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य का मूल नाम पद्मनन्दि था। कोण्डकुन्दपुर के वासी होने के कारण द्रविड परम्परावश वे कोण्डकुन्दाचार्य कहलाने लगे और बाद म इस नाम का सस्कृत रूपान्तरण कुन्दकुन्दाचार्य हो गया। इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार नामक ग्रथ (गाथा १६० आदि) म इस बात का उल्लेख किया है।

एलाचार्य नाम अभी तक विवादास्पद है। जहाँ तक शेष दो नामो का प्रश्न है पूर्ववर्ती शिलालेखो से प्राप्त जानकारी से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नही हो पाती। ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य के विषय मे प्रामाणिक जानकारी के अभाववश ही इन नामो का प्रचलन हुआ।

कुन्दकुन्दाचार्य का समय

कुन्दकुन्दाचार्य के समय के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न धारणाएँ प्रचलित है। कुन्दकुन्दाचार्य का समय निर्धारित करने से पूर्व उन पर विचार करना आवश्यक है।

(१) परम्परा के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य का समय

जैन धर्मावलम्बियो मे प्रचलित परम्परा के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य ईसा से ८

शताब्दी पूर्व ३३ वर्ष की आयु मे आचार्य पद पर आसीन हुए और लगभग ५२ वर्ष तक उस पद पर आसीन रहने के पश्चात् ८५ वर्ष की आयु मे स्वर्गवासी हुए। हॉर्नले के अनुसार श्री कुन्दकुन्द ६२ ईसवी मे आचार्य पद पर आसीन हुए।

एक अन्य परम्परा के अनुसार, जिसका उल्लेख विद्वज्जन बोधक नामक कविता (रचयिता का नाम ज्ञात नही है) मे मिलता है, कुन्दकुन्द का समय २४३ ईसवी था।[३८] इस कृति मे इस भाग का भी अस्पष्ट सकेत मिलता है कि कुन्दकुन्द उमास्वामि के समवर्ती थे। इनमे से प्रथम परम्परा ही अधिक प्रचलित है।

(२) नाथूराम प्रेमी द्वारा प्रस्तावित समय[३९]

प० प्रेमी के अनुसार कुन्दकुन्द का समय ईसा की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के लगभग रहा होगा। निश्चय ही उनका समय ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य से पहले का नही था। प० प्रेमी ने इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर इसका वर्णन किया है।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ३ केवली ६२ वर्षों तक रहे, ५ श्रुत केवली १०० वर्षों तक रहे, ११ दशपूर्वी १८३ वर्षों तक रहे, ५ एकादश अगी २२० वर्षों तक रहे व ४ एक अगी ११८ वर्षों तक रहे। इस प्रकार ईसा से ५२७ वर्ष पूव महावीर के निर्वाण के पश्चात अग ज्ञान ६८३ वर्षों तक रहा। उनके पश्चात् ४ आरातीय सत हुए जिन्ह अगो एव पूर्वों का आशिक ज्ञान था। उनके पश्चात् अर्हद्बली, माघनन्दी तथा धरसेन हुए। धरसेन को अग्रायणीय पूर्व के एक भाग महाकर्म प्राभृत का ज्ञान था। अपना अन्त समय निकट जानकर उन्होने वणकतटीपुर से दो मेधावी साधुओ पुष्पदत और भूतबलि को बुलाकर उन्ह अपना ज्ञान प्रदान किया। पुष्पदत एव भूतबलि ने कर्मप्राभृत का सार अपनी कृति षट्खण्डागम के रूप म प्रस्तुत किया।

एक अन्य कथा के अनुसार गुणधर नामक सन्त न कषाय प्राभृत के मूल सूत्रो एव विवरण गाथाओ की व्याख्या नागहस्ती एव आयमक्षु से की। यति वृषभ ने उनसे ज्ञान प्राप्त कर चूर्णी सूत्रो (जिनम ६००० से अधिक गाथाएँ है) की रचना की। उच्चारणाचार्य ने यतिवृषभ से उनका अध्ययन करके वृत्ति की रचना की। यह ज्ञान जिसमे कर्म-प्राभृत एव कषाय-प्राभृत समाविष्ट थे, कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने प्राप्त किया और उन्होने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर १२,००० श्लोको की टीका लिखी। इससे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द महावीर स कम से कम ६३३ वष पश्चात् हुए। प्रेमी, नाथूराम धरसेन से उच्चारणाचार्य तक का समय अनुमान से आकलित कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुन्दकुन्द विक्रम की तीसरी शताब्दी के चतुर्थांश मे हुए (२१८ ए० डी० से २४३ ए० डी० के बीच)।

डॉ० के० बी० पाठक द्वारा प्रस्तुत मत[४०]

डॉ० पाठक कुन्दकुन्दाचार्य को वि० स० ५८५ (५२८ ए० डी०) के लगभग हुआ मानते हैं। अपने मत की पुष्टि हेतु वे दो ताम्रपत्रो के उल्लेख को प्रस्तुत करते हैं।

राष्ट्रकूटवशी राजा तृतीयगोविन्द के राज्यकाल शक सम्वत् ७२४ (८०२

ए० डी०) मे लिखे गए एक ताम्रपत्र तथा उक्त तृतीयगोविन्द महाराज के समय का शक स० ७१६ (७९७ ए० डी०) का एक अन्य ताम्रपत्र मिला है जिनके पद्यबद्ध लेखो का अभिप्राय है कि कोण्डकोन्दान्वय के तोरणाचार्य नाम के मुनि इस देश मे शाल्मली नामक ग्राम मे आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनन्दि हुए और पुष्पनन्दि के शिष्य प्रभाचन्द्र हुए।

डॉ० पाठक के मतानुसार द्वितीय ताम्रपत्र जब शक सम्वत् ७१६ का है तो प्रभाचन्द्र के दादागुरु तोरणाचार्य शक स० ६०० के लगभग रहे होगे और तोरणाचार्य कुन्दकुन्दान्वय मे हुए है। अतएव कुन्दकुन्द का समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक स० ४५० के लगभग (५२८ ए० डी०) मानने मे कोई हानि नही है।

चालुक्यवशी कीर्ति महाराज ने बादामी नगर म शक सम्वत् ५०० म प्राचीन कदम्ब वश का नाश किया था और इसलिए इससे लगभग ५० वर्ष पूर्व कदम्बवशी महाराज शिवमृगेशवर्मा राज्य करते थ ऐसा निश्चित होता है। पचास्तिकाय के कन्नडी टीकाकार बालचन्द्र और सस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने लिखा है कि यह ग्रथ आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोधनाथ रचा था और ये शिवकुमार शिवमृगेशवर्मा ही जान पडते है। अतएव कुन्दकुन्द का समय शक सम्वत् ४५० (वि० स० ५८५) अर्थात् ५२८ ए० डी० सिद्ध होता है।

डॉ० ए० चक्रवर्ती का मत[41]

डा० ए० चक्रवर्ती ने हॉर्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसघ की पट्टावलियो के आधार पर पचास्तिकाय की प्रस्तावना मे कुन्दकुन्दाचार्य को प्रथम शताब्दी का विद्वान् माना है एव यह सूचित किया है कि कुन्दकुन्द वि० स० ४९ म आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था मे उन्हे आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० माह तक वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी सम्पूर्ण आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन थी।

अपने मत का समर्थन करने हेतु डा० चक्रवर्ती ने इस बात पर बल दिया है कि कुन्दकुन्द द्रविड सघ के थे। वे मन्त्रलक्षण नामक ग्रन्थ से निम्न श्लोक उद्धृत करते है—

दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
एलाचार्यो नामा द्रविल गणाधीशो धीमान्॥

डॉ० चक्रवर्ती के कथनानुसार उक्त श्लोक म वर्णित प्रदेश द्रविड देश मे खोजे जा सकते है। कुन्दकुन्द द्रविड देश के वासी थे तथा उनका नाम एलाचार्य था। जैन परम्परा के अनुसार एलाचार्य प्रसिद्ध तमिल ग्रथ कुरल क रचयिता थे। तत्पश्चात् एलाचार्य ने कुरल को अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को द दिया उसने उस ग्रन्थ को मदुरासघ को भेट कर दिया। एलाचार्य का दूसरा नाम एलालसिघ था। एलालसिघ तिरुवल्लुवर का साहित्यिक सरक्षक माना जाता है। कुरल का जैन गुरु एलाचार्य के द्वारा रचित होना अन्य तथ्यो से भी समुचित प्रतीत होता है यथा—कुरल का नैतिक स्वर, सर्वोत्तम धर्म के रूप मे कृषि की वल्लुव लोगो से प्रशसा। (वल्लुव लोगो ने द्रविड देश मे जैन धर्म के प्राथमिक अनुगामी बनाए)।

कुरल के कर्ता के साथ एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्द की एकरूपता कुरल को ईसा की प्रथम शताब्दी मे ला रखती है। किन्तु वह सवथा असम्भव नही है। कुरल शिलप्प-दिकारम् और मणिमेखला से प्राचीन है। 'शिलप्पदिकारम्' की रचना वशो के चेरवशी राजा सेंगुत्तुवन् सेष के छोटे भाई ने की थी और मणिमेखला की रचना उसी के सम-कालीन मित्रकुल बनिकन् सत्तनर ने की थी। देवी मदिर (शिलप्पदिकारम्) की प्रतिष्ठा के समय श्रीलका का गजबाहु उपस्थित था। अत कुरल उससे प्राचीन है। इसलिए इससे भी कुन्दकुन्द के पट्टावली प्रतिपादित समय का ही समर्थन होता है।

डॉ० चक्रवर्ती ने डॉ० पाठक के मत का निराकरण किया है। डॉ० पाठक ने प्राचीन कदम्ब नरेश श्री विजय शिवमृगेश महाराज को पचास्तिकाय मे निर्दिष्ट शिव-कुमार महाराज बतलाया है, क्योकि उसके समय मे जैन धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर रूप मे विभाजित हो गया था और कुन्दकुन्द ने स्त्रीमुक्ति का निषेध करके श्वेताम्बर मान्यता पर प्रहार किया है (और कदाचित् जनसामान्य, उपासना की वैष्णव सम्प्रदाय की वेदान्तपद्धति का पालन करता था)।

डॉ० चक्रवर्ती इस बात मे सहमत हैं कि कुन्दकुन्द दिगम्बरश्वेताम्बर भेद के पश्चात् हुए हे किन्तु उन्होने प्राचीन कदम्बनरेश शिवमृगेश महाराज को शिवकुमार मानने से इन्कार किया है, क्योकि कुन्दकुन्द के समय से कदम्बराजवश का समय बहुत बाद का है। डॉ० चक्रवर्ती न पल्लववश के शिवस्कन्द का शिवकुमार महाराज बतलाया है, क्योकि स्कद और कुमार शब्द एकार्थक है तथा उसे युवामहाराज भी कहते हैं जो कुमार महाराज का ही समानाथक है। पल्लवनरेश थोण्डमण्डलम् पर राज्य करते थे। उनकी राजधानी काजीपुरम् थी। काजीपुरम् के राजा शिक्षा-प्रेमी थे तथा थोण्डमण्डलम् विद्वानो की भूमि थी। अनेक महान् द्रविड विद्वान्, जैस कुरल के कर्ता आदि थोण्ड-मण्डलम् के निवासी थे। ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी मे काजीपुरम् की बडी ख्याति भी थी। उसके आस-पास जैन धर्म का फैलाव था। अत यदि ईसा की प्रथम शताब्दी मे काजीपुरम् के पल्लव नरेश जैनधर्म के सरक्षक रहे हो अथवा स्वय जैनधर्म के पालक रहे हो तो यह असम्भव नही है कि पल्लववश के शिवस्कन्द ही शिवकुमार महाराज रहे हो। इसके अतिरिक्त मयिदावोल दानपत्र की भाषा प्राकृत है और वह दान काजीपुरम् के शिवस्कन्दवर्मा ने दिया था। इस दानपत्र का आरम्भ 'सिद्धाण' मे होता है तथा मथुरा के शिलालेखो से इसकी गहरी समानता है। ये कथन दाता नरेश के जैन धर्म की ओर झुकाव के सूचक हैं। अन्य शिलालेखो से भी स्पष्ट है कि पल्लव नरेशो के राज्य की भाषा प्राकृत थी और कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ प्राकृत मे ही रचे थे। अत डॉ० चक्रवर्ती के निष्कर्षानुसार कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महाराज के लिए प्राभृत रचे थे वह पल्लव नरेश शिवस्कन्द थे यह बहुत कुछ सभाव्य है।

जुगलकिशोर मुख्तार प्रतिपादित मत[४२]

कुन्दकुन्दाचार्य के काल का निरूपण करते समय सर्वप्रथम जुगलकिशोर मुख्तार ने विद्वज्जनबोधक मे उद्धृत श्लोक की चर्चा की है जिसके अनुसार वीरनिर्वाण से ७७०

वर्ष बाद उमास्वामि तथा कुन्दकुन्द हुए। अनेकानेक विप्रतिपत्तियाँ दिखाते हुए नन्दिसघ की पट्टावली मे दिये काल वि० स० ४६-१०१ को भी उन्होने पट्टावली की हालत देख कर सहसा विश्वसनीय नहीं माना है। अत इन आधारो को उन्होने प्रकृत विषय के निर्णयार्थ उपयोगी नही स्वीकार किया है।

श्री मुख्तार ने कुन्दकुन्दाचार्य के समयानुसधान मे इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार को आधार बनाया है तथा इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य वीर निर्वाण सवत् ६८३ से पूर्व नहीं हुए (प्रेमी ने भी ऐसा ही माना है) पश्चात् ही हुए हैं।

वी० नि० स० ६८३ से कितने पश्चात् हुए यह स्पष्ट करने हेतु वे लिखते हैं कि—यदि अन्तिम आचारागधारी लोहाचार्य के बाद होने वाले चार आरातीय मुनियो का एकत्र समय २० वर्ष का और अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदत्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्द के गुरु का स्थूल समय १०-१० वर्ष का ही मान लिया जाये तो यह सहज मे ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समय से ८० वर्ष अथवा वीरनिर्वाण से ७६३ (६८३ + २० + ६०) वर्ष बाद हुए है, और यह समय उस समय के करीब ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जन बोधक मे उद्धृत पद्य मे दिया है और इसलिए इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

तत्पश्चात् नन्दिसघ की पट्टावली का उल्लेख करते हुए उसमे वीर-निर्वाण से भूतबलि पर्यन्त ६८३ वर्ष की गणना की है। यदि इसे ठीक मान लिया जाये और यह स्वीकार कर लिया जाये कि भूतबलि का अस्तित्व वीरनिर्वाण सम्वत् ६८३ तक रहा है तो भूतबलि के बाद कुन्दकुन्द के प्रादुर्भाव के लिए कम से कम २०-३० वर्ष की कल्पना और करनी होगी क्योकि कुन्दकुन्द को दोनो सिद्धातो का ज्ञान गुरुपरिपाटी के द्वारा प्राप्त हुआ था। इस प्रकार कुन्दकुन्द के समय का प्रारम्भ वीरनिर्वाण से ७०३ या ७१३ के करीब हो जाता है। किन्तु यदि यही मान लिया जाये कि वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के अनन्तर ही कुन्दकुन्द हुए हैं तो यह कहना अनुचित न होगा कि ये विक्रम सम्वत् २१३ के बाद हुए हैं, उससे पहले नही। यही प० नाथूराम जी प्रेमी आदि अधिकाश जैन विद्वानो का मत है। श्री मुख्तार ने इसमे इतना और जोड दिया कि वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम का देहजन्म मानते हुए, उसका विक्रम सवत् यदि राज्य सम्वत् है तो उससे १९५ वर्ष बाद और यदि मृत्यु सवत् है तो उससे १३३ वर्ष बाद कुन्दकुन्दाचार्य हुए हैं।

डॉ० पाठक के मत की समीक्षा करते हुए श्री मुख्तार ने पचास्तिकाय के शिव कुमार महाराज विषयक उल्लेख को बहुत कुछ आधुनिक बतलाया है क्योकि मूलग्रन्थ मे उसका कोई उल्लेख नही है और न अमृतचन्द्राचार्य की टीका से उसका समर्थन होता है। फिर भी शिवमृगेशवर्मा के साथ शिवकुमार महाराज के समीकरण की अपेक्षा उन्होने पल्लव नरेश शिवस्कन्दवर्मन् के साथ उनके समीकरण को अच्छा बताया है किन्तु कुन्द-कुन्द का एलाचार्य नाम था इस बात को अमान्य किया है, तथा पट्टावली के आधार पर डॉ० चक्रवर्ती द्वारा निर्धारित किये गए समय ईसा की प्रथम शताब्दी मे भी अनेक अनुप-पत्तियाँ प्रदर्शित की हैं और अन्त मे कुन्दकुन्दाचार्य कृत बोधपाहुड की ६१वी गाथा के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य को द्वितीय भद्रबाहु का शिष्य स्वीकार किया है, किन्तु

पट्टावली मे जो द्वितीय भद्रबाहु का समय विक्रम संवत् ४ दिया है उसे युक्ति-युक्त नहीं माना।

उपाध्ये, ए० एन० का मत[४३]

कुन्दकुंदाचार्य का समय निर्धारण करते समय उपाध्ये ने विभिन्न विद्वानो के मतो मे से निम्नलिखित प्रमुख बिंदुओ पर विचार किया—

१ श्वेताम्बर दिगम्बर संघभेद हो जाने के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य हुए।

२ कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु के शिष्य हैं।

३ इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार दोनो सिद्धांतग्रंथो का ज्ञान गुरु परम्परा से कुन्दकुन्दपुर मे पद्मनन्दि को प्राप्त हुआ और उन्होने षट्खण्डागम के आद्य तीन खण्डो पर टीका ग्रंथ लिखा।

४ जयसेन और बालचन्द्र की टीकाओ के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य शिवकुमार महाराज के समकालीन थे।

५ कुन्दकुन्दाचार्य तमिल ग्रंथ 'कुरल' के रचयिता हैं।

उपर्युक्त बिंदुओ पर विचार करने के उपरांत उपाध्ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शती का प्रारम्भ रहा होगा।[४४]

कुन्दकुन्दाचार्य का समय निर्धारण

कुन्दकुन्दाचार्य के समय निर्धारण से सम्बद्ध विभिन्न विद्वानो के मतो पर विचार करने के पश्चात् मेरा यह मत है कि कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी रहा होगा। इस दृष्टिकोण का समर्थन निम्नलिखित प्रमाणो द्वारा होता है—

१ जैन परम्परा मे प्रचलित गुर्वावलियो के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य आचार्य पद पर ८ वर्ष ईसा पूर्व प्रतिष्ठित हुए, उस समय उनकी आयु ३३ वर्ष थी। वे आचार्य पद पर लगभग ५२ वर्ष रहे तथा लगभग ८५ वर्ष की आयु मे उनका देहावसान हुआ।[४५]

२ हॉर्नले ने पट्टावली 'ई' के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य के पट्टारोहण का वर्ष १४६ विक्रम संवत् अर्थात् ६२ ईसवी निर्धारित किया है।[४६]

३ प्रो० चक्रवर्ती पट्टावलियो के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म लगभग ५२ वर्ष ई० पू० मानते हैं। डॉ० पाठक के मत का खण्डन करते हुए प्रो० चक्रवर्ती ने शिवकुमार महाराज को दक्षिण भारत के पल्लववंशीय शिवस्कन्द वर्मन्[४७] (ई० सन् प्रथम शती) से अभिन्न प्रमाणित किया है। शिवस्कन्द का अर्थ उन्होने शिवकुमार से लिया है। शिवस्कन्द का उल्लेख युवामहाराज के रूप मे भी मिलता है जिसका अर्थ भी कुमार महाराज लिया जा सकता है। यदि जयसेनाचार्य द्वारा उल्लिखित शिवकुमार का अभिप्राय इन्ही शिवस्कन्दवर्मन् से है तो इस आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी निर्धारित होता है।

प्रो० चक्रवर्ती ने प्रसिद्ध तमिल ग्रंथ कुरल का रचयिता एलाचार्य को स्वीकार

किया है। कुन्दकुन्दाचार्य के परम्परागत नामो मे से एक नाम एलाचार्य भी मिलता है। प्रो० चक्रवर्ती ने इसी आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य को कुरल का कर्ता प्रमाणित किया है। इस दृष्टि से भी कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी अनुमानित किया गया है।

४ प० जुगलकिशोर मुख्तार ने समन्तभद्र का समय निर्धारित करते समय प्रसगत विभिन्न पट्टावलियो मे विसगति को दर्शाते हुए और विक्रमसवत् के सम्भाव्य प्रारम्भ पर विचार करते हुए यह स्वीकार किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य वि० स० १३३ अर्थात् ७६ ईसवी पश्चात् ही हुए होगे इससे पूर्व नही।[४८] जुगलकिशोर ने कुन्दकुन्दाचार्य को भद्रबाहु द्वितीय का शिष्य स्वीकार किया है इसी सन्दर्भ मे मुख्तार का निष्कर्ष यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य का समय वीर निर्वाण ६०८ से ६९२ के बीच अर्थात् ८१ से १६५ ईसवी रहा होगा।[४९]

५ डॉ० उपाध्ये ने विभिन्न विद्वानो के मतो का समीक्षात्मक अध्ययन करके कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसवी सन् का प्रारम्भ निर्धारित किया तथा निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले—

(अ) कुन्दकुन्दाचार्य श्वेताम्बर दिगम्बर सघभेद हो जाने के पश्चात् हुए।

(ब) कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु प्रथम (ईसा से ३०० वर्ष पूर्व भद्रबाहु प्रथम ने दक्षिण भारत की ओर जैन श्रमण सघ का नतृत्व किया) के शिष्य थे।[५०]

(स) इन्द्रनन्दि द्वारा रचित श्रुतावतार मे किए गए उल्लेख के आधार पर डॉ० उपाध्ये ने यह निष्कर्ष निकाला कि कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने कर्म और कषाय प्राभृत का ज्ञान गुरु परम्परा से प्राप्त करके षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर परिकर्म नामक ग्रथ लिखा।[५१]

(द) जयसेन और बालचन्द्र की टीकाओ के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य किसी शिवकुमार महाराज के समकालीन थे, इस मत का खण्डन डॉ० उपाध्ये ने इस आधार पर किया है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने न तो स्वय ही अपनी रचनाओ मे किसी शिवकुमार महाराज का उल्लेख किया है और न उनके प्रथम टीकाकार अमृतचद्राचार्य ने ही इस विषय मे प्रकाश डाला है। ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर भी यह शिवकुमार महाराज कदम्बवशीय शिवमृगेशवर्मा की तुलना मे पल्लववशीय शिवस्कन्दवर्मन् के रूप मे अधिक मान्य प्रतीत होते है। इस पर भी डॉ० उपाध्ये का स्पष्ट मत है कि समय की दृष्टि से पल्लववशावली मे अनिश्चितता पाई जाती है अत इस आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य का समयनिर्धारण प्रामाणिक नही माना जा सकता। स्वय प्रो० चक्रवर्ती ने इस कठिनाई को दृष्टिगत करते हुए यह स्वीकार किया है कि इस बात की काफी सम्भावना है कि काञ्चीपुरम के शिवस्कन्दवर्मन् अथवा इसी नाम के उनके पूर्वजो मे से कोई एक कुन्दकुन्दाचार्य के समकालीन एव शिष्य थे।

(१) तमिल काव्य कुरल का रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य को तभी माना जा सकता है जब यह प्रमाणित हो जाए कि कुन्दकुन्दाचार्य का दूसरा नाम एलाचार्य था। यद्यपि नदीसघ की गुर्वावली मे कुन्दकुन्दाचार्य के चार अपर नामो का उल्लेख मिलता है

तथा इन चार नामो में से एलाचार्य भी एक नाम है, इस पर भी सुनिश्चित प्रमाण के अभाव में कुरल के कर्तृत्व की बात सन्देहास्पद रहती है।

(फ) प्रवचनसार मे प्रयुक्त प्राकृत भाषा मे रचित गाथाओ के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा का स्तर भरतकृत नाट्य-शास्त्र की प्राकृत भाषा के उन अशो से पहले का प्रतीत होता है जिनका विश्लेषण डॉ० जैकोबी ने किया था। यद्यपि नाट्यशास्त्र का समय भी निर्धारित नहीं हो सका है तथापि सामान्यत इसे ईसा की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ की कृति माना जाता है, इस आधार पर भी कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है।

प्रवचनसार मे अपभ्रश का एक भी प्रयोग नही मिलता। विमलसूरिकृत पउमचरिउ मे अनेक प्रकार के अपभ्रशो का प्रयोग मिलता है और स्वय पउमचरिउ के रचनाकार के अनुसार उसकी रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ मे हुई। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य का काल उससे भी पूर्व रहा होगा।

कुन्दकुन्दाचार्य का कृतित्व

कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ के विषय मे परम्परागत कथन है कि उन्होने ८४ पाहुड ग्रन्थो की रचना की।[४१] कुन्दकुन्दाचार्य की सभी रचनाएँ आध्यात्मिक उद्देश्य से रची गई, इनमे से उपलब्ध समस्त कृतियो मे एक समान दार्शनिक पृष्ठभूमि पाई जाती है। कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ के किसी भी टीकाकार ने यद्यपि इस सख्या का उल्लेख नही किया है तथापि इस सख्या की विश्वसनीयता स्वीकार की जा सकती है, क्योकि इन पाहुड ग्रन्थो मे से अधिकाश कम गाथाओ वाले ग्रन्थ हैं उदाहरणार्थ—सुत्त पाहुड मे केवल २७ गाथाएँ ही हैं। कुन्दकुन्दाचार्य की समकालीन परिस्थितियाँ भी इस प्रकार के छोटे प्राभृत ग्रन्थो की रचना के अनुकूल थी। दक्षिण भारत का जैन समुदाय मगध तथा अन्य भागो मे स्थित मुख्य जैन समाज से पृथक पड गया था। इस समुदाय की धार्मिक आवश्यकताएँ थी, दुर्भिक्ष समाप्ति के बाद दिगम्बर सम्प्रदाय मे शास्त्रो का नये सिरे से सकलन करने का प्रयत्न नही किया तथा साथ ही उत्तर भारत मे स्थित जैन समुदाय द्वारा पाटलिपुत्र मे सकलित आगम ग्रन्थो को भी आधिकारिक स्वीकार नही किया। इस प्रकार जहाँ उत्तर भारत मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पास धार्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लिखित ग्रन्थ थे वहाँ दक्षिण भारत मे स्थित दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्मुख कोई लिखित ग्रन्थ नही था। कुन्दकुन्दाचार्य जैसे धर्म गुरुओ के समक्ष केवल एक ही एकातर था कि वे परम्परा से प्राप्त हुए ज्ञान को विभिन्न अगो के अशो के रूप मे जैन समाज के सम्मुख रखते। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने एक प्रमुख धर्माचार्य होने के नाते मताव-लम्बियो की धार्मिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु छोटे-छोटे ग्रन्थ बहुत बडी सख्या मे लिखे होगे। उनके द्वारा लिखे गए इन चौरासी पाहुड ग्रन्थो मे से कुछ ही कृतियाँ उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति मे यह निर्धारित करने का कोई प्रमाण नही है कि ये समस्त रचनाएँ कुन्द-कुन्दाचार्य की ही थी अथवा नही। कुन्दकुन्दाचार्य से सम्बद्ध की जाने वाली इन रचनाओ

के सम्बन्ध मे इतना अवश्य है कि परम्परा से इनके रचयिता के रूप मे कोई दूसरा नाम उपलब्ध नही है, केवल मूलाचार और तिरुक्कुरल के रचयिताओ के रूप मे क्रमशः वट्टकेरि और तिरुवल्लुवर नाम उपलब्ध होते हैं। अभी तक यह प्रमाणित नही किया जा सका है कि वट्टकेरि और तिरुवल्लुवर कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न व्यक्ति थे। इसी प्रकार इन दोनो रचनाओं की विषयवस्तु भी कुन्दकुन्दाचार्य की अन्य प्राकृत रचनाओ से सादृश्य रखती हैं। भारतवर्ष मे यह परम्परा रही है कि दार्शनिक विचारधारा को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाए। भारतीय दार्शनिक इसी विनम्रता के कारण अपनी रचनाओ के अन्त मे अपने नाम नही देते। ऐसा प्रतीत होता है कि वे परम्परा द्वारा धर्माचार्यों से प्राप्त ज्ञान को पूर्वाचार्यों की देन मानकर अपने ग्रन्थो को भी उनकी परम्परा से जुडा हुआ मानते हैं, इसी कारण मौलिक रचयिता के रूप मे स्वय अपने नाम का उल्लेख नही करते, वे स्वय को लेखक न मानकर केवल प्रस्तुतकर्ता समझते हैं। यही कारण है कि एक ओर यूनान मे दार्शनिक हुए और दूसरी ओर भारत मे दार्शनिक विचारधाराएँ हुईं।

कुन्दकुन्दाचार्य की सभी उपलब्ध रचनाएँ प्राकृत भाषा मे निबद्ध है।

कुन्दकुन्दाचार्य से सम्बद्ध इन रचनाओ मे से १५ कृतियाँ निर्विवाद रूप से कुन्दकुन्दाचार्य की मानी जाती हैं।[५३]

१ पचास्तिकाय (पचत्थियसग्रह)
२ प्रवचनसार (प्रवचणसार)
३ नियमसार (णियमसार)
४ समयसार (समयपाहुड)
५ दर्शन प्राभृत (दसण पाहुड)
६ सूत्र प्राभृत (सुत्त पाहुड)
७ चारित्र प्राभृत (चारित्त पाहुड)
८. बोध प्राभृत (बोध पाहुड)
९ भाव प्राभृत (भाव पाहुड)
१० मोक्ष प्राभृत (मोक्ख पाहुड)
११ लिंग प्राभृत (लिंग पाहुड)
१२ शील प्राभृत (सील पाहुड)
१३. द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा)
१४ रयणसार
१५ दशभक्ति
(अ) तीर्थंकर भक्ति
(आ) सिद्ध भक्ति
(इ) श्रुत भक्ति
(ई) चारित्र भक्ति
(उ) योगि भक्ति

(ऊ) आचार्य भक्ति
(ए) निर्वाण भक्ति[५४]
(ऐ) समाधि भक्ति
(ओ) पचगुरु भक्ति
(औ) चैत्य भक्ति

षट्खण्डागम टीका, मूलाचार एव कुरल इन तीनो रचनाओ के रचयिताओ के विषय मे विवाद रहा है।

षट्खण्डागम टीका

इन्द्रनन्दि (ईसा की १०वी शताब्दी) ने अपने श्रुतावतार मे इस बात का उल्लेख किया है कि कोण्डकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने षट्खण्डागम के तीन खण्डो पर परिकमनाम की टीका लिखी।[५५] यह टीका आज उपलब्ध नही है। सम्भवत कोण्डकुन्दपुर के ये पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य ही थे। इस मान्यता के विरुद्ध विबुधश्रीधर का यह कथन मिलता है कि परिकर्म टीका की रचना कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य कुन्दकीर्ति ने की थी।[५६] विबुधश्रीधर ने अपने श्रुतावतार के पचाधिकार के चतुर्थ खण्ड मे यह उल्लेख किया है कि कुन्दकीर्ति ने अपने गुरु कुन्दकुन्दाचार्य से सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर २२,००० श्लोको से अधिक परिमाण वाले 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ की रचना की, किन्तु कुन्दकीर्ति द्वारा रचित कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाश मे नही आया है और न ही कुन्दकीर्ति के विषय मे प्रामाणिक विवरण ही कही उपलब्ध है, अत यह प्रमाणित करना सम्भव नही है कि परिकर्म नामक ग्रन्थ कुन्दकीर्ति द्वारा रचा गया था।

धवला टीका मे परिकर्म के उद्धरणो का बाहुल्य है[५७] किन्तु इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि यह परिकर्म किसके द्वारा रचा गया था।

प्रथम खण्ड जीवट्ठाण के द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अनुयोगद्वार मे जीवो की सख्या का उल्लेख करते समय परिकर्म से उद्धरण दिए गए हैं। इन उद्धरणो से ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्म ग्रन्थ का मुख्य विषय गणित था। अन्य शोधकर्ताओ ने इस सन्दर्भ में उपलब्ध परिकर्म के कुछ उद्धरणो का भी उल्लेख किया है।[५८] इससे इस बात का अनुमान होता है कि परिकर्म नामक ग्रन्थ मे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव चारों प्रमाणों का वर्णन किया गया है।

यह अभी तक विवादास्पद है कि परिकर्म षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डो पर टीका ग्रथ था अथवा एक स्वतन्त्र ग्रथ। प० कैलाशचन्द्र जैन ने धवलाटीका में परिकर्म विषयक उल्लेखो का विवरण देते हुए यह प्रमाणित किया है कि उन २९ उल्लेखो मे से १८ उल्लेख जीवट्ठाण मे तथा तीन उल्लेख खुद्दाबन्ध मे हैं। ये २१ उद्धरण व्याख्या-विषयक हैं। इन उद्धरणो से यह तो प्रमाणित होता है कि षट्खण्डागम के सूत्रो के आधार पर परिकर्म की रचना की गई किन्तु यह निर्विवाद सिद्ध नही होता कि परिकर्म केवल व्याख्यात्मक ग्रन्थ ही था। इन्द्रनन्दि ने भी इसी बात का उल्लेख किया है कि षट्खण्डा-गम के आद्य तीन खण्डो पर परिकर्म नामक ग्रथ लिखा गया। धवला टीका मे परिकर्म

विषयक उद्धरणो के आधार पर इन्द्रनन्दि का कथन पूर्णत प्रामाणिक प्रतीत होता है। इन्द्रनन्दि के अनुसार ही कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि परिकर्म के रचयिता थे। इन्द्रनन्दि द्वारा परिकर्म के विषय मे जो विवरण दिया गया है वह धवला टीका मे उपलब्ध परिकर्म मे उद्धरणो के आधार पर हम प्रामाणिक पाते हैं अत परिकर्म के रचनाकाल के सम्बन्ध मे इन्द्रनन्दि के कथन को अप्रामाणिक मानने का कोई युक्तिसगत आधार प्रतीत नही होता। इन्द्रनन्दि का कथन इस दृष्टि से भी सबल प्रतीत होता है कि समयसार और प्रवचनसार जैसे महत्त्वपूर्ण जैन ग्रथो के रचयिता द्वारा परिकर्म जैसे उत्कृष्ट ग्रथ का रचा जाना बुद्धिसगत प्रतीत होता है। द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का ज्ञान कराने वाली रचनाओ के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा करणानुयोग के विषय मे पूर्णत मूक रहना युक्तिसगत प्रतीत नही होता। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के अनुरूप यह सम्भव प्रतीत होता है कि परिकर्म कुन्दकुन्दाचार्य की कृति हो सकती है। इस सम्भावना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि परिकर्म मे एक उद्धरण इस प्रकार है—'अपदेस णेव इदिये गेज्झ इति परमाणुण णिखयवस्त परियम्मे भणिदमिदि' इस उद्धरण मे 'अपदेस णेव इदिये गेज्झ' किसी गाथा के पूर्वार्द्ध के भाग से भी अपदेस के पूर्व का भाग उद्धृत नही किया गया है। परिकर्म मे उक्त अश परमाणु के स्वरूप का वर्णन करते समय आया है और इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचाय ने नियमसार म परमाणु का स्वरूप निरूपण करते हुए भी—

> अत्तादि अत्तमज्झ अत्तत णेव इदिए गेज्झ।
> ज दव्व अविभागी त परिमाणु वियाणीहि ॥२६॥

इस गाथा द्वारा परमाणु के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस गाथा के प्रथम तीन पदो के स्थान पर केवलमात्र अपदेस का प्रयोग कर इस गाथा के पूर्वार्द्ध को परिकर्म उद्धृत अश का रूप प्राप्त हो जाता है इसस भी यह सम्भावना होती है कि परिकर्म की रचना भी कुन्दकुन्दाचाय ने की होगी।

मूलाचार

यह जैन श्रमणो के चारित्र सम्बन्धी विशेषत दिगम्बर श्रमणो के चारित्र के सम्बन्ध मे रचित एक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ है। इसकी विषयवस्तु, भाषा आदि की तुलना श्वेताम्बर आगमो की निर्युक्तियो से करना आवश्यक है। इसके सस्कृत टीकाकार वसुनन्दि वट्टकेर को मूलाचार का रचयिता मानते हैं। उपाध्ये, ए० एन० ने कुछ प्रामाणिक दक्षिण भारतीय पाण्डुलिपियो का उल्लेख किया है जिनमे कुन्दकुन्दाचार्य का नाम लेखक के रूप मे उल्लिखित है।[५९] इनमे कुछ गाथाएँ अतिरिक्त पाई गई हैं, अभी तक यह निर्विवाद प्रमाणित नही हो सका है कि वट्टकेरि और कुन्दकुन्दाचाय एक ही व्यक्ति थे। अनेक लेखो मे वट्टकेरि के द्वारा मूलाचार की रचना के सन्दर्भ मे उल्लेख मिलते है[६०] इनमे से कुछ मे कुन्दकुन्दाचार्य और वट्टकेरि को, वट्टकेरि का अर्थ प्रवर्तकाचार्य मानते हुए, एक ही व्यक्ति मानने का प्रयास किया गया है। मूलाचार को एक सग्रह ग्रथ के रूप

में भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।[११]

कुरल

कुरल एक प्रसिद्ध तमिल ग्रथ है तथा 'तमिलवेद' नाम से भी जाना जाता है। इस ग्रथ मे जैन परम्पराओ का उल्लेख मिलता है। जैन श्रमण मगध तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र से दक्षिण भारत की ओर दुर्भिक्ष काल प्रारम्भ होने से पूर्व गए थे और वे मगध की राज्य व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था से सुपरिचित थे। अत यह सम्भव है कि कुरल की रचना किसी जैनाचार्य द्वारा की गई हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और कुरल मे साम्य भी यह प्रमाणित करता है कि कुरल की रचना मगध की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थितियो से परिचित व्यक्ति द्वारा ही की गई।

एक जैन परम्परा के अनुसार कुरल की रचना जैन सन्त एलाचार्य ने की थी तथा उसे अपने एक शिष्य तिरुवल्लुवर को दे दिया, तिरुवल्लुवर ने उसे मदुरासघ के सम्मुख प्रस्तुत किया। यदि पर्याप्त प्रमाणो के आधार पर प्रमाणित किया जा सके कि एलाचार्य कुन्दकुन्दाचार्य का नाम था, तो यह स्वत ही प्रमाणित हो जाएगा कि कुरल कुन्दकुन्दाचार्य की रचना है। कुन्दकुन्दाचार्य की समकालीन परिस्थितियाँ भी इस सन्दर्भ मे विचारणीय है। उस समय दक्षिण भारत मे जैन धर्म का प्रचार करने के लिए यह आवश्यक था कि जनसाधारण की भाषा मे ऐसी रचनाएँ जनता के सम्मुख प्रस्तुत की जाएँ जो सिद्धात ग्रन्थ की नीरसता से रहित हो और जनता को जैन धर्म की मान्यताओं से परिचित भी करा सके। कुरल मे आर्य सस्कृति और चिन्तन की सशक्त पृष्ठभूमि दृष्टिगोचर होती है, इससे भी प्रमाणित होता है कि कुरल के रचयिता को उनका समुचित ज्ञान होना चाहिए। जैन धर्माचार्यों द्वारा धर्म प्रचार के लिए दक्षिण भारत मे स्थानीय भाषा अपना ली गई थी। चक्रवर्ती ए० के अनुसार—कुरल को लोकप्रिय बनाने के लिए एलाचार्य ने उसे अपने तमिल शिष्य तिरुवल्वुर के माध्यम से मदुरासघ के सम्मुख प्रस्तुत किया।[१२]

ईसा की तीसरी शताब्दी तक जैन साहित्यकारो ने तमिल साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था और देवसेन कृत दर्शनसार से हमे ज्ञात होता है कि पाँचवी शताब्दी के अन्त तक वज्रनन्दी द्वारा मदुरा मे द्रविड सघ की स्थापना की जा चुकी थी।

मेरे विचारानुसार कुन्दकुन्दाचार्य के समान प्रतिभासम्पन्न जैनाचार्य द्वारा कुरल जैसे सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना सम्भव है किन्तु इस सम्भावना को तब तक प्रमाणरूप मे ग्रहण नही किया जा सकता जब तक कि यह प्रमाणित न हो जाए कि एलाचार्य कुन्दकुन्दाचार्य का ऊपर नाम था और इस ग्रन्थ को मदुरासघ के सामने प्रस्तुत करने वाले तिरुवल्लुवर उनके शिष्य थे।

रयणसार

रयणसार के सन्दर्भ मे विद्वानो मे इस बात को लेकर मतभेद रहा है कि यह कुन्दकुन्दाचार्य की रचना है अथवा नही। एक मत के अनुसार रयणसार उस स्तर की

रचना नही है जिस स्तर की कुन्दकुन्दाचार्य की अन्य रचनाएँ, जैसे—समयसार, प्रवचन-सार पचास्तिकाय हैं। नाटकत्रय जैसे सिद्धांत ग्रन्थो की रचना करने वाले एक प्रमुख आचार्य द्वारा रयणसार जैसे ग्रन्थ की रचना सन्देहास्पद अनुभव की गई है। इस सन्दर्भ में उपाध्ये ए० एन०[१३] द्वारा प्रस्तुत शकाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) विचारो की पुनरावृत्ति तथा अव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण।

(२) गाथाओ के बीच मे एक दोहा तथा लगभग छ अपभ्रश मे रचित गाथाएँ पायी जाती हैं। यह तथ्य कुन्दकुन्दाचार्य की अन्य रचनाओ को दृष्टिगत रखते हुए अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

(३) रयणसार मे सामाजिक दृष्टि से कथन समावेशित हैं जो उनकी अन्य रचनाओ मे नही पाये जाते।

(४) गण, गच्छ एव सघ का उल्लेख मिलता है।

शास्त्री देवेन्द्र कुमार ने रयणसार को कुन्दकुन्दाचार्य की कृति माना है इस विषय मे इन्होने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—[१४]

(१) रयणसार के अन्त मे प्रवचनसार, समयसार और नियमसार के समान 'सार' शब्द का सयोग रचना सादृश्य को सूचित करता है।

(२) प्रवचनसार एव नियमसार के समान रयणसार का प्रारम्भ तीर्थंकर महावीर के मगलाचरण से होता है। नियमसार की भाति रयणसार मे भी ग्रन्थ का निर्देश किया है। मगलाचरण की गाथाओ मे शब्द साम्य भी द्रष्टव्य है। समयसार मे भी वोच्छामि समयपाहुड' इत्यादि कहा गया है।

(३) इन सभी ग्रन्थो के अन्त मे रचना का पुन नामोल्लेख किया गया है।

(४) पचास्तिकाय के समान रयणसार मे भी प्रवचनसार का उल्लेख किया गया है।

(५) समयसार के समान रयणसार म भी रत्नत्रय का निरूपण किया गया है।

(६) रयणसार की अन्तिम गाथा का मोक्षपाहुड, भावपाहुड, द्वादशानुप्रेक्षा एव समयसार की गाथाओ के अश से शब्द साम्य तथा समान क्रम परिलक्षित होता है।

(७) समयसार के समान रयणसार मे भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि का निरूपण भाव की समानता लिए हुए है।

(८) रयणसार की तीन गाथाओ का मोक्खपाहुड की गाथाओ से साम्य लक्षित होता है।

(९) रयणसार मे उत्तमपात्र तथा अविरत, देशविरत, महाव्रत, तत्त्वविचारक और आगमरुचिक कई प्रकार के पात्रो का निर्देश मिलता है द्वादशानुप्रेक्षा मे भी पात्रो के इन भेदो का उल्लेख किया गया है।

(१०) भावो की दृष्टि से रयणसार और समयसार मे साम्य परिलक्षित होता है जैसे ज्ञान के बिना मोक्ष नही होता यह भाव दोनो मे समान रूप से वर्णित है।

(११) दोनो ही ग्रन्थो मे ध्यान को अग्निरूप कहा गया है। स्वसमय और पर-समय का वर्णन भी दोनो ग्रन्थो मे समान रूप से लक्षित होता है।

(१२) रयणसार मे ज्ञानी को कर्ता, कर्म भाव से रहित, द्रव्य गुण और पर्यायो से स्वपरसमय को जानने वाला कहा गया है। समयसार में भी कर्तृ कर्माधिकार मे आत्मा के कर्तृत्व और कर्मत्व का निषेध किया गया है। शुद्ध पारिणामिक परमभाव को तथा निर्मल आत्मा को दोनो ग्रन्थों मे उपादेय कहा गया है। 'जो दोषपूर्ण क्रियाओं से रहित हैं वे ज्ञानी पुरुष ही मुनि हैं' यह भाव दोनो ग्रन्थो मे निरूपित किया गया है।[१२]

गण गच्छादि के उल्लेख सम्बन्धी शका का निराकरण इस आधार पर किया गया है कि जैन साहित्य इस बात का प्रमाण है कि कुन्दकुन्दाचार्य मूलसघ के नायक थे, देशीगण से उनके अन्वय का घनिष्ठ सम्बन्ध था। निश्चित रूप से कुन्दकुन्दाचार्य के समय मे सघ, गण, गच्छ और कुल आदि प्रचलित थे।[११]

यद्यपि डॉ० उपाध्ये की प्रथम दो शकाओ का समुचित रूप से निराकरण देवेन्द्र कुमार ने प्रस्तुत नही किया है और विषय वस्तु तथा भावसाम्य सम्बन्धी उनके तर्क विशेष महत्त्व नहीं रखते तथापि मैं उनसे इस बात पर सहमत हूँ कि रयणसार को कुन्दकुन्दाचार्य की कृति माना जा सकता है क्योंकि रयणसार के रचयिता के रूप मे यदि किसी का नाम सम्मुख आया है तो वह है—कुन्दकुन्दाचार्य।

मुझे यह सम्भावना स्वीकार है कि रयणसार मे समय व्यतीत होने के साथ कुछ अन्य प्रचलित गाथाएँ प्रक्षिप्त हो गई होगी, ऐसी प्रक्षिप्त गाथाओ के कारण विचारो की पुनरावृत्ति तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। दोहा व अपभ्रश मे रचित गाथाएँ भी प्रक्षिप्त हो सकती हैं।

देवेन्द्र कुमार द्वारा प्रस्तुत तर्कों मे से स० (२), (४), (६), (८), (९) बहुत सीमा तक तथा तर्क स० (१) कुछ सीमा तक इस सम्भावना को पोषित करती है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणसार की रचना की। मेरा यह निश्चित मत है कि जब तक यह प्रमाणित न हो जाए कि रयणसार की रचना किसी अन्य व्यक्ति द्वारा की गई, तब तक प्रचलित मान्यता के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य को रयणसार का कर्ता नही मानने का कोई औचित्य नही है।

रयणसार की विशेषता यह है कि इसमे दार्शनिक दृष्टि को अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा श्रावको के लिए भी आचार निर्देश किया गया है।

दश भक्ति

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा तीर्थंकर भक्ति, सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, आचार्य, निर्वाण, समाधि, पचगुरु और चैत्य ये भक्तियाँ प्राकृत मे रची गई हैं तथा सज्ञानुसार विषयवस्तु का निरूपण करती हैं।

दर्शनप्राभृत

इसमे ३६ गाथाएँ हैं और प्रमुख वर्ण्य विषय सम्यग्दर्शन का निरूपण है।

चारित्रप्राभृत

इसमे ४४ गाथाएँ हैं तथा सम्यक् चारित्र का निरूपण किया गया है।

सूत्रप्राभृत

इसमे २७ गाथाओ मे अर्हन्तो से गणधरो द्वारा गृहीत तथा शिष्यपरम्परा को हस्तांतरित सूत्रो का निरूपण किया है।

बोधप्राभृत

इसमे ६२ गाथाएँ हैं तथा आयतन, चैत्यगृह और प्रतिमा आदि दर्शन, जिन-बिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अर्हत् तथा प्रव्रज्या इन ११ विषयो का वर्णन किया गया है।

भावप्राभृत

इसमे १६३ गाथाएँ हैं। विषयवस्तु शुद्ध, शुभ और अशुभ भावो के निरूपण पर केन्द्रित है तथा इस बात का निर्देश है कि श्रमण को द्रव्यलिंगी नही अपितु भावलिंगी होना चाहिए।

मोक्षप्राभृत

इसमे १०६ गाथाएँ हैं तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का निरूपण किया गया है। जीव और अजीव के मध्य अन्तर जानने के लिए सम्यग्ज्ञान के महत्त्व पर बल दिया है।

लिंग प्राभृत

इसमे २२ गाथाएँ हैं तथा श्रमणो के द्रव्यलिंगी होने की अपेक्षा भावलिंगी होने की महत्ता प्रदर्शित की है।

शीलप्राभृत

इसमे ४० गाथाएँ हैं तथा चारित्रिक पवित्रता पर प्रकाश डाला गया है।

द्वादशानुप्रेक्षा

इसमे ९१ गाथाएँ है तथा कर्मों का आस्रव रोकने के लिए आवश्यक रूप से विकसित की जाने योग्य १२ भावनाओ का निरूपण किया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के परम्परागत कृतित्व के विषय मे डॉ० बशीधर भट्ट[१७] की मान्यता है कि केवल समयसार की १३५ गाथाएँ ही कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित हैं, शेष साहित्य कुन्दकुन्दाचार्य रचित नही है किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के परम्पराप्राप्त कृतित्व को अमान्य करने की सार्थकता तभी हो सकती है जब यह सप्रमाण स्थापित हो जाए कि इन कृतियो के रचयिता यदि कुन्दकुन्दाचार्य नही थे, तो कौन थे? अत प्रमुख कृतियो समय-सार, नियमसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि कुन्दकुन्दाचार्य के कृतित्व-परिप्रेक्ष्य मे ही प्रस्तुत की जा रही है।

कुन्दकुन्दाचार्य की चार प्रमुख रचनाओ पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार व नियमसार मे उनकी दार्शनिक दृष्टि का निरूपण विस्तारपूर्वक किया गया है।

समुपलब्ध दिगम्बर जैन साहित्य मे कालक्रम की दृष्टि से कषाय पाहुड[18] एव षट्खण्डागम सूत्रो के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य रचित साहित्य का स्थान है। इस दृष्टि से उक्त दोनों आगमिक ग्रन्थो के अतिरिक्त दिगम्बर जैन साहित्य परम्परा मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित साहित्य ठहरता है। उत्तरकाल मे जैन परम्परा में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व और आचार विषयक जो विचारधारा प्रवाहित हुई और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारो ने अपने अनेक ग्रन्थो मे जो इन विषयो को पल्लवित और पुष्पित किया उनका मूल कुन्दकुन्दाचार्य रचित साहित्य ही है। इस प्रकार वैदिक धर्म मे उपनिषदो को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान दिगम्बर जैन साहित्य परम्परा मे कुन्दकुन्दाचार्य के साहित्य का है। उनके प्राभृतो को यदि जैन उपनिषद् कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नही है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये वेदान्त की प्रस्थानत्रयी की समानता के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य के पचास्तिकाय, एव समयसार को नाटकत्रय या प्राभृतत्रय कहकर इन ग्रन्थो को जैनो के लिए उतने ही पवित्र और मान्य कहते हैं जितने वेदान्तियो के लिए उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्-गीता हैं।[19]

कुन्दकुन्दाचार्य ने आगमिक पदार्थों की दार्शनिक दृष्टि से तार्किक चर्चा प्राकृत-भाषा मे सर्वप्रथम की है। ऐसा उपलब्ध साहित्य सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने आगमिक जैन तत्त्वो को तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओ के प्रकाश मे स्पष्ट किया है, इतना ही नही वरन् अन्य दर्शनो के मन्तव्यो का यत्र-तत्र निरास करके जैन मन्तव्यो की निर्दोषता और उपादेयता भी सिद्ध की है जिससे जिज्ञासु की श्रद्धा और बुद्धि दोनो को पर्याप्त मात्रा मे सन्तोष मिल सके।

जैन आगमों मे निश्चयनय प्रसिद्ध था तथा निक्षेपो मे भाव निक्षेप भी विद्यमान था। भाव निक्षेप की प्रधानता से निश्चय का आश्रय लेकर जैन तत्त्वो के निरूपण द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन दर्शन को तत्कालीन दार्शनिको के समक्ष एक नए रूप मे उपस्थित किया। निश्चय और भावनिक्षेप की प्रमुखता का आश्रय लेने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और गुण, धर्म और धर्मी, अवयव और अवयवी इत्यादि का भेद मिटाकर अभेद स्थापित किया। उनके ग्रन्थो मे निश्चय प्रधान वर्णन हुआ है और नैश्चयिक आत्मा के वर्णन म वेदात ब्रह्मवाद के निकट जैन आत्मवाद पहुँच गया है। कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो के अध्ययन के समय उनकी इस निश्चय और भाव निक्षेप प्रधान दृष्टि को सामने रखने से अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं तथा कुन्दकुन्दाचार्य का तात्पर्य सहज ही मे प्राप्त किया जा सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य अध्यात्म के एक मात्र पुरस्कर्ता हैं। समयसार रचना के माध्यम से कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मतत्त्व का जो निरूपण किया है वह समस्त जैन वाङ्मय मे अनुपम है। इसी कारण अध्यात्मप्रेमी, जैन साम्प्रदायिक भेद-भाव को छोडकर समयसार के अध्यात्मरस का पान करते हैं।

तीर्थंकर महावीर के उपदेश का माध्यम अर्धमागधी भाषा थी। अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। कषाय पाहुड के गाथा सूत्र तथा षटखण्डागम के सूत्र भी प्राकृत भाषा मे हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी प्राकृत भाषा मे ही अपने ग्रन्थो की रचना

की है, तब तक जैन वाङ्मय मे सस्कृत भाषा का प्रवेश नही हुआ था। कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाएँ महाराष्ट्री प्राकृत मे निबद्ध हैं। उनकी रचनाओ मे त् का द् आदेश—'सुदकेवली' आदि तथा प्रमुख रूप से न के स्थान पर ण का प्रयोग ही इस विषय मे पुष्ट प्रमाण है।[७०]

कुन्दकुन्दाचार्य के प्राय सभी ग्रन्थ 'पाहुड' कहे जाते हैं। स्वय कुन्दकुन्दाचार्य ने समय पाहुड[७१], चारित पाहुड[७२], भाव पाहुड[७३] आदि सज्ञाओं को अभिहित किया है। इसी प्रकार लिंग प्राभृत के प्रारम्भ म ही 'पाहुडसत्थं' कहकर पाहुडशास्त्र की रचना करता हूँ ऐसा उल्लेख किया है।[७४] पाहुड का सस्कृत रूपातरण 'प्राभृत' होता है। "पाहुडे त्ति का णिरुत्ती। जम्हा पदेहि पुद (फुड) तम्हा पाहुड।" पाहुड शब्द की क्या निर्युक्ति है ? जो पदो मे स्फुट अर्थात् व्यक्त है वह पाहुड कहलाता है। जयधवलाकार प्राभृत शब्द की निर्युक्ति करते हुए कहते हैं—"प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण प्रस्थापित इति प्राभृत"[७५] जो श्रेष्ठ तीर्थंकर क द्वारा आभृत अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा विद्याधन युक्त महान् आचायो के द्वारा जो धारण किया गया है, व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परारूप से लाया गया है, वह प्राभृत है।[७६] प्र आ √भृ + क्त कृद्बहुलम् से क्त प्रत्यय हुआ है। "प्रकर्षेण समन्ताद् भ्रियते प्राप्यते चित्तमभीष्टस्थपुरुषस्यानेनेति प्राभृतम्"[७७] इस व्युत्पत्ति के अनुसार अभीष्ट व्यक्ति का चित्त जिसके द्वारा (सम्भवत भेंट आदि) आकर्षित किया जाता है वह प्राभृत है। सम्भवत इसी अर्थ को लक्ष्य मे रखकर जयसेन अपनी समयसार की टीका 'तात्पर्य वृत्ति' के परिशिष्ट मे प्राभृत शब्द का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—"यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूत वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृत भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्र प्राभृत। कस्मात् ? सारभूतत्वात इति प्राभृतशब्दस्यार्थ।"[७८]—जैसे कोई देवदत्त नाम का व्यक्ति राजा का दर्शन करने के लिए कोई सारभूत वस्तु राजा को देता है उसे प्राभृत (भेंट) कहते हैं वैसे ही परमात्मा के आराधक पुरुष के लिए निर्दोष परमात्मा-रूपी राजा का दर्शन करने के लिए य शास्त्र भी सारभूत होने से प्राभृत है।

जयसेन द्वारा वर्णित प्राभृत शब्द के लौकिक अर्थ तथा उपर्युक्त आगमोक्त निर्युक्ति एव व्याख्याओ से निष्कर्ष निकलता है कि प्राभृत शब्द इस बात का सूचक है कि जिस ग्रन्थ के साथ वह सयुक्त है वह ग्रन्थ द्वादशागवाणी से सम्बद्ध है क्योकि गणधरो द्वारा रचित अगो और पूर्वों मे से पूर्वों मे प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार होते थे। पाहुड का वास्तविक परम्परागत अर्थ 'अधिकार' है। एक अध्याय अथवा भाग जिसमे किसी विशेष विषय का वर्णन हो वह अधिकार है। गोम्मटसार म अधिकार व पाहुड को पर्यायवाची कहा है।[७९] बारह अगो मे सबस विशाल और महत्त्वपूर्ण अग दृष्टिवाद था। दृष्टिवाद अग के ही अन्तर्गत चौदह पूर्व थे।[८०] पूर्वों का महत्त्व सर्वोपरि था। पूर्वविद् कहने से अगो का ज्ञान उसमे समाविष्ट माना जाता था किन्तु अगविद् कहने से पूर्वों का ज्ञान समाविष्ट नही माना जाता था। अत पूर्वविद् और श्रुतकेवली शब्द एकार्थवाची थे। पूर्वों के अन्तिम वेत्ता श्रुतकेवलिभद्रबाहु थे जो दक्षिणापथ को चले गए थे।[८१] उनके अभाव मे पाटलिपुत्र मे जो प्रथम वाचना हुई उसमे ग्यारह अग सकलित हो सके किन्तु

श्रुतकेवली भद्रबाहु के अतिरिक्त बारहवाँ अग का कोई जानकार दूसरा नही था अत वह सकलित नहीं हो सका। फलत श्वेताम्बर परम्परा मे पूर्वों का लोप हो गया। श्वेताम्बरो की आगम परिषदो के समान दिगम्बर परम्परा मे अगो को सकलित करने के प्रयास हुए हो ऐसा उल्लेख नही मिलता है। इसका कारण यह हो सकता है कि दिगम्बर परम्परा मे अगज्ञान का उत्तराधिकार गुरु शिष्य के रूप मे प्रवाहित होता रहा। गुरु अपना उत्तराधिकार जिसे सौंप जाते थे वही उस ज्ञान का अधिकारी व्यक्ति माना जाता था। ६८३ वर्ष की अगविदो की परम्परा यही बतलाती है कि मुनियो की सघ की कोई एकत्र वाचना आदि न होने से क्रमश ज्ञान का लोप होता चला गया।[८१] दिगम्बर मान्यता के अनुसार अग ज्ञान रहा किन्तु पूर्वों का ज्ञान बहुत पहले लुप्त हो गया फिर भी अन्त मे जो भी ज्ञान शेष रहा वह पूर्वों का ही अवशेष बचा। कषायपाहुड और षट्खण्डागम दोनो क्रम से पचम और दूसरे पूर्व से सम्बद्ध है।

उन्ही पूर्वों के यत्किञ्चित् अवशिष्टाश के रूप मे कुन्दकुन्दाचार्य को पचम ज्ञानप्रवादपूर्व के दसवें वस्तु अधिकार मे समय नामक प्राभृत के मूल सूत्रो का शब्दार्थ सहित ज्ञान था।[८३] समय पाहुड मे जिस तत्त्व का प्रतिपादन है वह जैन वाङ्मय मे अन्यत्र कही नही मिलता है। कुन्दकुन्दाचाय ने समयसार को श्रुतकेवली कथित कहा है[८४] और वे श्रुतकेवली भद्रबाहु है। जिनका जयकार कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधप्राभृत के अन्त मे किया है।[८५] इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाएँ द्वादशागवाणी से सम्बद्ध होने से मान्य एव प्रामाणिक हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ की एक विशेषता यह है कि उनकी रचनाएँ जैन तत्त्वज्ञान के प्राथमिक अभ्यासियो के लिए उपयोगी नही हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने ग्रन्थरचना श्रमणो को लक्ष्य मे रखकर की है। यद्यपि उनकी रचनाएं गृहस्थो किंवा श्रावको के लिए भी उपयोगी है किन्तु निश्चय प्रधान रचनाओ से स्पष्ट है कि प्रमुख रूप से उनकी दृष्टि श्रमणो को सम्बोधने की ही रही है। इसी करण इनकी रचनाओ मे पारिभाषिक शब्दो की बहुतायत है और पारिभाषिक शब्दो की परिभाषाएँ अधिकाशत नहीं दी गई हैं। वे यह मानकर लिखते हैं उनकी रचनाएँ प्राथमिक अभ्यासियो के लिए नही वरन् अभ्यस्तों हेतु है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने उपदेश प्रधान प्राभृत-ग्रन्थो मे जो उपदेश दिये हैं, उस उपदेश के प्रधान लक्ष्य हैं—श्रमण-जैन साधु। भावप्राभृत, लिंगप्राभृत, सूत्रप्राभृत और मोक्षप्राभृत उन्ही से सम्बद्ध चर्चाओ से भरे हुए हैं। चारित्र प्राभृत और बोधप्राभृत मे भी श्रमणो के चारित्र तथा प्रव्रज्या का विशेष कथन है। मुनिधर्मधारण करने मे सहायक गृहस्थधर्म ही उपयोगी है इस दृष्टि से चारित्र प्रा० मे कुछ गाथाओ मे गृहस्थ धर्म का वर्णन किया है। प्रवचनसार, नियमसार और समयसार की रचना भी प्रधान रूप से श्रमणो और श्रामण्यपद के अभिलाषियो को लक्ष्य मे रखकर की गई है। अत जिनकी दृष्टि सम्यक् है वे ही कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रथो का ठीक रहस्य समझने के अधिकारी हैं। द्वादशानुप्रेक्षा मे एकत्वानुप्रेक्षा के प्रसग मे कुन्दकुन्दाचार्य पात्र के तीन भेदो और अपात्र का वर्णन करते हैं।[८६] सम्यक्त्व रूपी गुण से युक्त साधु को उत्तम पात्र कहा है, सम्यग्दृष्टि

श्रावक को मध्यमपात्र जानना चाहिए, जिनागम मे अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से रहित है वह अपात्र है इस प्रकार पात्र और अपात्र की अच्छी तरह से परीक्षा करनी चाहिए।

समयसार मे विषयवस्तु प्रतिपादक उपक्रमलिंग[८७] के अनुसार—जो ज्ञायकभाव है वह न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। प्रमत्त और अप्रमत्तभाव के निषेध से ही ज्ञायकभाव या शुद्ध आत्मा का कथन क्यो किया गया? स्पष्ट है कि श्रमण अथवा मुनि प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती ही होते है अत जो श्रमण हैं अथवा श्रमण होने के अभिलाषी हैं उन्हे यह बतलाना है कि प्रमत्त या अप्रमत्त दशा ज्ञायकभाव से भिन्न है, ज्ञायक भाव न प्रमत्त है और न अप्रमत्त। समयसार का प्रारम्भ ही ग्रथकार की श्रमण लक्ष्यप्रधान प्रतिपादन दृष्टि का अभिव्यजक है।

वास्तव मे जिस भेदविज्ञान को सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व का कारण बतलाया है प्रारम्भ से अन्त तक समयसार मे उसी का कथन है। इस प्रसग मे यह प्रश्न हो सकता है कि भेद-विज्ञान के बिना सम्यक्त्व नही होता और सम्यक्त्व के बिना चारित्र नही होता। तब सम्यक्त्वी मुनियो को लक्ष्य करके भेद-विज्ञान का कथन करने की आवश्यकता क्या थी? इसका हल यह है कि 'आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ मेरा नही है' ऐसा मानने वाला सामान्य भेद-विज्ञान दृष्टि वाला सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, जो आत्मदृष्टि है अर्थात् जिसकी दृष्टि आत्मा पर है वह सम्यग्दृष्टि है किन्तु आत्मदृष्टि होकर भी अध्यवसानादि रूप भावो को यदि अपना मानता है तो उसका सम्यक्त्व पूर्ण नही है। अत सराग सम्यग्दृष्टि को वीतराग सम्यग्दृष्टि बनाने और सराग चारित्र मे स्थित को वीतराग चारित्र मे स्थित करने के लिये ही कुन्दकुन्दाचाय का सम्पूर्ण प्रयास है। इसलिए कुन्दकुन्दाचाय ने समयसार का प्रारम्भ 'ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो' से किया है।

प्रवचनसार के प्रारम्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—"उन अर्हन्त सिद्ध आदि पच परमेष्ठियो के विशुद्ध दर्शन और विशुद्ध ज्ञान जहाँ प्रधान हैं ऐसे आश्रम को प्राप्त कर मैं साम्यभाव को धारण करता हूँ जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।"[८८] इस कथन के द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य अपने बहाने से पच परमेष्ठियो के ज्ञानदर्शनप्रधान आश्रम मे रहने वाले श्रमणो को साम्यभाव रूप वीतराग चारित्र को धारण करने की प्रेरणा करते हैं और अन्त तक उसी को उपादेय बतलाते है जिससे वे उस आश्रम को पाकर भी शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति मे ही रमे नही। आत्मा के अत्यन्त निर्मल परिणामो मे लीन रहन रूपी शुद्धोपयोग की ही कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रेरणा दी है। साम्यभाव रूप वीतराग चारित्र की प्राप्ति उन्ही को होती है जो सावद्ययोग का त्याग कर देते हैं। उन्ही का मोह दूर करने के लिए अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग भी छोडने की प्रेरणा कुन्दकुन्दाचार्य ने की है, जो श्रमणो के लिए ही सम्भव है। इसी भाव से अमृतचन्द्र समयसार गाथा टीका ७६ की उत्थानिका मे लिखते हैं—'यदि सर्वसावद्ययोग का त्याग करके मैंने चारित्र को धारण भी किया फिर भी यदि शुभोपयोग के चक्कर मे पडकर मोह आदि का उन्मूलन न करूँ तो शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है अत मोह का नाश करने को उद्यमी हूँ।"[८९]

इसी गाथा की टीका करते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जो समस्त सावद्ययोग के त्याग रूप परसामायिक चारित्र को धारण करके भी शुभोपयोग वृत्ति रूपी दुराचारिणी स्त्री के चक्कर मे पड़ जाता है और मोह की सेना को नही जीतता, महासकट उसके अति-निकट है, वह निर्मल आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?[६०]

प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार की अतिम गाथाओ मे कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रमणो का स्पष्ट निर्देश किया है।[६१]

इसके अतिरिक्त सम्पूण प्रवचनसार मे पालनार्थ (आचरण हेतु) जिस उत्कृष्ट स्वरूप का निर्देश किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि इस निर्देश के पात्र मूलत श्रमण हैं।[६२]

वास्तव मे निवृत्ति प्रधान मोक्षमार्गावलम्बी जैन धर्म मे सदा से मुनि धर्म का ही महत्त्व रहा है। वही आदर्श मार्ग माना गया है। गृहस्थ धर्म तो अपवाद मार्ग है। उसकी उपयोगिता भी तभी है जब वह मुनिधर्म धारण करने मे सहायक हो।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाएँ ऐसे प्रथम काल्पिको के लिए नही हैं जिन्हे देवगुरु शास्त्र के स्वरूप का भान नही, सात तत्वो से जो अपरिचित हैं, गुण स्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थानो का जिन्होने कभी नाम भी नही सुना, कर्मबध की प्रक्रिया से जो अनजान हैं, नयो का जिन्हे बोध नही ऐसे व्यक्ति भी यदि समयसार के निश्चय और व्यवहार कथन मे उतरते है तो इससे उनका हित सम्भव नही। ये रचनाएँ ससार, शरीर और भोगो के प्रति अन्त करण मे विरक्त और पचपरमेष्ठी को अनन्य शरण रूप से भजने वाले उन तात्त्विक पथ के पथिको के लिए है जिनको न व्यवहार का पक्ष है और न निश्चय का, क्योकि कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार समयसार पक्षातीत है।

कथन करने की शैली से कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों की समालोचना

समयसार	—	द्रव्यदृष्टिप्रधान
प्रवचनसार	—	पर्यायदृष्टिप्रधान
पचास्तिकाय	—	प्रमाणदृष्टिप्रधान
नियमसार	—	साधकदृष्टिप्रधान

रत्नत्रय की दृष्टि से प्रधानता

समयसार	—	दर्शन-प्रधान
प्रवचनसार	—	चारित्र-प्रधान
पचास्तिकाय	—	ज्ञान-प्रधान
नियमसार	—	रत्नत्रय-निरूपण

विषयवस्तु की दृष्टि से प्रधानता

समयसार	—	आत्मनिरूपण प्रधान
प्रवचनसार	—	श्रमण एव श्रामण्य निरूपण प्रधान
पचास्तिकाय	—	लोकनिरूपणप्रधान

कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख रचनाओ के टीकाकार[६३]

कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख रचनाओ पचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार और नियमसार पर निम्नलिखित विद्वानो ने टीकाएँ लिखी है—

पचास्तिकाय के प्रमुख टीकाकार

१ अमृतचन्द्र (ईसा की १०वी शताब्दी का अन्त)—'तत्त्वदीपिका' नामक सस्कृत टीका।

२. जयसेन (ईसा की १२वी शताब्दी का मध्य)—'तात्पर्यवृत्ति' नामक सस्कृत टीका।

३ बालचन्द्र (ईसा की १३वी शताब्दी का प्रारम्भ) कन्नड भाषा मे टीका।

४ प्रभाचन्द्र (ईसा की १४वी शताब्दी का पूर्व चतुर्थांश) —'प्रदीप' सस्कृत टीका।

५ मल्लिषेण की सस्कृत-टीका।

६ ब्रह्मदेव की टीका।

प्रवचनसार के प्रमुख टीकाकार

१ अमृतचन्द्र की 'तत्त्वप्रदीपिका' सस्कृत-टीका।

२ जयसेन की 'तात्पर्यवृत्ति' सस्कृत-टीका।

३ बालचन्द्र की कन्नड 'तात्पर्यवृत्ति'।

४ प्रभाचन्द्र की 'सरोजभास्कर' सस्कृत-टीका।

५ मल्लिषेण की सस्कृत टीका।

६. वर्द्धमान कृत वृत्ति।

समयसार के प्रमुख टीकाकार

१. अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' नामक सस्कृत टीका।

२ जयसेन की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सस्कृत टीका।

३ बालचन्द्र की टीका।

४ प्रभाचन्द्र की टीका।

५ विशालकीर्ति की टीका।

६ जिनमुनि टीका।

नियमसार के टीकाकार

पद्म प्रभमलधारि (१२वी शताब्दी का मध्य)[६४] की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सस्कृत टीका।

सन्दर्भ

१ मङ्गल भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम ।।

२ एक कन्नड पाण्डुलिपि के आधार पर (गणभेद) नन्दी, सिंह तथा श्री यापनीय सघो में कुन्दकुन्दान्वय पाया जाता है, चौथे सघ मूल सघ मे वृषभसेनान्वय पाया जाता है। इस पाण्डुलिपि (गणभेद) मे गण, अन्वय, गच्छ, बिरुदावली, सिंहासन गद्दी एव प्रत्येक सघ के साधुओ के नाम के अन्त मे लगने वाले नाम इत्यादि वर्णित है परन्तु ऐतिहासिक उद्देश्य हेतु इनका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।
—प्रवचनसार, (सम्पा०) डॉ० ए० एन० उपाध्य प्रस्तावना, पृ० १

३ प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० १४

४ सूत्रपाहुड, गा० २३-२४, पृ० ५६-५७

५ (क) Stevenson, Mr Sinclair The Heart of Jainism, Delhi, 1970 p 10
(ख) कैलाशचन्द्र दक्षिण भारत मे जैनधर्म वाराणसी, १९६७, पृ० १-५

६ कन्नड पत्रिका विवेकाभ्युदय, I ३-४, पृ० ५४

७ 'एव द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगत समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञात सिद्धान्त कुण्डकुन्दपुरे ।।
श्री पद्मनन्दिमुनिना—' —जैन हितैषी, (सम्पा०) नाथूराम प्रेमी, भाग १०, अक ६-७, बम्बई, १९१४, पृ० ३७०

८ जैन शिलालेख सग्रह भाग २, (सम्पा०) विजयमूर्ति, मा० दि० जै० ग्र०, सितम्बर १९५२, पृ० २९४, ३०३

९ 'दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
एलाचार्यो नाम्नो द्रविडगणाधीश्वरो धीमान् ।।'
—हस्तलिखित 'मन्त्रलक्षण' ग्रथ से उद्धृत श्री राजेन्द्र जैनागम बृहद् ज्ञानभण्डार, आहोर

१० 'पद्मनन्दिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ।।'
—गुर्वावली २६—जैन हितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३८२

११ 'कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्ति गिरिमस्तके।
सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ।।'
—जैनहितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३८२

१२ नेमिनाथ पागल कुन्दकुन्द आचार्यां चे चरित, शोलापुर, १९०६

१३ जैन हितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३७८

१४ Desai, P B Jainism in South India, Sholapur, 1957, p 152

१५ (a) Epigraphia carnatika Vol V, Belur 124
(b) Annual Report on South Indian Epigraphy, 1916, p 134

१६ Epigraphia Indica Vol III p 190, line 13

१७ 'कुन्दकुन्दाचार्य' द्वारा नाथूराम प्रेमी, जैन हितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३८३ आदि।

१८ पचास्तिकायसार, (सम्पा०) ए० चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १६७५, अग्रेजी प्रस्तावना, पृ० ५ आदि

१६ कैलाशचन्द्र कुन्दकुन्दप्राभृत सग्रह, प्रस्तावना, पृ० ५

२० रत्नकरण्डश्रावकाचार, (सम्पा०) जुगलकिशोर मुख्तार, भा० दि० जै० ग्र०
—वीर निर्वाण सवत् २४५१, प्रस्तावना, पृ० ४७

'शास्त्रदानफलेनात्मा कलासु सकलास्वपि।
परिज्ञाता भवेत्पश्चात्केवलज्ञानभाजनम्।।'

कन्नडी लिपि की २०० श्लोको वाली प्रति मे 'भेषज्यदानतो' नामक पद्य के बाद यह पद्य भी है।

२१ कैलाशचन्द्र कुन्दकुन्दप्राभृत सग्रह, प्रस्तावना, पृ० ५

२२ समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकाचार, (सम्पा०) जुगलकिशोर मुख्तार, भा० दि० जै० ग्र० बम्बई, १६२५, गाथा टीका, परिच्छेद ४, गा० २८, पृ० ८५-८६

२३ 'जइ पउमणदि—णाहो सीमधर—सामि—दिव्व—णाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणति।।'
—देवसेन दर्शनसार—(सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन०, एनल्स ऑफ द भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, वॉल्यूम १५, भाग ३-४, पृ० १६८

२४ पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, पृ० १

२५ एपिग्राफिआ कर्नाटिका भाग २, १२७, ११७, १४०, ६४, ६६ आदि

२६ 'अथ श्री कुमारनन्दि—व्याख्यान कथ्यते'
—जैन हितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३७५

२७ विन्टरनिट्ज, एम ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, पृ० ५७८

२८ तत्त्वार्थसूत्रकर्तार गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्।।
—तत्त्वार्थप्रशस्ति, जैन हितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३७१

२६ ते ते सव्वे समग समग मत्तेगमेव पत्तेग।
वदामि य वट्टते अरहते माणुसे खेत्ते।।
—प्रवचनसार, गा० ३, पृ० ३

३० (क) कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्ति गिरिमस्तके।
सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ।।

(ख) पद्मनन्दिगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ।।

—जैन हितैषी, भाग १०, अंक ६-७, पृ० ३८२

३१ (क) एपिग्राफिआ कर्नाटिका, भाग २, ६४, ६६, ११७, १२७, १४०, २५४ आदि
(ख) जैन शिलालेख सग्रह I, (सम्पा०) हीरालाल, बम्बई १९२८, पृ० २४, ३०, ३४

३२ एपि० कर्ना०, भाग २, ६४, ६६ आदि

३३ श्री मूलसघेऽजनि नन्दिसघस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्य ।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छेस्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ।।३।।
आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनि ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छो इति तन्नाम पञ्चधा ।।४।।

—जैनसिद्धान्तभास्कर १।४ पृ० ६०

३४ इण्डियन-एण्टीक्वेरी, वॉल्यूम २१, पृ० ७४, फुटनोट न० ३५

३५ एनल्स ऑफ द म० ओ० रि० इ० वॉल्यूम १२, पृ० १५७

३६ 'श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयै' —पचास्तिकाय, पृ० १

३७ एपि० कर्ना०, ४, चन्नरायपत्न न० १४९

३८ इण्डियन-एण्टीकवेरी XXI पृ० 57 आदि

३९ 'कुन्दकुन्दाचार्य' द्वारा नाथूराम प्रेमी, जैन हितैषी भाग १०, अक ६-७

४० (क) इण्डियन-एण्टीक्वेरी, वॉल्यूम १४, पृ० १५ आदि,
(ख) प्रेमी नाथूराम (सम्पा०), षट्प्राभृत सग्रह, प्रस्तावना, मा० दि० जै० ग्र० वॉल्यूम १७
(ग) समयप्राभृत, प्रस्तावना, जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था

४१ पचास्तिकायसार, (सम्पा०) चक्रवर्ती, ए०, अग्रेजी प्रस्तावना, पृ० ५ आदि

४२ रत्नकरण्डश्रावकाचार, (सम्पा०) मुख्तार, जुगलकिशोर, मा० दि० जै० ग्र० बम्बई, प्रस्तावना, पृ० १५८ आदि

४३ उपाध्ये, ए० एन० (सम्पा०), प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० १४

४४ प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० २१

४५ जैन हितैषी, भाग १०, पृ० ३७८

४६ इण्डियन-एण्टीक्वेरी २१, पृ० ५७ आदि

४७ शास्त्री, नेमिचन्द्र प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६, पृ० २२४

४८ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार', (सम्पा०) मुख्तार जुगलकिशोर, मा० दि० जै० ग्र०, बम्बई, प्रस्तावना, पृ० १६४

४६ वही, पृ० १८६
५० (क) द ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, विंसेन्ट ए० स्मिथ, १६७०, पृ० ६६
 (ख) नाहर एण्ड घोष एन० एपिटोम ऑफ जैनिज्म, पृ० ६५२
 (ग) प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० २१
५१ 'कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह', प० कैलाशचन्द्र जैन, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर १६६०, पृ० ३३
५२ प्रेमी नाथूराम दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ, श्री जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १६११, पृ० ५-६ पर उल्लेख—
 कुन्दकुन्दाचार्य (नदिसघ) जिनचन्द्र स्वामी के शिष्य विक्रम सवत् ४६ मे हुए—
 (१) समयसार प्राभृत (पाहुड), (२) पचास्तिकाय पाहुड, (३) प्रव० प्रा०, (४) अष्ट पा०, (५) नियम पा०, (६) जोणीसार पा०, (७) क्रियासार पा० आदि ८४ पाहुड।
५३ (अ) प्रवचनसार, (सपा०) उपाध्ये, आ० ने०, प्रस्तावना, पृ० २४ आदि
 (आ) कुन्दकुन्दभारती, (सपा०) पन्नालाल, प्रस्तावना, पृ० ६
५४ निर्वाण भक्ति के पश्चात् नन्दीश्वर भक्ति तथा शाति भक्ति ये दो सस्कृत भाषा मे निबद्ध भक्तियाँ हैं।
५५ जैन हितैषी, भाग १०, अक ६-७, पृ० ३७०
५६ (सम्पा०) सोनी, पन्नालाल, सिद्धांतसारादिसग्रह, प्रवचनसार, प्रस्तावना पृ० १७
५७ कुन्दकुन्दप्राभृत सग्रह, प्रस्तावना, पृ० २४
५८ वही, पृ० २४-२५ आदि
५६ प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० २५
६० (क) मूलाचार के कर्ता—क्षुल्लक सिद्धिसागर, अनेकात, १२।१२, मई १६५४, पृ० ३७२
 (ख) 'मूलाचार और वट्टकेर'—जुगलकिशोर मुख्तार, अनेकांत, ८।६-७, पृ० २२७
 (ग) 'मूलाचार के कर्ता वट्टकेरि'—नाथूराम प्रेमी, जैन सिद्धात भास्कर, भाग १२, किरण १
६१ 'मूलाचार सग्रह ग्रथ है'—परमानन्दशास्त्री, अनेकात २।५, मार्च १६३६, पृ० ३१६
६२ पचास्तिकायसार, (सम्पा०) चक्रवर्ती, ए०, प्रस्तावना, पृ० ८
६३ प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० ३७
६४ रयणसार, (सम्पा०) डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, इदौर, १६७४, प्रस्तावना, पृ० १६ आदि
६५ (क) समयसार, गा० २८६-८७, पृ० ३७६
 (ख) रयणसार, गा० ८७, पृ० १३१
६६ तत्त्वार्थसूत्र, ६।२४
६७ प्रोफेसर एव अध्यक्ष, महावीर चेयर, पजाब विश्वविद्यालय, पटियाला
६८ गुणधर भट्टारक, कषायपाहुड (सूत्र), (सम्पा०) सुमेरचद्र दिवाकर, फलटन, १६६८

६९ कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार, (सम्पा०) डॉ० ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद्राजचन्द्राश्रम अगस्त, १९६४, प्रस्तावना, प्र० १

७० 'महाराष्ट्र्यां नकारस्य सर्वदा णकारो जायते अर्धमागध्यां तु नकारणकारौ द्वावपि।' यथा छण छण परिण्णायलगसन्न च सव्वसो। —आचारांग १ २·३ १०३

७१ 'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो'—समयसार १।१ पृ० ४

७२ 'चारित्त पाहुड वोच्छे' चारित्तपाहुड गा० २ कुन्दकुन्दभारती (सम्पा०) पं० पन्नालाल, फल्टन १९७०, पृ० २४०

७३. 'वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे' भावपाहुड गा० १,—वही, पृ० २५६

७४ 'वोच्छामि समलिंग पाहुडसत्थ समासेण' लिंगपाहुड गा० १, वही, पृ० २९६

७५ यतिवृषभ चूर्णिसूत्र—कषायपाहुड, पृ० १५

७६ 'प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृत धारित व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।' जयधवला—वही

७७ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि, श्री अभिधान राजेन्द्र रतलाम १९२१, पृ० ६१४

७८ कुन्दकुन्दाचार्य समयसार, (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९७९, परिशिष्ट, पृ० ५५५-५७

७९ 'अहियारो पाहुडय एयट्ठो' (अधिकार प्राभृतमेकार्थं) नेमिचन्द्र : गोम्मटसार जीवकाण्ड—परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९२७, गाथा ३४०, पृ० १३०

८० विजयमुनि शास्त्री व मुनि समदर्शी प्रभाकर—आगम और व्याख्या साहित्य, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९६४, पृ० २० से २४, गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३४४-४५, पृ० १३१

८१ Winternitz M A History of Indian Literature, II, New Delhi, 1972, p 431

८२ Ibid p 433

८३ उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्वों के १०, १४, ८, १८, १२ आदि क्रमश वस्तु अधिकार हैं। प्रथम से चार वस्तु अधिकार के क्रमश ४, १२, ८, १० चूलिकाएँ हैं और पचम पूर्व मे एक-एक वस्तु अधिकार के बीस-बीस प्राभृत हैं।

८४ 'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिय'—समयसार, गा० १, पृ० ४

८५ 'सीसेण य भद्दबाहुस्स' 'सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ' कुन्दकुन्दाचार्य—अष्टपाहुड, सेठी दि० जै० ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२३, बोधपाहुड गा० ६१-६२, पृ० १२७

८६ 'उत्तमपत्त भणिय सम्मत्तगुणेण सजुदो साहू।—'
'—सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि सपरिक्खेज्जो॥—'
—द्वा० अ०, गा० १७-१८,
—कुन्दकुन्दभारती, पृ० ३११

८७ 'ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो—'
—समयसार, गा० ६, पृ० १५

८८. प्रवचनसार, गा० १।५, पृ० ६

८९ 'अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्यचरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, तत कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते'

—प्रवचनसार, अमृतचन्द्र टीका उत्थानिका १।७२, पृ० ८६

९० प्रवचनसार, अमृतचन्द्र गाथा टीका १।७९, पृ० ८९-९०

९१ प्रवचनसार १।९२, पृ० १०४

९२ 'प्रवचनसार की रचना का उद्देश्य' शीर्षक के अन्तर्गत विस्तृत विचार किया गया है।

९३. कैटेलॉग ऑफ बी० ओ० आर० आई०, बड़ौदा

९४ (क) 'पद्मप्रभ एण्ड हिज़ कमेण्टरी ऑन नियमसार' उपाध्ये, ए० एन०, ८वीं ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस, मैसूर, दिस० १९३५, पृ० ४३३

(ख) प्रवचनसार, (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन०, प्रस्तावना, पृ० ३९

द्वितीय अध्याय

पचास्तिकाय मे कुन्दकुन्दाचाय की दार्शनिक दृष्टि

(क) अस्तिकाय का स्वरूप

(ख) सत्ता का स्वरूप

(ग) द्रव्य का स्वरूप

(घ) पचास्तिकाय-निरूपण

(ङ) कालद्रव्य

(च) मोक्ष मार्ग-निरूपण

(छ) अर्थ-पदार्थ-तत्त्वार्थ

पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

अस्तिकाय का स्वरूप

उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक षड्द्रव्यो मे केवल कालद्रव्य ही एक प्रदेशी है तथा शेष द्रव्य बहुप्रदेशी होने के कारण पचास्तिकाय कहलाते हैं। अस्तिकायो का सहभावी गुणो तथा क्रमभावी नाना पर्यायो के साथ अस्तित्वस्वभाव रूप अनन्यत्व है।[1] एक पर्याय से नष्ट होने वाली, अन्य पर्याय से उत्पन्न होने वाली तथा अन्वयी गुण से ध्रौव्य को धारण करने वाली वस्तु का एक साथ उत्पादव्ययध्रौव्य लक्षण अस्तित्व है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये अपने सामान्य विशेष अस्तित्व मे नियत है और अपनी सत्ता से अभिन्न हैं अत इन्हे अस्तिकाय कहते है।[2] मूर्त-अमूर्त प्रदेशो से युक्त होने के कारण ये कायवत्-काय कहलाते हैं।[3] इन अस्तिकायो से त्रैलोक्य निष्पन्न है।[4]

पचास्तिकायो मे अस्तित्व की सिद्धि होती है। गुण पर्यायो के साथ तन्मयत्व ही अस्तित्व है। अन्वयी अथवा सहभावी गुणो तथा व्यतिरेकी अथवा क्रमवर्ती पर्यायो के कारण जीवादि पचास्तिकायो का अस्तित्व है। ये पचास्तिकाय सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि भेदो से भिन्न तथा बहुप्रदेश रूप होने मे (काय रूप से) सत्ता रूप से अभिन्न हैं। अस्तिकाय स्वाभावविभाव रूप से अथवा अर्थ व्यजन पर्याय रूप मे नाना प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ—केवलज्ञानादि जीव के स्वभाव गुण हैं, मतिज्ञानादि विभावगुण हैं, सिद्ध रूप स्वभाव पर्याय है तथा नर-नारकादि विभाव पर्याय है। शुद्ध परमाणु म वर्णादि स्वभाव गुण है, द्वयणुकादिस्कन्ध मे वर्णादि विभावगुण हैं, शुद्ध परमाणु रूप से पुद्गल की अवस्थिति उसकी स्वभावद्रव्यपर्याय है, शुद्ध परमाणु मे वर्णादि से अन्यवर्णादिरूप-परिवर्तन स्वभावगुणपर्याय है, द्वयणुकादि स्कन्द रूप से परिणमन विभावद्रव्यपर्याय है, उन्ही द्वयणुकादि स्कन्धो मे वर्णान्तरादि परिणमन विभाव गुण पर्याय हैं। जीव-पुदगल के उक्त विशेष गुण है, अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि गुण सर्वद्रव्य साधारण है।

पांचो अस्तिकायो मे प्रदेशप्रचय रूप एकता है, शरीर के समान बहुप्रदेशप्रचय होने के कारण जीवादि का कायत्व सिद्ध होता है। जीव, धर्म और अधर्म ये तीनो द्रव्य असख्यात प्रदेशी हैं, आकाश अनन्त प्रदेशी है तथा पुद्गल द्रव्य यद्यपि निरवयव परमाणु एक प्रदेशी भी है तथापि उसमें सावयवत्वशक्ति का सद्भाव होने से कायत्व सिद्धि होती

है। 'पुद्गल से भिन्न द्रव्यो के मूर्त होने से अविभाज्य उन द्रव्यो की सावयवत्वकल्पना अयोग्य है'—यह शका नहीं करनी चाहिए क्योकि अविभाज्य आकाश आदि मे भी यह 'घटाकाशमिद','अघटाकाशमिद' इस रूप से विभाग माना जाता है, विभाग न मानने पर घटाकाश ही अघटाकाश हो जायेगा जो कि मान्य नही है। इसलिए कालाणुओ के अतिरिक्त जीवादि सभी द्रव्यो का काय रूप सावयवत्व कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वीकार किया है। कालाणुओ का नियत अस्तित्व होने पर भी अणुबन्ध मे कारणभूत स्निग्धरूक्षत्व शक्ति का कालाणुओ मे अभाव होने से कालाणुओ को उपचार से भी काय नहीं कहा जा सकता।[५]

पचास्तिकाय को जानने का प्रयोजन

> **पाँचों अस्तिकायों मे स्वशुद्धजीवास्तिकाय ही**
> **उपादेय है, अन्य सब हेय हैं।[६]**
> **शुद्ध जीवास्तिकाय की अनन्तज्ञानादिरूप गुणसत्ता,**
> **सिद्धपर्याय रूप द्रव्यसत्ता और शुद्ध असख्यातप्रदेश रूप**
> **कायत्व उपादेय है[७]**

अतएव कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय के सग्रह को प्रवचनसार कहा है और ऐसे पचास्तिकाय-सग्रह रूप प्रवचनसार को जानकर जो राग और द्वेष का परित्याग करता है वह सासारिक दु खो से मुक्ति प्राप्त करता है ऐसा निर्देश दिया है। पचास्तिकाय के रहस्यभूत शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर जो पुरुष निजस्वरूप मे तन्मय होने का यत्न करता है वह दर्शनमोह को नष्ट कर राग द्वेष का प्रशमन करता हुआ ससार रहित हो जाता है, पूर्वापर बध से मुक्त हो जाता है।[८]

पूर्वोक्त पचास्तिकाय काल से सयुक्त होकर द्रव्य कहलाते है, ये षड् द्रव्य त्रिकाल सम्बन्धी सहवर्ती तथा क्रमवर्ती क्रमश गुणपर्यायो के अनन्यतया आधारभूत होने मे द्रव्य कहलाते हैं। भूत, भविष्य, वर्तमानकालीन भावो के पर्यायो के स्वरूप से अस्तिकाय परिणमन करते हैं और इनके परिणमन से कालद्रव्य का अस्तित्व प्रकट होता है। कालद्रव्य रूप निमित्त के बिना पुद्गलादि का परिणमन सम्भव नही है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने षड्द्रव्यनिरूपण करते हुए द्रव्यो का वर्गीकरण मूर्त और अमूर्त की अपेक्षा से दो वर्गों मे किया है। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँचो द्रव्य अमूत अर्थात् रूप, रस, ग्रथ व स्पर्श से रहित है। केवल पुद्गल द्रव्य ही मूर्त है। जीव जिन पदार्थों को इन्द्रियो द्वारा ग्रहण करते है वे मूर्त हैं, शेष अमूर्त। मन मूर्त और अमूर्त दोनो प्रकार के पदार्थों को जानता हैं।

जीवद्रव्य और पुदगलद्रव्य परिणमनशील है इनके अतिरिक्त शेष चार द्रव्यो मे विभाव परिणमन नही होता। जीवद्रव्य पुद्गल का निमित्त प्राप्त कर तथा पुद्गलद्रव्य जीव का निमित्त प्राप्त कर परिणमनशील होते हैं। जीव का परिणमन जीव ही करता है, पुद्गल नही, पुद्गल निमित्त मात्र है। जीव और पुद्गल का यह परिणमन भी स्वभावपरिणमन तथा विभाव परिणमन भेद से दो प्रकार का है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कालद्रव्य का कथन व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से किया है। व्यवहारकाल पर्यायप्रधान होने से क्षणभगुर है तथा निश्चयकाल द्रव्यप्रधान होने से नित्य है। (व्यवहार काल की उत्पत्ति जीव पुद्गलो के परिणाम से होती है तथा जीव पुद्गलो के परिणाम निश्चयकालाणु रूप कालद्रव्य से उत्पन्न होते हैं।) जीव और पुद्गल के परिणमन द्वारा ही व्यवहार काल का ज्ञान होता है, पुद्गलादि परिणमन व्यवहारकाल का ज्ञापक लिंग है, जीव-पुद्गलो का परिणमन निश्चयकाल के अभाव मे नही हो सकता अत पुद्गल के परिणमन से निश्चयकाल का ज्ञान होता है, दोनो कालो का यही स्वभाव है।

भूत, भविष्य, वर्तमान भावो के अनुरूप परिणमन करते रहने से द्रव्यो का अनित्यत्व नही समझना चाहिए क्योकि द्रव्य भूत, वर्तमान, भविष्य अवस्थाओ मे भी अपने नियत स्वरूप का परित्याग नही करते हैं।[६]

छहो द्रव्य परस्पर सम्बद्ध होते हैं परस्पर अवकाश प्रदान करते हैं, परस्पर एक-क्षेत्रावगाह रूप से मिलते हैं तथापि स्वभाव को नही त्यागते हैं।[१०]

सत्ता का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विश्व मे विविध लक्षण वाले समस्त द्रव्यो का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।[११] सत् अस्तित्व का सूचक है।[१२] अस्तित्व स्वभाव को अथवा सत् के भाव को ही सत्ता कहते है।[१३] जिसमे एक पर्याय का विनाश, अन्य पर्याय की उत्पत्ति तथा उसी समय अन्वयीगुण के द्वारा ध्रुवत्व हो ऐसी वस्तु का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप लक्षण ही अस्तित्व है।[१४] इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने सत्ता का लक्षण करते हुए उसे 'भगुप्पादधुवत्ता'[१५] अर्थात् भग-उत्पाद ध्रौव्यात्मिका कहा है।

सभी द्रव्य सत्स्वरूप हैं अत सभी मे अस्तित्व स्वभाव पाया जाता है।[१६] द्रव्य नित्यानित्य स्वरूप वाले है, उन्हे सर्वथा नित्य मानने पर नित्य वस्तु मे क्रमभावी पर्याय परिवर्तन का अभाव होगा, जिससे द्रव्य के लक्षण उत्पादव्ययध्रौव्य वाला होने मे दोष उपस्थित होगा अत द्रव्य को सर्वथा नित्य मानने पर द्रव्य का अभाव हो जाएगा। द्रव्य को सर्वथा क्षणिक ही मानने पर तत्वत प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जाएगा अत 'यह वही वस्तु है जिसे पहले देखा था' ऐसे प्रत्यभिज्ञान के निमित्तभूत ध्रौव्य (नित्यत्व) को मानना योग्य है। इस प्रकार पर्यायो के उत्पाद व्यय रूप अनित्यता तथा गुणो की नित्यता होने से उत्पादव्ययध्रौव्या रूप तीन अवस्थाओ मे स्थित द्रव्य सत्तामात्र होता है। अतएव सत्ता उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है ऐसा सिद्ध होता है।

सत्ता के प्रस्तुत लक्षण मे स्याद्वादकथन शैली का सकेत मिलता है। स्वय कुन्द-कुन्दाचार्य ने द्रव्य को आदेशवश सप्तभगो वाला कहा है।[१८] सभी द्रव्य सत्स्वरूप हैं, किन्तु सभी द्रव्य सर्वथा सत् स्वरूप नही हैं, अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् हैं तथा परस्वरूप की अपेक्षा असत् है। जैसे—घट-घट रूप से सत् है, पट रूप से असत् है। अत सभी पदार्थ जैसे अस्तित्वस्वभाव वाले है तथैव नास्तित्व स्वभाव वाले भी है। ये दोनो स्वभाव वाले भी हैं। ये दोनो स्वभाव मिलकर ही पदार्थ की प्रतिनियत सत्ता को कायम

किए हुए हैं। इनमे से यदि एक भी स्वभाव न माना जाए तो वस्तुव्यवस्था नही बन सकती। यदि द्रव्य को अस्तिस्वभाव न माना जाए तो वह शशविषाण की तरह असत् हो जाए, यदि अस्तिस्वभाव मानकर भी उसमें नास्तिस्वभाव न माना जाए तो एक का दूसरे मे अभाव न होने से सभी पदार्थों के एक होने की आपत्ति आ पडेगी। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है, उसमे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है तथापि उस परिणमन मे विद्यमान एकसन्तानत्व के कारण ही प्रत्यभिज्ञान होता है।[१८] प्रत्यभिज्ञान मे कारणभूत एकरूपता का नष्ट न होना ही नित्यता है, सर्वथा नित्य कोई पदार्थ नही है।[१९] अतएव वस्तु नित्यस्वभाव भी है और प्रतिक्षण बदलने वाली पर्याय दृष्टि से अनित्यस्वभाव भी है। इस प्रकार अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, अनित्यस्वभाव ये सामान्यस्वभाव सभी द्रव्यो मे पाए जाते है और द्रव्यदृष्टि से द्रव्य अभिन्न सत्ता वाला होने से अखण्ड वस्तु रूप अभिन्नस्वरूप वाला है।

साराश यह है कि सत्ता का उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक होना ही उसका अस्तित्व-स्वरूप है।

अस्तित्व दो प्रकार का कहा गया है—

(१) सादृश्यास्तित्व

(२) स्वरूपास्तित्व

य ही क्रमश महासत्ता व अवान्तरसत्ता रूप से कहे गए हैं।[२०]

सवपदाथ समूह मे व्याप्त होन वाली सादृश्य अस्तित्व को सूचित करने वाली महासत्ता है तथा प्रतिनियतवस्तुवर्ती तथा स्वरूपास्तित्व की सूचिका अर्थात् पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व सूचित करन वाली अवान्तर सत्ता है। सत् स्वरूप सवगत सामान्य-लक्षणभूत सादृश्य अस्तित्व वास्तव मे एक ही है तथा प्रत्येक द्रव्य की सीमा का बाँधते हुए विशेषलक्षणभूत द्रव्य स्वरूपास्तित्व म लक्षित होते है।[२१]

इस प्रकार समस्त वस्तुओ के विस्तार रूप से व्याप्त, सवपदार्थों क स्वरूपो तथा अनन्तपर्यायो म रहन वाली महासत्ता है तथा प्रतिनियत एक वस्तु मे व्याप्त, विशेष रूप तथा विशेष पर्याय म रहन वाली अवान्तर सत्ता है।[२२]

कुन्दकुन्दाचाय न लोक म व्याप्त समस्त द्रव्यो मे **एक सत्ता** का स्वीकार किया है। द्रव्यार्थिक दृष्टि मे यह सत्ता समस्त पदार्थो मे द्रव्य के सद्भाव का निरूपण करती है। लोक मे जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते है व सभी द्रव्य निर्मित है अत द्रव्य की दृष्टि स उन सभी को एक वर्ग क अ तगत माना जा सकता है और यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि व सब द्रव्य है अथवा उन सभी मे एक ही सत्ता विद्यमान है जिसे द्रव्य की सत्ता कहा जा सकता है। लोकपर्यन्त द्रव्यो का सद्भाव होने के कारण यह सत्ता विश्वरूपा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इस सत्ता को सर्व पदार्थों मे स्थित विश्वरूपा तथा एक कहा है।[२३] उनकी कृतियो के टीकाकार इस सत्ता को महासत्ता की सज्ञा प्रदान करते है।[२४] पर्यायार्थिक दृष्टि से कोई भी द्रव्य पर्याय से रहित नही हो सकता अत यदि द्रव्य मे सत्ता है तो पर्याय सत्ता से रहित नही हो सकती। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त द्रव्य द्रव्यार्थिक दृष्टि से ध्रौव्य को प्रमुख मानते हुए तथा उत्पाद व्यय को गौण मानते

हुए द्रव्य में महासत्ता स्वीकार करता है।

लोक मे विद्यमान विभिन्न पदार्थ द्रव्य निर्मित होने पर भी भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं। यह सत्य है कि उन सभी मे द्रव्य रूप महासत्ता विद्यमान है किन्तु द्रव्य छ प्रकार का होने के कारण लोक के समस्त पदार्थ छ भिन्न-भिन्न वर्गों मे वर्गीकृत हो जाएँगे, इन छ वर्गों मे से भी प्रत्येक वर्ग मे प्रत्येक द्रव्य दूसरे से पूर्णतया भिन्न अपने चतुष्टय मे परिणमन करता है, द्रव्य के इस परिणमन के कारण उत्पाद और व्यय को प्रमुखता प्राप्त होती है और द्रव्य का ध्रौव्य गौण हो जाता है। परिणमन की परिणति एक पर्याय के व्यय तथा दूसरे पर्याय की उत्पत्ति मे होती है इस प्रकार एक ही द्रव्य का अनन्तानन्त पर्यायों मे रूपान्तरण होता रहता है। पर्यायार्थिक दृष्टि से एक ही द्रव्य की विभिन्न पर्यायो मे भिन्न-भिन्न सत्ता दृष्टिगोचर होती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने सत्ता को अनन्त पर्यायो मे स्थित निर्दिष्ट करते समय सत्ता के इसी स्वरूप की ओर इंगित किया है।[२५] पर्याय के साथ परिवर्तित होने वाले सत्ता के इस स्वरूप को पचास्तिकाय के टीकाकारो ने अवान्तर सत्ता की सज्ञा से अभिहित किया है।[२६]

द्रव्यार्थिक दृष्टि और पर्यायार्थिक दृष्टि परस्पर प्रतिपक्षी है। जहाँ द्रव्य को *प्रधानता दी जाती है वहाँ पर्याय गौण हो जाती है तथा जहाँ पर्याय को प्रधानता प्रदान* की जाती है वहाँ द्रव्य दृष्टि गौण हो जाती है, इससे यह प्रमाणित होता है कि द्रव्यदृष्टि से लोकपर्यन्त समस्त पदार्थों मे एक रूप स्थित महासत्ता उस अवान्तर सत्ता की प्रतिपक्षी है[२७] जिसके दर्शन पर्यायदृष्टि को प्रधानता प्रदान करने पर समस्त पदार्थों मे भिन्न-भिन्न रूप से होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने परस्पर विरोधी इन दोनो सत्ताओ की स्थिति लोकव्यापी द्रव्यो मे सिद्ध करने के लिए सत्ता का लक्षण सप्रतिपक्षा भी निरूपित किया है।[२८] इस प्रकार महासत्ता मे अवातर सत्ता की सप्रतिपक्षता तथा अवातर सत्ता मे महासत्ता की सप्रतिक्षपता द्रव्यों के सम्यक् स्वरूप को समझने मे अत्यधिक सहायक है।

किसी भी द्रव्य को उसकी समग्रता मे जानने के लिए केवल इतना जानना पर्याप्त नही है कि उसम किन-किन गुणो का सद्भाव है अपितु यह जानना भी आवश्यक है कि उसमे किन गुणो का असद्भाव है। एक द्रव्य की सत्ता को उसके चतुष्टय के सन्दर्भ मे जाना जा सकता है, साथ ही परचतुष्टय के असद्भाव द्वारा भी उस द्रव्य का स्वरूप जाना जा सकता है। कुन्दकुन्दाचार्य न 'सत्ता सप्पडिवक्खा' कहकर सत्ता का निरूपण विधि तथा निषेधमुख से किया है। यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसकी सत्ता होनी अवश्यम्भावी है अत यदि सत्ता के अभाव का अस्तित्व कही हो तो वह भी सत्ता रूप ही होगा। इस प्रकार सत्ता के सन्दर्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य का सप्रतिपक्षता से अभिप्राय आकाशकुसुमवत् सत्ता के अभाव से न होकर महासत्ता और अवातरसत्ता मे प्रतिपक्षता से है।

महासत्ता सर्वपदार्थस्थिता है अवातरसत्ता एकपदार्थस्थिता है क्योकि प्रतिनियत पदार्थ की सत्ता प्रतिनियत पदार्थ मे रहती है। यथा—महासत्ता यदि मिट्टी के घट, तांबे के घट और सुवर्ण के घट इत्यादि मे घट रूप से नानारूपेण अथवा सभी घटो मे स्थित है तो उसी का प्रतिपक्ष एक घट रूप अवातर सत्ता है। अथवा किसी एक घट मे जो वर्ण,

गध, रस, स्पर्शादिरूप अनेक तरह की महासत्ता है उसका प्रतिपक्ष विशेष एक गधादि रूप अवांतर सत्ता है।

इसी प्रकार महासत्ता विश्वरूपा है तो अवान्तरसत्ता एकरूपा है। महासत्ता अनतपर्याया है तो अवातर सत्ता एकपर्याया है। महासत्ता उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक रूप त्रिलक्षणा है तो अवातरसत्ता अत्रिलक्षणा है। महासत्ता एक है तो अवातर सत्ता अनेक हैं।

इसका आशय यह नही है कि एक वस्तु मे महासत्ता और अवांतरसत्ता नाम की दो सत्ता होती है। प्रत्येक वस्तु की सत्ता पृथक्-पृथक् है और प्रत्येक वस्तु मे एक ही सत्ता रहती है। द्रव्य दृष्टि से वस्तु को देखने पर वही सत्ता महासत्ता के रूप मे दृष्टिगोचर होती है और पर्यायदृष्टि से देखने पर वही सत्ता अवातरसत्ता के रूप मे दृष्टिगोचर होती है। जब वस्तु को महासत्ता की अपेक्षा से सत् कहा जाता है उस समय अवातर सत्ता की अपेक्षा वस्तु असद्रूप है और जिस समय अवातर सत्ता की अपेक्षा वस्तु सत् कही जाती है उस समय महासत्ता की अपेक्षा वह असद्रूप है। अत द्रव्यार्थिक नय से महासत्ता है और अवातर सत्ता असत्ता है और पर्यायार्थिक नय से अवातरसत्ता सत्ता है और महासत्ता असत्ता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्ता को सप्रतिपक्षा बतलाकर वस्तुविज्ञान का जो रहस्योद्घाटन किया है वह यही है कि जगत् मे जितने भी सत् पदार्थ है वे अन्यापेक्षया असत् भी हैं। न कोई वस्तु सर्वथा सत है और न कोई वस्तु सर्वथा असत् है, किन्तु प्रत्येक वस्तु सदसदात्मक है। वस्तु का अस्तित्व केवल इस बात पर निभर नही है कि वह अपने स्वरूप को अपनाए हुए है किन्तु इस बात पर भी निभर है कि अपने सिवाय वह ससार भर की अन्य वस्तुओ के स्वरूपो को नही अपनाए हुए है।[२९] यदि ऐसा न माना जाए तो किसी भी वस्तु का कोई प्रतिनियत स्वरूप नही रह सकना और ऐसा होने पर सब वस्तुएँ सब रूप हो जाएँगी।

इस प्रकार एक ही गाथा[३] मे सत्ता के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि जगत् के पदार्थ अनक है तथा वे सब नित्यानित्य स्वरूप हैं, उनमे एकान्तिक एकत्व, नित्यत्व या अनित्यत्व नही है। महासत्ता की अपेक्षा से जगत् एक व अवातर सत्ताओ की अपेक्षा से अनेक है। ध्रौव्य की अपेक्षा से नित्य है तथा उत्पादव्यय की अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार जगत् को अनादि, अनन्त एव सत्रूप कहकर अनेकात का स्वरूप तथा महत्त्व स्पष्ट कर दिया।

जानने की प्रक्रिया ज्ञाता और ज्ञेय से सम्बद्ध है।[३१] जीव द्रव्य ही ज्ञाता हो सकता है चेतना और ज्ञान जीव का लक्षण है अत जीव अपनी किसी भी पर्याय मे पूर्णत ज्ञानशून्य नही हो सकता। ज्ञानावरणीय कर्मों का सघनतम आवरण भी आत्मा के ज्ञान को पूर्णत प्रच्छन्न करने मे असमर्थ है, यह तथ्य आत्मा की अनन्त शक्ति का परिचायक है। ससारी जीव अपनी प्रत्येक पर्याय मे ज्ञान से युक्त होता है। ज्ञान की सार्थकता ज्ञेयो को जानने मे है। ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर भिन्न दो स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, जानना और देखना इन सत्ताओ का पारस्परिक क्रिया व्यापार है। ज्ञाता का ज्ञान जैसे-जैसे अधिकाधिक

व्यक्त होता जाता है ज्ञेय का स्वरूप ज्ञाता को तदनुसार अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार ज्ञेयो का इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नही है क्योकि उसमे पुद्गल मध्यस्थ हैं अत वह परोक्ष ज्ञान है।[३२] परोक्ष ज्ञान सीमित और निम्नस्तर का होता है यही कारण है कि उसके साथ आनन्द की अनुभूति की तीव्रता जुडी हुई नही होती। सिद्धावस्था म आत्मा केवल ज्ञान की स्थिति मे होता है, समस्त ज्ञेय अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायो के साथ उसमे युगपत् प्रतिबिम्बित होते हैं इस स्थिति मे सिद्धात्मा मे प्रतिबिम्बित किसी भी ज्ञेय की समस्त अवातर सत्ताओ का विलय उसकी महासत्ता मे हो जाता हैं, महासत्ता के ज्ञान के साथ ही वास्तविक आनन्दानुभूति होती है इस प्रकार कुन्दकुन्दाचाय ने दो परस्पर विरोधी दृष्टियो मे एक तर्क सगत समन्वय प्रस्तुत किया है।

अनन्त अवातर सत्ताओ की शृखला को अनन्त ज्ञान से जानते हुए सिद्धात्मा उस सत्ता का सम्यक् ज्ञान उसकी महासत्ता के रूप मे प्राप्त करता है। जानने की इस प्रक्रिया के एक छोर पर ज्ञेय की महासत्ता है तो दूसरे छोर पर ज्ञाता की महासत्ता। किसी भी ज्ञेय की महासत्ता का ज्ञान आत्मा की अवातर सत्ता द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता। ज्ञेय की महासत्ता का ज्ञान आत्मा की महासत्ता को ही होता है उसकी अवातर सत्ता रूपी पर्याय को कदापि नहीं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इसी तर्क के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य ने यह निर्देश किया है कि जो एक को जानता है वह सभी को जानता है।[33] उनके इस कथन मे स्पष्टत एक से उनका अभिप्राय जीव की उस महासत्ता से है जो एक है और सभी मे उनका अभिप्राय ज्ञेय की अनन्त अवातर सत्ताओ से है। जो जीव द्रव्य की महासत्ता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह सम्यग्ज्ञानी है और उसके ज्ञान मे विश्वसत्ता का प्रतिबिम्बित होना इस बात का प्रमाण है कि उसने षटद्रव्यो के सम्यक् स्वरूप को जान लिया।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित सत्ता निरूपण के दर्शन ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि के 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[३४] तथा उपनिषदो के सन्मूलक सर्वप्रपच के उत्पत्तिवाद मे होते हैं। न्यायवैशेषिक दर्शन मे सामान्य के पर तथा अपर दो भेद करके द्रव्य-गुण कर्म मे रहने वाले सत्ता सामान्य को 'पर' सज्ञा से अभिहित किया है[३५] जो कि कुन्दकुन्दाचार्य के सर्वपदार्थस्था, विश्वरूपा एक महासत्ता के अनुरूप ही है। कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित सत्ता की सप्रतिपक्षता ही न्यायवैशेषिक मे परसामान्य, अपरसामान्य तथा परापरसामान्य के रूप मे परिलक्षित होती है। औपनिषद् दर्शन तथा न्यायवैशेषिक सम्मत सत्ता नित्य है, किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने सत्ता को नित्य मानते हुए उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मिका कहकर उसकी परिणामी नित्यता स्वीकार की है।

कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्यों मे उमास्वाति (ईसा की तृतीय शती) कुन्दकुन्दाचार्य से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के 'तदभावाव्यय नित्यम्'[३६] तथा 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त'[३७] 'सद्द्रव्य लक्षणम्'[३८] आदि सूत्रों के अनुसार उमास्वाति भी सत्ता की परिणामी नित्यता का समर्थन करते हैं।

द्रव्य का स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विश्व मे विविध लक्षण वाले समस्त द्रव्यो का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।[३६] द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं,[४०] सभी द्रव्य स्वाश्रयभूत हैं,[४१] लोक मे कभी भी द्रव्यशून्यता का प्रसग नहीं आता है।

कुन्दकुन्दाचार्य द्रव्य के तीन लक्षण प्रस्तुत करते हैं जो तीनो परस्पर मे सम्बद्ध हैं—"जो सत्ता लक्षण वाला है अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है अथवा गुण और पर्याय का आश्रय है उसे द्रव्य कहते हैं।"[४२] इन तीनो लक्षणो मे पूर्व लक्षण सामान्य हैं तथा उत्तरवर्ती लक्षण क्रमश विशेष हैं।

सत्ता और द्रव्य मे अभेद दृष्टि से सत्ता लक्षण वाला द्रव्य कहा है। प्रदेश भेद न होने से अर्थात् सत्ता तथा द्रव्य के प्रदेश समान ही हैं क्योकि गुण तथा गुणी मे प्रदेश भेद नही होता अतएव सत्ता द्रव्य का अभिन्न लक्षण है, तथापि गुण-गुणी रूप से सत्ता व द्रव्य मे कथचित् भेद है, द्रव्य का स्वरूप सत्ता के स्वरूप से भिन्न है। सत्ता गुण है अत द्रव्य के आश्रित है और स्वय निर्गुण है किन्तु द्रव्य स्वय अनाश्रित है, सत्ता गुण उसमे आश्रित है। इस प्रकार गुण-गुणी भेद से दोनो मे भेद है किन्तु दोनो मे प्रदेशभेद नही है। गुण-गुणी भेद का अर्थ द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य नही समझना चाहिए, नाम, लक्षण आदि के भेद से द्रव्य-गुण मे भेद होने पर भी दोनो का अस्तित्व एक ही है, द्रव्य के बिना गुण नही रह सकते और गुण के बिना द्रव्य का स्वरूप सिद्ध नही होता।[४३]

द्रव्य का स्वभाव उत्पादव्यय-ध्रौव्या रूप है। ये तीनो परस्पर अविनाभावी हैं। व्यय अथवा विनाश के बिना उत्पाद नही होता, उत्पाद के बिना व्यय नही होता, ध्रौव्य के बिना उत्पाद व्यय नही होते और न उत्पादव्यय के बिना ध्रौव्य रहता है। इस प्रकार जो उत्तर पर्याय का उत्पाद है वही पूर्वपर्याय का व्यय है, जो पूर्व पर्याय का व्यय है वही उत्तर पर्याय का उत्पाद है, इसी प्रकार जो उत्पादव्यय है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद व्यय है।

यदि द्रव्य के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य की व्याख्या केवल द्रव्य की अपेक्षा से ही की जाए तो द्रव्य के विनाश तथा द्रव्य की उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित होगा जो द्रव्य के ध्रौव्य का विरोधी होगा। द्रव्य का ध्रौव्य तभी प्रमाणित हो सकता है जबकि द्रव्य स्व अपेक्षा से उत्पाद तथा व्यय रहित हो। द्रव्य मे उत्पाद और उसकी पर्याय की अपेक्षा से है। एक पर्याय के व्यय के पश्चात् ही दूसरी पर्याय की उत्पत्ति सम्भव है। ये दोनो पर्याय एक ही द्रव्य के है अत दोनो पर्यायो मे द्रव्य निज गुण की अपेक्षा से ध्रौव्य से युक्त है। द्रव्य के स्वरूप को इसी अपेक्षा से समझने के लिए 'गुणपज्जयासय'[४४] लक्षण की आवश्यकता अनुभव हुई।

द्रव्य मे स्थित गुण कदापि नष्ट नही होते, आवरण के प्रभाववश द्रव्य के गुण विभिन्न अशो मे आवृत्त हो जाते हैं। जैसे—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण जीव मे ज्ञानगुण कभी कम व्यक्त होता है कभी अधिक, किन्तु जीव द्रव्य की ऐसी स्थिति कदापि सम्भव नही है जब वह ज्ञान गुण से सर्वथा रहित हो क्योकि गुण के अभाव मे

द्रव्य का असद्भाव हो जाएगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य को पर्याय का आश्रय कहकर यह निर्दिष्ट किया है कि पर्याय तभी सम्भव है जब द्रव्य का सद्भाव हो। जब द्रव्य अपनी विशुद्धावस्था मे स्वभाव मे परिणमन करता है तब उसकी पर्याय स्वभाव पर्याय कहलाती है इस पर्याय के लिए किंचित् मात्र भी परद्रव्य की अपेक्षा नही होती। जब द्रव्य परद्रव्य से सयुक्त होता है उस समय उसका परिणमन विभाव-परिणमन कहलाता है फलत उसकी पर्याय भी विभावपर्याय होती है। विभावपर्याय परद्रव्य सापेक्ष होती है जैसे ससारी जीव की विभिन्न पर्याये पुद्गल सापेक्ष हैं। पुद्गल के परमाणु का परिणमन अन्यनिरपेक्ष है अत पुद्गल परमाणु स्वभाव पर्याय है, पुद्गल का स्कन्ध परमाणु अन्य सापेक्ष है अत स्कन्ध उसकी विभाव पर्याय है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्रव्य तथा गुण मे अभेद है और द्रव्य तथा पर्याय मे भी अभेद है[४५] तथापि गुण द्रव्य के सहभावी हैं और पर्याय क्रमभावी। द्रव्य मे गुण की उपस्थिति नित्य है और पर्याय बदलती रहने के कारण द्रव्य की पर्याय अनित्य कही जाती हैं अतएव कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा किए गए लक्षणानुसार द्रव्य गुण और पर्याय का आश्रय होने से कूटस्थनित्य न होकर नित्यानित्य है अथवा उक्त लक्षण से द्रव्य की परिणामी—नित्यता सूचित होती है।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा द्रव्य के तीनो लक्षण प्रकारान्तर से द्रव्य के एक ही स्वरूप को निर्दिष्ट करते हैं और यह प्रमाणित करते हैं कि जैन दर्शन मे एक ही मूल पदार्थ है और वह है—द्रव्य।

प्रथम लक्षण मे सत्ता के दो भेद (१) महासत्ता तथा (२) अवांतर सत्ता। महासत्ता नित्य है तथा अवातर सत्ता अनित्य। द्वितीय लक्षण मे वर्णित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मे ध्रौव्य नित्य है तथा उत्पाद-व्यय अनित्य। इसी प्रकार तृतीय लक्षण के निर्दिष्ट गुण और पर्याय मे गुण नित्य है और पर्याय अनित्य। गुण नित्य है, अत उसमे ध्रौव्य है—अत उसमे द्रव्य से अभेद होने के कारण महासत्ता है, गुण की यह महासत्ता द्रव्य के कारण ही है क्योकि द्रव्य के अभाव मे सत्ता की कल्पना नही की जा सकती। पर्याय अनित्य है अत वह उत्पाद-व्यय युक्त है अत उसमे द्रव्य से अभेद होने के कारण द्रव्य की विशेषता की द्योतक अवातर सत्ता है इस प्रकार इन तीनो लक्षणो मे नित्यता के द्योतक गुण, ध्रौव्य तथा महासत्ता अन्तत परस्पर समाहित हो जाते हैं। इसी प्रकार अनित्यता के परिचायक पर्याय, उत्पाद-व्यय तथा अवातर सत्ता परस्पर समाहित हो द्रव्य की कूटस्थ नित्यता का खण्डन करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार सत् का विनाश नही होता और असत् की उत्पत्ति नही होती।[४६] पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य है। सत् का विनाश द्रव्य की ध्रौव्यता के कारण नहीं होता। कुन्दकुन्दाचार्य ने सत् के विनाश का अभाव तथा असत् की उत्पत्ति के अभाव के सिद्धान्त को भी एकान्तिक दृष्टि से स्वीकार नही किया है अपितु वे पर्याय दृष्टि से सत् का विनाश तथा असत् की उत्पत्ति की सम्भावनाओ को भी प्रस्तुत करते हैं। वे इस स्थिति को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है—मनुष्य के मरकर देव हो जाने पर सत् रूप मनुष्य पर्याय का विनाश हुआ और

असत् रूप देव पर्याय का उत्पात हुआ। मनुष्यपर्याय मे मनुष्य सत् रूप है और देव पर्याय असत् रूप क्योकि एक समय मे दो पर्याय नही रह सकती। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से यह कथन उपयुक्त है कि सत् का विनाश नही और असत् का उत्पाद नही तथा पर्यायार्थिक नय की अपक्षा से यह कथन भी उपयुक्त है कि सत् का विनाश तथा असत् का उत्पाद होता है।

अनादिकाल मे ससारी जीव कर्मों से बधा हुआ है और वह सिद्ध पर्याय की प्राप्ति इन कर्मों के पूर्णत क्षय होने की स्थिति मे ही कर सकता है।[४७] ससारी जीव को कर्मबन्धन रहते हुए सिद्ध पर्याय का सद्भाव नही हो सकता क्योकि ससारी पर्याय और सिद्ध पर्याय मे सहावनस्थान नामक विरोध है। द्रव्य दृष्टि से ससारी पर्याय तथा सिद्ध पर्याय दोनो मे ही जीवद्रव्य पूर्ववत् रहता है, वह न तो नष्ट होता न उत्पन्न ही, केवल मात्र उसकी एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। प्रस्तुत प्रसग मे यह ध्यानत्व है कि अन्य लौकिक उदाहरणो मे पर्याय परिवर्तन की श्रृखला के समान सिद्ध पर्याय प्राप्त करने के बाद जीव मनुष्यादि पर्याय मे परिणत नही होता किन्तु इतना अवश्य है कि सिद्ध की आत्मा मे प्रतिबिम्बित होने वाले त्रिकालवर्ती अनन्तपर्यायात्मक ज्ञेयो का प्रतिक्षण परिणत होने वाला परिणाम सिद्धात्मा मे उसी रूप मे झलकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने इस मान्यता का भी निषेध किया है कि—'ज्ञान के समवाय से आत्मा ज्ञानी होता है'[४८] क्योकि इस सदर्भ मे यह शका स्वाभाविक है कि यदि आत्मा ज्ञान के समवाय से ज्ञानी होता है तो ज्ञान के साथ समवाय होन से पूर्व आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी था तो ज्ञान का समवाय मानने की आवश्यकता ही नही रहती यदि अज्ञानी था तो किस कारण से ? क्या अज्ञान के साथ उसका समवाय था या अज्ञान के साथ उसका एकत्व था। अज्ञानी आत्मा अज्ञान के समवाय मे अज्ञानी हो सकता है यह कहना उचित नही क्योकि जो आत्मा पहले से ही अज्ञानी ही है उसके लिए अज्ञान का समवाय निष्फल है। 'अज्ञानी' ऐसा वचन अज्ञान के साथ आत्मा के एकत्व सिद्ध होने से ज्ञानी आत्मा का ज्ञान के साथ भी एकत्व अवश्य सिद्ध होता है।

मेरे विचार से गुण और गुणी अथवा ज्ञान और ज्ञानी मे द्रव्य क्षेत्रादि चतुष्टय का अभेद होने के कारण एकत्व अथवा अभेद हैं तथा द्रव्य और गुण मे आश्रय और आश्रित की अपेक्षा से कथचित् भेद है। ज्ञान गुण का आश्रय जीव ज्ञान के अतिरिक्त सुख एव वीर्य आदि अन्य गुणो का आश्रय भी हो सकता है, एक ही द्रव्य मे अनन्त गुण सम्भव है अत ज्ञान गुण को आश्रय प्रदान करने वाला जीव सर्वथा एक गुण रूप ही नही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से इनमे कथचित् भेद है।

पचास्तिकाय-निरूपण

(१) जीवास्तिकाय

कुन्दकुन्दाचार्य जीव शब्द की निर्युक्ति इस प्रकार करते हैं जो चार प्राणो द्वारा वर्तमान मे जीवित है, भविष्य मे जीवित होगा और भूतकाल मे जीवित था, वह जीव

है।[४६] जीव के चार प्राण होते हैं—(१) इन्द्रिय (२) बल (३) आयु और (४) श्वासोच्छ्वास। जो निश्चयनय की अपेक्षा भाव प्राणों से और व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्य प्राणों से जीवित रहता है वह जीव कहलाता है। जीव निश्चयनय की दृष्टि से चेतनामय है, व्यवहारनय की दृष्टि से चेतना गुणसयुक्त है। निश्चयनय की दृष्टि से, केवल ज्ञान-केवल-दर्शन उपयोग से विशिष्ट है तथा अशुद्धनय की दृष्टि से मति ज्ञानादि क्षायोपशमिक उपयोग से विशिष्ट है। जीव प्रभु है क्योंकि वह परिणमन मे समर्थ है, वह शुद्ध तथा अशुद्ध द्विविध परिणामो मे परिणत होता है। शुद्ध परिणाम मोक्ष के कारणभूत हैं, अशुद्ध परिणाम ससार के कारणभूत हैं। जीव कर्ता है क्योंकि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वह शुद्ध भावो का तथा व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का कर्ता है। जीव भोक्ता है क्योकि शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से वह वीतराग परमानन्द सुख का, अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से कर्मों द्वारा उत्पन्न सुख दु खादि का तथा अनुपचरित व्यवहारनय की दृष्टि से इष्टानिष्ट विषयो का भोक्ता है। जीव स्वदेह मात्र है क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से लोकाकाश के समान असख्यात प्रदेशी होने पर भी व्यवहारनय की दृष्टि से नामकर्मोदय जनित शरीर के परिमाण के बराबर रहता है। व्यवहार से जीव कर्मो के साथ एकत्व परिणाम वाला होने से मूर्त है तथापि निश्चय से रूपादिरहित अमूर्त है, ससारी जीव कर्म सयुक्त है।[५०]

जिस प्रकार क्षीर मे रखी हुई पद्मरागमणि अपनी प्रभा से समस्त दूध को व्याप्त कर लेती है उसी प्रकार यह जीव भी जिस शरीर मे स्थित होता है उसे सब ओर से व्याप्त कर लेता है। पौष्टिक आहारादि के निमित्त से शरीर के बढने पर बढता है और दुबलता आने के समय शरीर के घटने पर घटता है। यह जीव जब एक शरीर को त्याग-कर नाम कर्मों से प्राप्त हुए दूसरे छोटे बडे शरीर मे पहुँचता है तब उसे भी व्याप्त कर लेता है,[५१] जीव का यह स्वदेह परिमाण गुण है। जीव की सामान्य विशेषताएँ बताने के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य मुक्त जीव का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। यह जीव कर्ममल से विप्र-मुक्त हो सर्वज्ञ और सवदर्शी होकर ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोकाग्रभाग मे सिद्ध क्षेत्र मे स्थित होता है और वहाँ अनन्त अतीन्द्रिय सुख अनुभव करता है। जो आत्मा पहले ससारी अवस्था मे इन्द्रिय जनित बाधा से युक्त पराधीन तथा मूर्त द्रव्यो मे प्राप्त सुख का अनुभव करता था अब वही चिदात्मा मुक्त अवस्था मे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनन्त, अव्याबाध, स्वाधीन और अमूर्त आत्म सुख का अनुभव करता है।

इस प्रकार जिनके कर्म द्वारा उत्पन्न द्रव्य प्राण रूप जीवभाव का सद्भाव नही है तथा शुद्ध चेतना रूप भाव प्राणो से युक्त होने के कारण सर्वथा उसका अभाव भी नही है, जो शरीर से रहित हैं और जिनकी महिमा वचन के अगोचर है वे सिद्ध जीव हैं।[५२] ऐसे सिद्ध जीव किसी बाह्य कारण से उत्पन्न न होने के कारण कार्य नही हैं और मुक्त होने की अपेक्षा से वे किसी कार्य को उत्पन्न नही करते हैं, अत कारण भी नही हैं। जीव शब्द की निर्युक्ति करते समय जीव को बल, इन्द्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास चार प्राणो से युक्त बताया है। किन्तु सिद्धावस्था मे जीव के इन चारो प्राणो का अभाव होता है अत यह शका उत्पन्न होती है कि मोक्ष मे जीव का सद्भाव माना जाय अथवा नही ? सिद्धात्मा मे

शाश्वत-उच्छेद, भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य, विज्ञान और अविज्ञान आठ भावो का सद्भाव पाया जाता है।[५३] द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा जीव द्रव्य का सदैव ध्रौव्य रहना ही मुक्त जीव की शाश्वतता है। पर्यायार्थिक दृष्टि से अगुरुलगु गुण द्वारा प्रति समय षड्गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमन ही मुक्त जीव का उच्छेद भाव है। सिद्धावस्था म विकार रहित चिदानन्द रूप स्वभाव मे परिणमन करना ही सिद्धात्मा का भव्यत्व भाव है। राग द्वेषादि एव मिथ्यात्व आदि विभाव परिणति से रहित होना ही मुक्तात्मा का अभव्यत्व भाव है। कर्ममल से पूर्णत रहित विशुद्ध स्वचतुष्टय स भिन्न परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एव परभाव रूप परचतुष्टय का पूर्ण अभाव होना ही शून्य भाव है। स्वचतुष्टय का सद्भाव रहना ही मुक्त जीव का अशून्य भाव है। स्वपरप्रकाशक निर्मल केवल ज्ञान की अलौकिक आभा द्वारा समस्त द्रव्य गुण एव पर्यायो को एक साथ ही प्रकाशित करना तथा विशुद्ध अनन्त ज्ञानमय हो स्वानुभव मे समर्थ होना ही केवल ज्ञान से युक्त सिद्धात्मा का विज्ञान भाव है। कुमति, कुश्रुत व विर्भगावधि इन तीन मिथ्याज्ञान एव मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान व मन पर्यय ज्ञान रूपी क्षायोपशमिक ज्ञान का सिद्धात्मा मे पूर्ण असद्भाव होना ही उसका अविज्ञान भाव है। मुक्तावस्था मे उपर्युक्त आठ भावो की उपस्थिति के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य ने सौगतो की इस मान्यता 'मोक्ष अवस्था मे जीव का अभाव रहता है' का खण्डन किया है। इन आठ भावो का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव हो जायेगा द्रव्य के अभाव से ससार और मोक्ष दोनो अवस्था का अभाव हो जायेगा अत मोक्ष अवस्था के साथ इन आठ भावो का सद्भाव मानना आवश्यक है। इस मान्यता के आधार पर मोक्ष अवस्था मे जीव का सद्भाव स्वत ही प्रमाणित हो जाता है। अमृतचन्द्राचार्य इस सदर्भ मे टीका करते है—"मुक्तस्य तु केवलानामेव भावप्राणाना धारणात्तदवसेयमिति" अर्थात् शुद्ध जीव मोक्षावस्था मे केवल शुद्ध चैतन्यादि गुणरूप भाव प्राणो मे जीता है।[५४]

भाव के आधार पर जीव के पाँच सामान्य गुण होते हैं—कर्मों के उदय द्वारा उत्पन्न भाव औदयिक, कर्मों के उपशम द्वारा जनित भाव औपशमिक, कर्मों के क्षय के अनुरूप भाव क्षायिक, कर्मों के क्षयोपशम से उदित होने वाला भाव क्षायोपशमिक तथा आत्मीय निज परिणामो से बदलने वाले भाव पारिणामिक कहलाते हैं। ये पाँचो भाव ही जीव के पाँच सामान्य गुण हैं तथा भाव उपाधि भेद से अनेक अर्थों मे विस्तीर्ण हैं।[५५] उदय मे आने वाले द्रव्यकर्म का वेदन (भोग) करते समय जीव जिस प्रकार के भाव करता है वह उन भावो का कर्ता होता है। आत्मा के रोगादि विभावो का उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम द्रव्य कर्म के अभाव मे नही हो सकता। इस अपेक्षा से जीव के उपर्युक्त चारो भाव द्रव्यकर्मकृत है। इस विषय को मुमुक्षुओ के लिए अधिक बोधगम्य बनाने के लिये कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे प्रश्नोत्तर रूप से पूर्वपक्ष स्थापित कर उत्तर पक्ष स्थापित करते हैं।

पूर्वपक्ष—यदि औदयिक आदि चारो भाव द्रव्यकर्मकृत है तो आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता किस प्रकार हो सकता है क्योकि वह मात्र निजभाव का कर्ता है अन्य किसी का नही। यदि केवल मात्र द्रव्य कम को ही औदयिक आदि चारो भावो का कर्ता स्वीकार

किया जाए तो इस स्थिति मे आत्मा अकर्ता प्रमाणित होगा। आत्मा के अकर्ता होने के कारण ससार का ही अभाव हो जाएगा। यदि आत्मा को द्रव्यकर्म का कर्ता निर्दिष्ट करके ससार का अभाव नही होने दे तो इस स्थिति मे पुद्गल के परिणामरूप द्रव्यकर्म का कर्ता आत्मा कैसे हो सकता है क्योकि आत्मा निज स्वभाव के अतिरिक्त किसी भी अन्य का कर्ता नही है।

उत्तर पक्ष—इस प्रश्न के समाधान के रूप मे कुन्दकुन्दाचार्य कारण के दो भेदो की ओर इगित करते प्रतीत होते है—उपादान-कारण, निमित्त कारण। भाव कर्म का उपादान कारण आत्मा है तथा उसका निमित्त कारण द्रव्यकर्म हैं। इसी प्रकार द्रव्य कर्म का उपादान कारण पुद्गलद्रव्य है और निमित्त कारण औदयिक आदि चार भाव कर्म हैं। स्पष्ट है कि भावकर्म का कर्ता द्रव्यकर्म व्यवहार की अपेक्षा से है इसी प्रकार द्रव्य-कर्म का कर्ता भावकर्म भी व्यवहार की अपेक्षा से ही है। निश्चय कीदृष्टि से निजभाव को करता हुआ आत्मा निजभाव का ही कर्ता है, पुद्गलरूप द्रव्यकर्मों का कर्ता नही है। कर्म का कर्ता कर्म ही है और जीव का कर्ता जीव। औपचारिक दृष्टि से जीव पुद्गल द्रव्य मे होने वाले कर्मरूप परिणमन का कर्ता कहलाता है। इसी दृष्टि से जीवद्रव्य मे नर-नारकादि परिणमन का कर्ता कर्म कहलाता है। विषयवस्तु को सुस्पष्ट बनाने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य पुन शका प्रस्तुत करते हैं कि यदि आत्मा आत्मा का कर्ता है तथा कर्म कर्म का, ऐसी स्थिति मे कर्म आत्मा को किस प्रकार फल देता है? और आत्मा कर्मफल का भोक्ता किस प्रकार है? जब आत्मा अशुद्ध रागादि परिणामो को करता है तब आत्मा मे नीरक्षीरवत् एकावगाही कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध स्वत ही कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। जैसे—पुद्गलद्रव्य मे अनेक प्रकार के स्कन्धो की रचना स्वयमेव ही उत्पन्न होती है, परद्रव्यो द्वारा नही वैसे ही कार्माणवर्गणारूप पुद्गलद्रव्य मे भी स्वत ही कर्मरूप रचना होती है। आत्मा तथा पुद्गलकर्म एकक्षेत्रावगाही होने के कारण नीरक्षीरवत् सम्बन्धित माने जाते हैं। परिपक्वता प्राप्त करने पर कर्म उदय मे आते हैं और खिर जाते है किन्तु खिरने से पूर्व कर्मफल अवश्य प्रदान करते हैं अर्थात् कर्म आत्मा से पृथक् होते समय आत्मा को सुख अथवा दु ख का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार के निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से ही ऐसा निर्देश किया जाता है कि कर्म सुख अथवा दु ख रूप फल प्रदान करते है और जीव उनका भोक्ता होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि आत्मा के रागादि भावो से युक्त द्रव्यकर्म सुख-दु ख आदि रूप कर्मफल का कर्ता है, किन्तु अचेतन होने के कारण द्रव्यकर्म कर्मफल का भोक्ता नही हो सकता। आत्मा ही चेतना से युक्त है अत वही कर्मफल का भोक्ता हो सकता है।[४१]

ससार भ्रमण की व्याख्या करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि ससारी जीव के रागद्वेषादि अशुद्धभाव उसके ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध का कारण होते हैं। कर्मानुसार दूसरी गति प्राप्त होती है उसके अनुरूप जीव औदारिकादि शरीर धारण करता है। शरीर से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, इन्द्रियो से विषय ग्रहण होता है, जो राग द्वेष का कारण है, इस प्रकार यह ससार भ्रमण चक्र चलता ही रहता है। यह चक्र अभव्य जीवों के लिए अनादि अनन्त है और भव्य जीवो के लिए अनादि सात है।[४२] जीव का ससार

भ्रमण जीव से भिन्न पुद्गलद्रव्य से सयुक्त होने पर होता है यही जीव का बन्धन है किंवा जीव की विभावदशा है और पुद्गल, पुद्गल से ही सम्बद्ध हो विभाव दशा को प्राप्त करता है।

स्वभाव प्राप्त द्रव्य की स्थिति पर विचार करने पर निम्न निष्कर्ष निकलता है कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल स्वभाव मे ही स्थित है, पुद्गल अपनी परमाणु अवस्था मे शुद्ध था और स्कन्ध रूप मे अशुद्ध अत ऐसा नहीं है कि परमाणु रूप होने पर स्कन्ध पुन स्कन्ध रूप विभाव को प्राप्त नही करेगा किन्तु जीव अनादि काल से अशुद्ध था अत वह शुद्ध होकर पुन अशुद्ध नही होगा अर्थात् स्वभाव को प्राप्त कर जीव विभाव को प्राप्त नही करेगा क्योकि जीव का अभूतपूर्व (पूर्व मे अप्राप्त) सिद्धत्व ही उसके पुन बन्ध का बाधक है ऐसा हेतु कुन्दकुन्दाचार्य ने पञ्चास्तिकाय गाथा २० मे दिया है—

"णाणावरणादीया भावा जीवेण सुठठु अणुबद्धा।
तेसिमभाव किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो॥

(६) विभिन्न अपेक्षाओं से जीव के भेद

जीव के भेदो का निरूपण करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने सामान्य कथन की अपेक्षा जीव के दस भेदो का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है—चैतन्यगुणयुक्त होने के कारण जीव एक प्रकार का है। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग भेद से जीव दो प्रकार का है। उत्पत्ति, विनाश-ध्रौव्य युक्त होने से जीव तीन प्रकार का है, चतुर्गति मे भ्रमण करने के कारण जीव चार प्रकार का है। औपशमिकादि पाँच भावो को धारण करने के कारण जीव पाँच प्रकार का है। चारो दिशाओ तथा ऊपर नीचे अपक्रम करने से जीव छ प्रकार का है सप्तभगो से युक्त होने से जीव सात प्रकार का है। आठ गुणो का आश्रय होने से जीव आठ प्रकार का है। नौ पदार्थरूप प्रवृत्ति होने से जीव नौ प्रकार का है तथा पृथ्वी जल, तेज, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पचेन्द्रिय इन दस भेदो से युक्त होने के कारण जीव दस प्रकार का है।[५८]

विशेष कथन की अपेक्षा से कुन्दकुन्दाचार्य ने त्रिविध चेतना की अपेक्षा जीव के तीन भेद किये हैं।[५९] ससारी और मुक्त जीवो के दो भेदो का कथन है[६०] स्वसमय और परसमय की अपेक्षा भी जीवो के दो भेद किये गये हैं तथा ऐसा उल्लेख है कि जीव निश्चय से स्वभाव मे नियत है लेकिन परद्रव्यो के गुण पर्यायो मे रत होने के कारण परसमय रूप हो रहा है। जब यह जीव परद्रव्य से हटकर स्वरूप मे रत होता है तब यह स्वसमय को करता है और कर्मबन्धन से रहित हो जाता है।

पुद्गलास्तिकाय

जीव द्रव्य का विभिन्न दृष्टियो से निरूपण करने के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य पुद्गलद्रव्य का वर्णन करते हुए पुद्गल द्रव्य के चार भेद इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—(१) स्कन्ध (२) देश (३) प्रदेश और (४) परमाणु।[६१] पुद्गलपिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तु

स्कन्ध कहलाती है। स्कन्ध के अर्द्ध को देश कहते हैं और देश के अर्द्ध को प्रदेश कहते है। इस प्रकार विभाजन करते चले जाने पर अन्तत जो अविभागी अश प्राप्त होता है उसे परमाणु कहत है। परमाणु नित्य है, शब्द रहित है एक है, अविभाज्य है, मूर्तस्कन्ध से उत्पन्न है और मूर्त स्कन्ध का कारण भी है, जो गुण गुणी के सज्ञादिक भेदो से मूर्त है, शब्दरहित है, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का समान कारण है, परिणमनशील है उसे परमाणु मानना चाहिए।[१२] किसी वस्तु के ऐसे समस्त परमाणुओ स बने पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं। तीनो लोको की रचना जिन स्कन्धो से मिलकर हुई है, उनके छ भेद हैं[१३]—

१ **बादर बादर**—ऐसे पुद्गल पिण्ड जो दो खण्ड करने पर पुन न मिल सके जैसे—काष्ठ पाषाणादि।

२ **बादर** —जो स्कन्ध खण्ड-खण्ड होने पर भी अपने आप मिल जावे, जैसे—जल, घृत आदि।

३ **बादर सूक्ष्म** —जो देखने मे स्थूल होने पर भी ग्रहण (पकड) मे न आवें जैसे—धूप, चाँदनी आदि।

४ **सूक्ष्म बादर** —जो चक्षुरिन्द्रिय से अग्राह्य होने के कारण सूक्ष्म किन्तु अन्य इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य होने से स्थूल हैं जैसे—स्पर्श, रस, गन्ध आदि।

५ **सूक्ष्म** — जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य हो जैसे—कार्माणवर्गणा।

६ **सूक्ष्म सूक्ष्म** —कार्माणवर्गणा से नीचे द्वयणुक स्कन्ध तक पुद्गल द्रव्य।

स्कन्धो के परस्पर स्पर्श से ही शब्द उत्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति आकाश से नही होती अपितु भाषावर्गणा के स्कन्धो से होती है। परस्पर महास्कन्धो का सघट्ट होने पर शब्द की उत्पत्ति होती है। स्वभाव से उत्पन्न अनन्तपरमाणुओ के पिण्डरूप शब्दयोग्य वर्गणाएँ परस्पर मिलकर इस लोक मे सर्वत्र व्याप्त है, जहाँ-जहाँ शब्दोत्पत्ति की बाह्यसामग्री का सयोग प्राप्त होता है वहाँ वे शब्दयोग्यवर्गणाएँ स्वयमेव शब्दरूप परिणत हो जाती है, इस प्रकार शब्द निश्चय ही पुद्गलस्कन्धो से उत्पन्न होता है। न्यायवैशेषिकदर्शन मान्य शब्द आकाश के विशेष गुण रूप मे स्वीकृत है[१४] किन्तु शब्द को आकाश का गुण मानने पर शब्द की श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्यता मे बाधा उपस्थित होती है, क्योकि आकाश अमूर्त द्रव्य है अत अमूर्त आकाश का गुण भी अमूर्त होना चाहिए। इन्द्रियाँ मूर्त हैं और मूर्तपदार्थों का ही ज्ञान कराने मे सक्षम हैं अत श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य शब्द पुद्गलात्मक सिद्ध होता है। शब्द के दो भेद है—[१५]

१ **उत्पादित**—पुरुष प्रयोगोत्पन्न शब्द उत्पादित है तथा

२ **नियत** —वैश्रसिक मेघादि से उत्पन्न होने वाला शब्द नियत है।

परमाणु से मिलकर बना स्कन्ध शब्द का कारण है किन्तु परमाणु स्वय शब्द से रहित है। कुन्दकुन्दाचार्य परमाणु की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—*जो द्रव्य एकरस, एकवर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्शों से युक्त है, शब्द का कारण है परन्तु स्वय शब्द*

से रहित है, स्कन्ध से भिन्न है अर्थात् स्कन्ध के अन्तर्गत होने पर भी स्वस्वभाव की अपेक्षा से स्कन्ध से भिन्न है उसे परमाणु कहते हैं।[६६] यह परमाणु स्कन्धरूप से परिणत होने पर शब्द पर्याय का कारण बनता है और जब स्कध से रहित होता है तब शब्द से रहित है। परमाणु अपने एकदेश परिणमन से नष्ट न होने के कारण नित्य है। स्पर्शादि गुणो को अवकाश देता है अत सावकाश है किन्तु वह अनवकाश भी है क्योंकि द्वितीयादि प्रदेशो को अवकाश नही देता है। स्कन्धो का भेदक है, स्कन्धो का कर्ता है, आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति द्वारा पहुँचकर 'समय' रूप से काल का विभाग करता है, इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रकाल भाव रूप चार प्रकार की सख्याओ का विभाजक है।

समस्त मूत पदार्थ पुद्गल हैं यथा—श्रोत्रादि पाँचो इन्द्रियो से उपभोग्य शब्दादि विषय, श्रोत्रादि पाँचो इन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पच शरीर, पौद्गलिक द्रव्यमन, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, नोकर्म आदि।

धर्मास्तिकाय

चेतना शून्य होने के कारण धर्मास्तिकाय अजीवद्रव्य मे परिगणित है।[६७] धर्मास्तिकाय स्पर्श रस, गध और वर्ण गुणो से रहित है अतएव अमूर्त द्रव्य है। पौद्गलिक शब्द पर्याय का धर्मास्तिकाय एक अखण्ड द्रव्य है तथापि लोकव्यापी असख्य-प्रदेशी है।[६८] लोकाकाश के असख्य प्रदेश हैं अत धर्मास्तिकाय के भी असख्य प्रदेश है क्योंकि लोकाकाश के बाहर धर्मास्तिकाय की सत्ता नही।[६९] असख्य प्रदेशी अस्तित्वान् होने के कारण धर्मद्रव्य धर्मास्तिकाय कहलाता है। गृह मे अवस्थित घट के समान धर्मास्तिकाय लोक मे अवस्थित नही है वरन् तिल मे तैलवत् सम्पूर्ण लोकाकाश मे धर्मास्तिकाय का अवगाह है अत अयुतसिद्धप्रदेश के कारण ही उसे पचास्तिकाय म 'पुट्ठ' अर्थात् स्पृष्ट कहा गया है।[७०]

जिस प्रकार लोक मे जल मछलियो के गमन मे सहायक होता है तथैव धर्मद्रव्य जीवो तथा पुद्गलो के गमन मे सहायक होता है।[७१] धर्मास्तिकाय स्वय निष्क्रिय है[७२] और यथार्थत अन्य द्रव्यो का भी गमन नही कराता किन्तु जीवो और पुद्गलो की गति मे उदासीन कारण है।[७३] कर्म, नोकर्म पुद्गलो के बाह्य निमित्त से जीव सक्रिय है तथा काल के निमित्त से पुद्गल सक्रिय हैं, ये दोनो स्वय गति करते हैं, इनकी गति मे धर्मास्तिकाय उसी प्रकार सहायक मात्र है जैसे स्वय गमन करती हुई मछली की गति मे जल सहायक होता है।[७४]

अधर्मास्तिकाय

धर्मास्तिकाय के समान अधर्मास्तिकाय भी चेतना शून्य होने से अजीव द्रव्य के अतर्गत परिगणित है। अधर्मास्तिकाय स्पर्श, गध और वर्ण से रहित होने के कारण अमूर्त है, असख्य प्रदेशी तथा लोक व्यापी है, एक तथा निष्क्रिय है। अधर्म द्रव्य अस्तित्ववान् तथा बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहलाता है स्वय स्थिर होते हुए जीव और पुद्गलो की स्थिति मे अधर्मास्तिकाय उसी प्रकार सहकारी कारण अथवा उदासीन

निमित्तमात्र है जिस प्रकार कि स्वय ठहरने वाले घोटक आदि के ठहरने मे पृथ्वी उदासीन निमित्त है।[७५] अनादि नित्य यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और पुद्गलो की स्थिति का प्रेरक न होकर सहकारी कारण मात्र है।[७६]

आकाश द्रव्य को ही गति तथा स्थिति मे निमित्त कारण मानने से धर्माधर्म द्रव्यो की अतिरिक्त कल्पना निरर्थक है ऐसी शका युक्तियुक्त नही है क्योकि धर्माधर्म द्रव्यो को आकाश से पृथक् द्रव्य रूप मे स्वीकार न करने पर लोक और अलोक का भेद उत्पन्न नही हो सकेगा। धर्माधर्म द्रव्य के निमित्त मे जीव और पुद्गल की क्रमश गति तथा स्थिति जहाँ होती है वह लोकाकाश है तथा गति स्थिति का अभाव जहाँ पाया जाता है वह अलोकाकाश है।[७७] जीव और पुद्गल दोनो द्रव्यो की गति और स्थिति रूपी बहिरग हेतु के द्वारा धर्म और अधर्म द्रव्यो का सद्भाव और असद्भाव ही लोकालोक विभाग का जनक है। अत धर्माधर्म द्रव्य की पृथक् सत्ता स्वीकरणीय है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनो अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न होने पर भी एक क्षेत्रावगाह अर्थात् लोकाकाश क्षेत्र की अपेक्षा से पृथक् पृथक् नही हैं क्योकि लोकाकाश के जिन प्रदेशो मे धर्म द्रव्य है उन्हीं प्रदेशो मे अधर्म द्रव्य भी है, हलन-चलन रूप क्रिया से रहित सर्वलोकव्यापी, असख्यात प्रदेशी है।

यदि धर्माधर्म द्रव्य जीव पुद्गलो की क्रमश गति और स्थिति मे उपादान कारण होकर प्रेरक होते तो जीव और पुद्गलो मे से जो गति करते वे सर्वदा चलते ही रहते और जो स्थिर रहते वे सदा स्थिर ही रहते किन्तु लोक मे ऐसा नही पाया जाता अतएव धर्माधर्म द्रव्य मुख्य कारण न होकर उदासीन कारण कहे गए हैं।[७८] व्यवहारनय की अपेक्षा उदासीन अवस्था से जीव व पुद्गलो की गति स्थिति मे धर्माधर्म द्रव्य निमित्त है, निश्चयनय की अपेक्षा से जीव व पुद्गलो की गति स्थिति मे उपादान कारण उनके अपने ही परिणाम हैं।

आकाशास्तिकाय

जो इस लोक मे समस्त जीवो तथा धर्म, अधर्म, काल द्रव्यो और पुद्गलो को अवकाश देता है वह आकाश द्रव्य होता है। आकाश द्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है, निष्क्रिय है, चेतनारहित अमूर्त द्रव्य है। जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य व अधर्म द्रव्य तथा काल की उपस्थिति जिस आकाश द्रव्य मे है वह लोकाकाश कहलाता है तथा जीवादि से रहित आकाशमात्र अलोकाकाश कहलाता है।[७९] अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है तथा लोककाश असख्यात प्रदेशी। इस सदर्भ मे यह प्रश्न स्वाभाविक है कि लोकाकाश के असख्यात प्रदेशी क्षेत्र मे अनन्त जीवादि पदार्थों की अवगाहना कैसे सम्भव है? उत्तर स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक घर मे अनेक दीपो का प्रकाश समाहित रहता है तथैव असख्यात प्रदेशी आकाश मे सहज अवगाहना स्वभाव से अनन्त जीवादि पदार्थ समाहित रहते हैं।

निष्क्रिय आकाश मे सिद्धक्षेत्र पर ऊर्ध्वगति स्वभाव वाले मुक्तजीवो का निवास धर्माधर्म द्रव्यों के निमित्त के बिना आकाश मात्र कारण की अपेक्षा से माना जाए तो सिद्धो का अलोकाकाश मे गमन मानना पडेगा जो युक्ति सगत नही है अतएव सिद्ध है कि

धर्माधर्म द्रव्यो के कारण ही लोक की मर्यादा है लोक से आगे गमन स्थिति नहीं है।[८०]

अपने-अपने स्वरूप की अपेक्षा से अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा मे धर्म अधर्म व आकाश तीनो द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, यह कथन निश्चय दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर किया जाता है किन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से ये तीनो द्रव्य एकक्षेत्रावगाही असंख्यात प्रदेशी हैं।[८१]

कालद्रव्य

जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होने वाली पर्यायो के परिवर्तन का निमित्त कारण कालद्रव्य है, द्रव्य मे उत्पाद और व्यय काल सापेक्ष हैं। काल द्रव्य न स्वय परिणमित होता है और न अन्य द्रव्य को अन्य रूप से परिणमाता है किन्तु स्वत नाना प्रकार के परिणामो को प्राप्त होने वाले द्रव्यो के परिवर्तन मे निमित्त कारण है। काल द्रव्य अस्तित्ववान् होने पर भी एक प्रदेशी होने के कारण 'काय' नही कहलाता अत काल द्रव्य को अस्तिकाय नही माना जाता है।[८२] कालाणु एक-एक लोकाकाश के प्रदेशो पर रत्नो की राशि के समान एक-एक स्थित हैं, वे ध्रुव तथा भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले हैं अत उनका क्षेत्र एक-एक प्रदेश है। इस प्रकार अन्योन्य प्रवेश से रहित काल के भिन्न-भिन्न अणु सचय के अभाव मे पृथक्-पृथक् होकर लोकाकाश मे स्थित हैं। कालाणु निष्क्रिय हैं।

काल द्रव्य मे वर्तना हेतुत्व, अमूर्त्तत्व, अचेतनत्व गुण पाये जाते हैं।[८३]

जीव और पुद्गलो के परिणाम से उत्पन्न होने वाला व्यवहारकाल है तथा जीव व पुद्गल का परिणाम निश्चय कालाणु द्रव्य काल से उत्पन्न है इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने काल के दो भेद किए हैं।[८४]

(१) व्यवहार काल और

(२) निश्चय काल

व्यवहारकाल क्षणभगुर है तथा निश्चयकाल अविनाशी।[८५] जीव और पुद्गलो के परिणमन से समय आदि रूप व्यवहार काल जाना जाता है[८६] अर्थात् जीव पुद्गलो के नवजीर्ण परिणामो के बिना व्यवहार काल नही जाना जाता है। इन जीव-पुद्गल के परिणामो का और काल का आपस मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। काल के अस्तित्व से जीव पुद्गल के परिणाम का अस्तित्व है और जीव पुद्गल के परिणामो के काल द्रव्य की पर्यायें जानी जाती है।

व्यवहारकाल समय, निमिष, काष्ठा, काल, घडी (नाली), दिनरात, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि रूप सख्यात काल कहा जाता है। इससे परे पल्य, सागर आदि असख्यात अथवा अनन्त काल कहा जाता है।[८७] यह व्यवहार काल द्रव्य के परिणमन की मर्यादा से भी गिन लिया जाता है काल की मूल पर्याय निश्चय काल है। काल की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय 'समय' है, अन्य काल की स्थूल पर्यायें हैं। व्यवहारकाल पर द्रव्य परिणमन सापेक्ष है अत यह पराधीन है।[८८] किन्तु निश्चयकाल काल की स्वभाव पर्याय होने से स्वाधीन है।

निश्चय काल पचवर्ण, पचरसरहित, दो गन्ध और अष्टस्पर्शरहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तनालक्षण वाला है।[८९]

अन्य द्रव्यो के परिणमन मे बाह्य निमित्त लक्षण वाला कालाणु रूप निश्चय काल द्रव्य है। जिस प्रकार स्वय परिभ्रमणशील कुम्भकार के चाक की गति मे आधार-भूत कीली निमित्त होती है तथैव समस्त द्रव्यो की परिणति मे निमित्तभूत काल द्रव्य है।

लोकाकाश से परे कालद्रव्य की अनुपस्थिति मे अलोकाकाश का परिणमन किस निमित्त से होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार जयसेन का कथन है कि जिस प्रकार कुम्भकार का चक्र एक देश से चलाए जाने पर भी सर्वांग मे परिभ्रमण करता है तथैव कालद्रव्य की स्थिति लोकाकाश मे ही होने पर भी कालद्रव्य अलोकाकाश की स्वचतुष्टय में परिणति मे निमित्त माना जा सकता है।[९०]

दार्शनिक दृष्टि से कालद्रव्य के सम्बन्ध मे यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि कालद्रव्य की परिणति मे कौन निमित्त है ? कालद्रव्य के स्वरूप से स्पष्ट है कि कालद्रव्य के परिणमन मे कालद्रव्य ही निमित्त है जैसे कि आकाश को स्वय आकाश का ही आधार है, ऐसा न मानने पर अनवस्था दोष प्रस्तुत होगा। स्वपरप्रकाशक सूर्यादि पदार्थों की सत्ता लोक में विद्यमान है तथैव काल भी स्वपर परिणमन मे निमित्त कहा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसग मे यह शका नही करनी चाहिए कि जीवादि द्रव्यो को स्वपरिणति मे सहायक क्यो नही माना जाता ? क्योकि ऐसा मानने पर कालद्रव्य का लक्षण ही खण्डित हो जायेगा। द्रव्यो के परिणमन मे उपादानकारण स्वय द्रव्य ही है, एक द्रव्य का उपादान अन्य द्रव्य नही होता तथापि निमित्तत्व अन्य द्रव्य का होता है। जीवादि के परिणमन मे काल नामक अतिरिक्त पदार्थ को निमित्त कारण न मानने पर, इस प्रकार धर्मादि द्रव्यों का भी गति आदि मे निमित्तत्व स्वीकार न करने से 'षड्द्रव्यमयलोक है' आदि आगम विरोध उपस्थित होगा और लोकमर्यादा भी सम्भव नही होगी।

अपने निबन्ध मे सिकदार, जे० सी० ने कालद्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्यत्व को सिद्ध किया है।[९१]

कुन्दकुन्दाचार्य ने पदार्थसमूह को 'समय' की सज्ञा देकर पचास्तिकायसमूह रूप समय को ही लोक कहा है।[९२] वास्तव मे मोक्ष प्रदाता विशुद्ध आत्मद्रव्य ही समय है।[९३] पचास्तिकायो, षडद्रव्यो, सप्ततत्वो तथा नवपदार्थों मे शुद्धात्म स्वरूप जीव ही उपादेय है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने षड्द्रव्यो मे से पचास्तिकायो का विशेष निरूपण किया है। छठा कालद्रव्य जीव और पुद्गल के सयोग से उत्पन्न होने वाली पर्यायो का निमित्त कारण है। द्रव्य मे उत्पाद और व्यय कालसापेक्ष हैं, किन्तु मूलद्रव्य अनन्तकाल से ध्रौव्य से युक्त है तथा अनन्तकाल तक ध्रौव्ययुक्त रहेगा। इस प्रकार छ द्रव्यो मे सारभूत शुद्धात्मद्रव्य द्रव्यार्थिक दृष्टि से पर्यायो से रहित है अत वह काल निरपेक्ष है। यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय को समय कहा है,[९४] षड्द्रव्यो मे कालद्रव्य गौण है।[९५]

मोक्ष-मार्ग-निरूपण

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का श्रद्धान उत्पन्न करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय मे नवपदार्थों का वर्णन किया है। समस्त पदार्थों के वास्तविक रूप का ज्ञान होने पर ही जीव आत्मद्रव्य को पर से पूर्णतया भिन्न एव विलक्षण मानता और जानता है। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है उनका ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और समस्त इन्द्रियो के इष्ट अनिष्ट विषयो मे समताभाव धारण करना सम्यक् चारित्र है और यही मोक्ष-मार्ग है।

शुद्धात्मतत्व का श्रद्धान एव ज्ञान प्रदान करने के लिए पचास्तिकाय मे जीवो के भेद का वर्णन किया गया है। ससारी और मुक्त आत्मा की अवस्थाएँ और गतिशीलता की अपेक्षा से स्थावर और त्रस, इन्द्रियो की अपेक्षा से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीव की विभिन्न पर्यायो के लक्षण हैं। इन्द्रियादि जीव नही हैं उनकी विभिन्न पर्यायो मे जो चेतना है, ज्ञान है वही जीव है। जीव सबको जानता है, देखता है, सुख चाहता है, दु ख से डरता है, शुभाशुभ कार्यों का कर्ता है और उनके फल का भोक्ता भी है। आकाश, काल, पुद्गल, धर्म-अधर्म मे चेतना का अभाव है अत वे जीव नही है, उनमे सुख दु ख का ज्ञान, हित की प्रवृत्ति और अहित का भय नही है। पुद्गल निर्मित शरीर जीव नही है, पर्याय मात्र है। चेतना से रहित परपदार्थों को आत्मा का मानना मिथ्यात्व है, राग-द्वेष का कारण है। इस विभाव परिणमन से ही कर्मबध होता है और जीव ससार मे भ्रमण करता है। प्रशस्त राग एव अनुकम्पा आदि शुभोपयोग मे हेतु हैं तथा मुमुक्षुओ के लिए हेय है। उनके लिए शुद्धोपयोग ही उपादेय है। शुद्धोपयोग द्वारा आस्रव एव बध के प्रत्यय कारणो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का निराकरण होता है, शुद्धोपयोग द्वारा ही सम्यक् चारित्र प्राप्त होता है तथा व्यवहार-सम्यक् चारित्र एव ध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है। समस्त कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसी दार्शनिक दृष्टि का प्रतिपादन कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा पचास्तिकाय मे किया गया है। ज्ञान और अखण्डित दर्शन जीव के अपृथग्भूत स्वभाव है। इन दोनो का निर्मल और निश्चल अस्तित्व ही चारित्र है। सम्यक् चारित्र द्वारा ही जीव परद्रव्य से हटकर स्वरूप मे रत होता है और ऐसा स्वसमय जीव ही कर्मबधन स मुक्ति प्राप्त करता है। वह समस्त परिग्रह से मुक्त हो परद्रव्य मे चित्त हटाता हुआ शुद्ध स्वभाव मे आत्मा को जानता और देखता है—स्वसमय का आचरण करता है। वही जीव स्वसमय का आचरण कर सकता है जो परद्रव्य मे आत्मभावना स रहित होकर आत्मा के ज्ञानदर्शन रूप विकल्प को भी निर्विकल्प अर्थात् अभेद रूप से अनुभव करता है ऐसे जीव से भिन्न अन्य समस्त जीव परद्रव्यो के गुण पर्यायो मे रत रहने के कारण पर-समय होते है। राग से परद्रव्य मे शुभ अथवा अशुभभाव करते हैं। स्वचरित्र से भ्रष्ट होकर परचरित अर्थात् परसमय का आचरण करते हैं। उनके विभाव परिणमन से पुण्य और पाप फलदायक कर्मों का आस्रव होता है जो मोक्ष मे बाधक है। पुण्य सासारिक सुखो एव सुखदायक पर्यायो की प्राप्ति का कारण है मोक्ष का साक्षात् कारण कदापि

नहीं। अणु मात्र भी राग स्वसमय का बाधक है, जिस जीव मे परद्रव्य के सम्बन्ध मे किंचित् भी राग हो वह समस्त शास्त्रो का ज्ञाता होने पर भी स्वकीय समय को नही जानता।

शुद्धात्म स्वरूप के अतिरिक्त अन्यत्र विषयो मे चित्त का भ्रमण सवर का बाधक है। इसी कारण मोक्षाभिलाषी पुरुष निष्परिग्रही और ममत्व से रहित होकर आत्म-स्वरूप मे भक्ति करता है और अन्तत, विशुद्धोपयोग मे स्थित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। भक्ति रूप शुभ राग व्यवहार की अपेक्षा से ही उपादेय है निश्चय की अपेक्षा से वह भी मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण नही है। इस तथ्य को सुस्पष्ट करने हेतु पचा-स्तिकाय मे कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्ष-मार्ग का वर्णन व्यवहार और निश्चय दोनो नयो की अपेक्षा से किया है। धमादि द्रव्यो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अगो और पूर्वों मे प्रवृत्त होने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप धारण करना सम्यग्चारित्र है इन तीनो का एक साथ मिलना ही व्यवहार मोक्ष-माग है।[९६]

जो आत्मा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र मे तन्मय हो अन्य परद्रव्य को न करता है न छोडता है वही निश्चय से मोक्ष मार्ग का पथिक है।[९७] इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीव किसी भी बाह्य पदार्थ मे कुछ भी राग नही करे क्योकि ऐसा करने से ही वह वीतराग होता हुआ ससार समुद्र से तर सकता है। ग्रथ का समारोप करते हुए कुन्द-कुन्दाचार्य का स्पष्ट कथन है—"जिसमे समस्त द्वादशाग का रहस्य निहित है ऐसा प्रवचनसार रूप यह पचास्तिकाय का सग्रह करने वाला सक्षिप्त शास्त्र उन्होने जिनवाणी की भक्ति मे प्रेरित होकर केवल मोक्ष-मार्ग की प्रभावना के लिए कहा है। "यहाँ यह द्रष्टव्य है कि पचास्तिकाय पर जयसेनाचार्य की टीका मे पचास्तिकाय ग्रथ की रचना का प्रयोजन शिवकुमार महाराज आदि सक्षेप रुचि वाले जीवो को प्रतिबोधन देना बताया है[९८] किन्तु पचास्तिकाय की अन्तिम गाथा इस कथन का स्वत ही निराकरण करती है। पचास्तिकाय की रचना मोक्ष-मार्ग की प्रभावना के लिए, समस्त जीवो के कल्याण के लिए की गई है, उसका प्रयोजन किसी विशेष व्यक्ति को ही आत्मबोधन कराना कदापि नही। कदाचित् जयसेन ने परम्परागत मान्यताओ के आधार पर शिवकुमार के सन्दर्भ मे विशेष कथन किया होगा। किन्तु जयसेनाचाय कुन्दकुन्दाचार्य से बहुत बाद मे हुए हैं, उनका यह कथन "कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज हेतु विशेष रूप से पचास्तिकाय की रचना की" अमान्य प्रतीत होता है।

कुन्दकुन्दाचाय द्वारा पचास्तिकाय म नौ पदार्थों को मोक्ष का मार्ग बताया गया है[९९] साथ ही रत्नत्रय को भी।[१००] क्या रत्नत्रय और नौ पदार्थों मे पारस्परिक सम्बन्ध है? 'गाथा १०७ इसका सकारात्मक ममाधान प्रस्तुत करती है। गाथा १०५ मे 'तेसि पयत्यभग' की ओर गाथा १०७ का 'भावाण'[१०१] इगित करता है। अर्थात् गाथा १०७ के अनुसार भावो अर्थात् जीवादि नौ पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्ही का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और इन्द्रियो के इष्ट अनिष्ट भाव मे समता-भाव रखना सम्यग्-चारित्र है। सामान्य कथन की दृष्टि से समता-भाव का सम्यग्चारित्र मे निर्देश किया गया है, विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि नौ पदार्थों का यथार्थ

श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है और उनका यथार्थबोध ही सम्यग्ज्ञान है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध ये छ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ मे सम्यग्चारित्र की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योकि सम्यग्चारित्र की दृष्टि मे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की पूर्वापेक्षा है।[१०२] इस पूर्वापेक्षा को सन्तुष्ट करने वाले भव्य जीव राग और द्वेष से अवश्य ही रहित होगे क्योकि वीतरागता ही सम्यग्चारित्र का प्रथम सोपान है। वीतरागता का तत्काल परिणाम सवर है। सम्यग्चारित्र का द्वितीय सोपान अन्तरग और बाह्य तप है। इस द्विविध तप का तत्काल परिणमन निर्जरा है[१०३] सम्यग्चारित्र का तृतीय सोपान शुद्धोपयोग है, इसका अन्ततोगत्वा परिणाम मोक्ष है। इस दृष्टि से नव-पदार्थों मे से अन्तिम तीन—सवर, निर्जरा, मोक्ष-सम्यग्चारित्र की चरम परिणति के क्रमिक द्योतक हैं।

अर्थ-पदार्थ-तत्त्वार्थ

पचास्तिकाय मे कुन्दकुन्दाचार्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल इन षट्द्रव्यो, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष सात तत्वो एव जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन नौ पदार्थों का वर्णन इसी प्रयोजन से करते है, जिससे तात्त्विक एव द्रव्यार्थिक दृष्टि मे जीव तथा अन्य द्रव्यो व पदार्थों के बीच अन्तर स्पष्ट किया जा सके। छ द्रव्यो मे से कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तित्ववान् होने तथा प्रदेशाधिक्य के कारण अस्तिकाय कहलाते है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य, गुण और पर्यायो को अर्थ कहा है तथा गुण और पर्यायो की आत्मा को द्रव्य कहा है।[१०४] कुन्दकुन्दाचार्य ने अर्थ को द्रव्यमय तथा द्रव्य को गुणपर्यायमय बतलाकर द्रव्य गुण और पर्याय को अर्थ क्यो कहा है इसका समर्थन किया है।[१०५] किन्तु, पचास्तिकाय मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष को अर्थ कहा है।[१०६] नियमसार मे नाना गुण पर्यायों से सयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश को तत्वार्थ कहा है।[१०७] तथा दर्शन प्राभृत मे छ द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्वो के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है।[१०८] तात्पर्य यह है कि यद्यपि अर्थ, पदार्थ और तत्वार्थ एकार्थक हैं तथापि उनमे दृष्टिभेद भी है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छ द्रव्य कहे जाते है, इनमे से काल को पृथक् कर देने से शेष पाँच को अस्तिकाय कहते है। इसी तरह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष ये नौ पदार्थ कहे जाते है। इन्ही के यथार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का मूल कारण है। अतएव कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने समयसार, पचास्तिकाय, नियमसार और प्रवचनसार आदि मे तत्वो, पदार्थों और द्रव्यो का ही विशेष रूप से निरूपण किया है।

सन्दर्भ

१ पचास्तिकाय, गा० ५, पृ० १३

२. (क) 'जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयास।
अत्थितम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहता ॥'

—पचास्तिकाय, गा० ४, पृ० ११

(ख) पचास्तिकाय, गा० १०२, पृ० १६२

३ 'प्रदेशप्रचयात्मका इति सिद्ध तेषा कायत्व।'

—पचास्तिकाय तत्त्वप्रदीपिका, गा० ४, पृ० १२

४. (क) पचास्तिकाय, गाथा ५, पृ० १३

(ख) वही, गा० २२, पृ० ४७

५ (क) पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ५, पृ० १५

(ख) पचास्तिकाय, गा० १०२, पृ० १६२

६ पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० ४, पृ० १३

७ वही, गा० ५, पृ० १६

८ वही, गा० १०३-४, पृ० १६३-६५

९ पचास्तिकाय, तत्वप्रदीपिका, गा० ६, पृ० १७

१० पचास्तिकाय, गा० ७, पृ० १८

११ (क) 'दव्व सल्लक्खणिय' —पचास्तिकाय, गा० १०, पृ० २४

(ख) 'इह विविहलक्खणाण लक्खमणमेग सदिति सव्वगय'

—प्रवचनसार, २।५, पृ० ११८

(ग) 'सद्दट्ठिद सहावे दव्व' —प्रवचनसार, २।७, पृ० १२१

१२ (क) 'सदित्यस्तित्वनिर्देश' —सर्वार्थसिद्धि, १।८, पृ० १३

(ख) पचास्तिकाय, गा० २२, पृ० ४७

(ग) 'अस्तित्व नाम सत्ता' —नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० ३४, पृ० ३०

१३ (क) पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ८, पृ० १९

(ख) 'अत्थिसहावे सत्ता'

—गा० ६०, पृ० ३२, माइल्लधवल नयचक्र, (सम्पा०) कैलाशचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७१

१४ 'तत्र एकेन पर्यायेण प्रलीयमानस्यान्येनोपजायमानस्यान्वयिना गुणेन ध्रौव्य बिभ्राणस्यैकस्यापि वस्तुन समुच्छेदोत्पादध्रौव्यलक्षमणमस्तित्वमुपपद्यत एव।

—पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ५, पृ० १४

१५. पचास्तिकाय, गा० ८, पृ० १९

१६. 'अस्तीत्यस्य भाव अस्तित्वम्, अनेन अस्तित्वेन सनाथा पचास्तिकाया। कालद्रव्यस्यास्तित्वमेव न कायत्वम्' —नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० ३४, पृ० ३०

१७ 'दव्व खु सत्तभग आदेसवसेण सभवदि'

—पचास्तिकाय, गा० १४, पृ० ३०

१८ (क) 'सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वत प्रत्यभिज्ञानाभावात् कुत एकसतानत्वम् ।'

—पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ८, पृ० २०

(ख) 'तद्भावाव्यय नित्यम्' —तत्त्वार्थसूत्र ५।३१, पृ० २८१।

१९ पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० १४, पृ० ३०

२० 'तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव । अन्या तु प्रतिनियमवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता ।'

—पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ८, पृ० २१

२१ 'प्रतिद्रव्य सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपच प्रवृत्य वृत्त प्रतिद्रव्यमासूत्रित सीमान भिन्दत्सदिति सर्वगत सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्वमेक खल्ववबोद्धव्यम्'

—प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० २।५, पृ० ११८

२२ 'तत्र समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । समस्तव्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकरूपव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । अनन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता ।'

—नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० ३४, पृ० ३०

२३ 'सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा—हवदि एक्का'

—पचास्तिकाय, गा० ८, पृ० १९

२४ (क) पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ८, पृ० २०

(ख) प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० २।५, पृ० ११८

(ग) पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० ८, पृ० २१

(घ) नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० ३४, पृ० ३०

२५ 'अणतपज्जाया' —पचास्तिकाय, गा० ८, पृ० १९

२६ (क) पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ८, पृ० २१

(ख) प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० २।५, पृ० ११८

(ग) नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० ३४, पृ० ३०

२७ 'एकस्या महासत्ताया अवान्तरसत्ता प्रतिपक्ष इति'

—पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० ४, पृ० २१-२२

२८ 'सप्पडिवक्खा' —पचास्तिकाय, गा० ८, पृ० १९

२९ Chakravartı, A (Ed.) Pancāstıkāyasāra, Bhartīya Jñanapıṭha, Kashı, 1975, Introductıon, p 57

३०. 'सत्तासव्वपयत्था सविस्सरूवा अणतपज्जाया ।
भगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।।'

—पचास्तिकाय, गा० ८, पृ० १९

३१. 'कुन्दकुन्द और उनका दर्शन' —प्रद्युम्नकुमार, अहिंसावाणी, वर्ष १६ अक २, फरवरी १९६६, अलीगज

३२ प्रवचनसार, १।५८, पृ० ६८

३३ (क) वही, १।४८-४९, पृ० ५५-५७

(ख) नियमसार, गा० १५८, पृ० १३६

३४ ऋग्वेद १।१६४।४६

३५ 'द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते'

—विश्वनाथ सिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड, कारिका ८

३६ तत्त्वार्थसूत्र, ५।३१

३७ वही, ५।३०

३८ वही, ५।२९

३९ (क) 'दव्व सल्लक्खणिय' —पचास्तिकाय, गा० १०, पृ० २४

(ख) 'सदवट्ठिद सहावे दव्व' —प्रवचनसार, २।७, पृ० १२१

(ग) 'इह विविहलक्खणाण लक्खमणमेग सदिति सव्वगय'

—प्रवचनसार, २।५, पृ० ११८

४० प्रवचनसार, गा० २।६, पृ० ११९

४१ पचास्तिकाय, गा० ७, पृ० १८

४२ 'दव्व सल्लक्खणिय उप्पादव्वयधुवत्तसजुत्त।
गुणपज्जयासय वा ज त भण्णति सव्वण्हू॥'

—पचास्तिकाय, गा० १०, पृ० २४

४३ पचास्तिकाय, गा० १३, पृ० २९

४४ (क) वही, गा० १०, पृ० २४

(ख) 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्' —तत्त्वार्थसूत्र, ५।३८

४५ पचास्तिकाय, गा० १२, पृ० २८

४६ वही, गा० १५, १९, पृ० ३३, ३९

४७ वही, गा० २०, पृ० ४२

४८ वही, गा० ४९-५०, पृ० ९७-९८

४९ वही, गा० ३०, पृ० ६७

५० वही, गा० २७, पृ० ५६

५१ वही, गा० ३३, पृ० ७०

५२ वही, गा० ३५, पृ० ७३

५३ वही, गा० ३७, पृ० ७६

५४. पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा टीका ३७, पृ० ७६-७८

५५ 'बहुसुदअत्थेसु वित्थिण्णा' —पचास्तिकाय, गा० ५६, पृ० १०५

५६ पचास्तिकाय, गा० ५७-६८, पृ० १०७-१२०

५७ वही, गा० १२८-३०, पृ० १९१
५८ वही, गा० ७१-७२, पृ० १२३
५९ वही, गा० ३८ पृ० ७८
६० (क) वही, गा० १०९, पृ० १७३
(ख) वही, गा० १५५, पृ० २२५
६१ वही, गा० ७४, पृ० १२६
६२ वही, गा० ७८, पृ० १३२
६३ वही, गा० ७६, पृ० १२९

—'बादरसुहुमगदाण' (विस्तृत व्याख्या पचम अध्याय मे देखें)

६४ 'आकाशस्य तु विज्ञेय शब्दो वैशेषिको गुण '

—न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, प्रत्यक्ष खण्ड, कारिका ४४

६५ पचास्तिकाय, गा० ७९, पृ० १३४
६६ 'एयरसवण्णगधं दो फास सद्दकारणमसद्द ।
खध दव्व परमाणु त वियाणेहि ॥'

—पचास्तिकाय, गा० ८१, पृ० १३८

६७ (क) तत्त्वार्थसूत्र, ५।१, पृ० २४५
(ख) नियमसार, गा० ३७, पृ० ३१
६८ (क) 'धम्मत्थिकायमरस अवण्णगध असद्दमप्फास ।
लोगोगाढ पुट्ठविहुलसखादियपदेस ॥'

—पचास्तिकाय, गा० ८३, पृ० १४०

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ५।६, ८, पृ० २५०-५२
(ग) प्रवचनसार, २।४३, पृ० १७२
(घ) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा० ५८७, पृ० २१७
६९ (क) प्रवचनसार, २।४४, पृ० १७४
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ५।१२-१३, पृ० २५६
७० (क) पचास्तिकाय, गा० ८३, पृ० १४०
(ख) सर्वार्थसिद्धि, ५।१३, पृ० १६०
७१ (क) पचास्तिकाय, गा० ८५, पृ० १४२
(ख) प्रवचनसार, २।४१, पृ० १७०
(ग) नियमसार, ३०, पृ० २६
७२ (क) पचास्तिकाय, गा० ८४, पृ० १४१
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ५।७, पृ० २५१
(ग) पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० २७, पृ० ५७
७३ (क) वही, गा० ८४, पृ० १४१
(ख) वही, गा० ८८-८९, पृ० १४६-४८

७४ वही, गा० ८५, पृ० १४२
७५ वही, गा० ८७, पृ० १४४
७६ वही, गा० ८६, पृ० १४८
७७ (क) वही, गा० ८७, पृ० १४५
(ख) सर्वार्थसिद्धि, ५।१२, पृ० १६०
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५।१।२६, पृ० २१
(घ) अमृतचन्द्र प्रवचनसार, गा० टीका २।४१, पृ० १७१-७२
७८ अमृतचन्द्र पचास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा टीका ८६, पृ० १४८
७६ वही, गा० ६०-६१, पृ० १४६-५०
८० पचास्तिकाय, ६२-६३, पृ० १५१-५२
८१ वही, गा० ६६, पृ० १५४
८२ वही, गा० १०२, पृ० १६२
८३ वही, गा० २४, पृ० ५०
८४ वही, गा० १००, पृ० १५६
८५ वही, गा० १०१, पृ० १६१
८६ प्रवचनसार, गा० २।४७, पृ० १७७
८७ पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० २५, पृ० ५१-५३
८८ वही, गा० २६, पृ० ५४
८६ वही, गा० २४, पृ० ५०
६० 'यथैक प्रदेशे स्पृष्टे कुभकारचक्रे–सर्वत्र चलन भवति तथा लोकमध्ये स्थितेऽपि कालद्रव्ये सर्वत्रालोकाकाशे परिणतिर्भवति।'

—पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० टीका, २४, पृ० ५०

६१ The Jaina Concept of Time' by Sikder, J C, Research Journal of Philosophy, Vol IV, No 1 March'72, p. 75 etc
६२ पचास्तिकाय, गा० २-३, पृ० ७-६
६३ 'चदुगदिणिवारण सणिव्वाण समयमिण' —पचास्तिकाय, गा० २, पृ० ७
६४ पचास्तिकाय, गा० ३, पृ० ६
६५ वही, तात्पर्यवृत्ति, गा० ६, पृ० १७
६६ वही, गा० १६०, पृ० २३०
६७. वही, गा० १६१, पृ० २३२
६८ 'अथवा शिवकुमारमहाराजादि सक्षेपरुचिप्रतिबोधनार्थं'
'अत्राह शिवकुमारमहाराजनामा·· '

—पचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा टीका ६०, पृ० १४६

६६. 'तेसिं पयत्थ भग मोक्खस्स वोच्छामि'

—पचास्तिकाय, गा० १०५, पृ० १६६

१०० 'सम्मत्तणाजुत्त चारित्त रागदोस परिहीण।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाण लद्धबुद्धीण।' —वही, गा० १०६, पृ० १६०

१०१ वही, गा० १०७, पृ० १६६

१०२ वही, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा टीका १०६, पृ० १६८

१०३. वही, गा० १४४, पृ० २०८

१०४. 'दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ।। —प्रवचनसार, १।८७, पृ० ६८

१०५ 'अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ।।' —वही, २।१, पृ० १०८

१०६. जीवाजीवा भावा पुण्ण पाव च आसव तेसिं।
सवरणिज्जरबधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।।
—पचास्तिकाय, गा० १०८, पृ० १७१

१०७ जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयास।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणगुणपज्जएहिं सजुत्ता ।।
—नियमसार, गा० ९, पृ० ९

१०८ 'जीवादी सद्दहण सम्मत्त' —दर्शनप्राभृत २०, अष्टपाहुड (सम्पा०) जयचन्द्र, श्री सेठी दि० जै० ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२३, पृ० २४

तृतीय अध्याय

प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

(क) उपक्रमादि लिंग न्याय से प्रवचनसार का तात्पर्यनिर्णय

(ख) 'प्रवचनसार' संज्ञा का तात्पर्य

(ग) प्रवचनसार की रचना का उद्देश्य

(घ) प्रवचनसार मे पर्याय-दृष्टि

(ङ) प्रवचनसार—चारित्रनिरूपणप्रधान कृति

(च) निष्कर्ष

प्रवचनसार[1] मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

प्रवचनसार कुन्दकुन्दाचार्य की महत्त्वपूर्ण कृतियो में से एक है। इसकी महत्ता इसी तथ्य से प्रमाणित हो जाती है कि इसका स्थान प्राभृतत्रय तथा नाटक-त्रय में है। कुन्दकुन्दाचार्य की इस कृति को समयसार के सदृश नाटक के रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता क्योकि समयसार का प्रस्तुतीकरण टीकाकार अमृतचन्द्र ने एक नाटक के रूप मे ही किया है जिसमे ससार रूपी रगमच पर जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बंध आदि पात्रो का प्रवेश तथा निष्क्रमण दर्शाया है, किन्तु प्रवचनसार में ऐसी व्यवस्था नहीं दर्शायी गई है। कदाचित् कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार के साथ ही प्रवचनसार तथा पचास्तिकाय को जैन साहित्य मे उनके महत्त्व के कारण प्राभृत तथा नाटक कहकर तीनो की सम्मिलित सज्ञा प्राभृतत्रय तथा नाटकत्रय दी है। इन कृतियो को नाटकत्रय की सज्ञा प्रदान करने की प्रेरणा कदाचित् वेदातियो की प्रस्थानत्रयी से ग्रहण की गई प्रतीत होती है।

उत्तरमीमासा मे वर्णित उपक्रमादिलिंग[2] न्याय से कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत प्रवचनसार का तात्पर्यनिर्णय करके यह जानना आवश्यक है कि इस ग्रथ का प्रणयन किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया। साथ ही ग्रथ के नाम की सार्थकता की जाँच करने मे भी तात्पर्यनिर्णय सहायक सिद्ध होगा।

प्रवचनसार[3] की रचना का तात्पर्य

उपक्रमलिंग

सम्यग्दर्शन ज्ञान जिसमे मुख्य हैं ऐसे चरित्र गुण के आचरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[4]

उपसंहारलिंग

जो पुरुष श्रावक और मुनि की चर्या से सयुक्त हुआ इस भगवन्त प्रणीत उपदेश को समझता है वह थोडे ही काल मे प्रवचनसार (सिद्धात के रहस्यभूतपरमात्मभाव) को प्राप्त कर लेता है।[5]

तात्पर्यनिर्णय

प्रवचनसार ग्रथ की रचना का प्रयोजन इस तथ्य को निर्देशित करना है कि

सम्यग्दर्शनज्ञान से युक्त चारित्र के आचरण से, श्रावक और मुनि द्वारा की जाने वाली क्रिया द्वारा जो भगवत्प्रणीत उपदेश को समझता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्रवचनसार के प्रथम ज्ञानाधिकार का तात्पर्य निर्णय—

उपक्रमलिंग—सम्यग्दर्शनज्ञान प्रमुख चारित्र गुण के आचरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सराग चारित्र से विभूतियो की प्राप्ति होती है, वीतराग चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६]

उपसहारलिंग—दर्शनमोह को विनष्ट करने वाला, आगमकुशल, रागरहित-चारित्र मे सावधान, मोक्षपदार्थ को सिद्ध करने मे प्रमुख वह मुनीश्वर ही धर्म है, ऐसा विशेष लक्षण से कहा है।[७]

तात्पर्यनिर्णय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्रवान् श्रमण मोक्ष का अधिकारी है तथा ऐसा श्रमण ही धर्म है।

द्वितीय ज्ञेयतत्वाधिकार का तात्पर्यनिर्णय—

उपक्रमलिंग—ज्ञेय पदार्थ द्रव्यमय हैं, समस्त द्रव्य अनन्तगुण वाले हैं और उन द्रव्य तथा गुणो के परिणमन से पर्याय उत्पन्न होते है। जो जीव उन पर्यायो को ही द्रव्य मानते है, वे परसमय अथवा मिथ्यादृष्टि हैं।[८]

उपसहारलिंग—मुक्त हुए सामान्य केवली तथा तीर्थङ्करकेवली के समान निज स्वभाव से ज्ञायक आत्मा को जानकर ममता को छोडता हूँ और ममता के अभावरूप वीतरागभाव मे अवस्थित होता हूँ।[९]

तात्पर्यनिर्णय—द्रव्य और गुणो के परिणमनरूप पर्यायो को ही द्रव्य मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं अतएव कुन्दकुन्दाचार्य मिथ्यात्व का त्याग कर आत्मज्ञानपूर्वक वीतराग-भाव मे स्थित होन की प्रतिज्ञा करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र का स्पष्ट निर्देश करते हैं। स्वय वीतरागभाव मे उप-स्थित होने की प्रतिज्ञा करके श्रमणो के समक्ष आदर्श प्रेरणा प्रस्तुत करते हैं—"मैं मिथ्यात्व का परित्याग कर वीतरागभाव अपनाता हूँ अत मेरा उदाहरण समक्ष है, आप श्रमण भी ऐसा ही करें। यही चारित्र है।"

तृतीय चारित्राधिकार का तात्पर्यनिर्णय—

उपक्रमलिंग—दु खो से छुटकारा चाहने हेतु जीवो को सिद्धो, अरिहन्तो तथा आचार्योपाध्यायसर्वसाधुरूप मुनियो को बार-बार प्रणाम कर श्रमण पद प्राप्त करना चाहिए।[१०]

उपसहारलिंग—जो श्रावक अथवा श्रमण की चर्या से युक्त होता हुआ अरिहन्त-भगवान् के इस शासन (उपदेश) को समझता है वह अल्पकाल मे ही प्रवचनसार (सिद्धात के रहस्यभूत परमात्मभाव) को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्यनिर्णय—सिद्धो, अरिहन्तो, आचार्यादि को नमन शुद्धोपयोग प्रवृत्ति है। इस शुद्धोपयोग से श्रमणपद प्राप्तव्य है। इसी को श्रावकचर्या से परमात्मभाव की प्राप्ति कहते हैं, शुद्धोपयोगी श्रमण अपनी चर्या द्वारा आत्मलाभ करता है।

इस प्रकार प्रवचनसार के प्रारम्भ तथा अन्त मे मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत

चारित्र का प्रतिपादन उपक्रम तथा उपसहार हैं। प्रवचनसार मे प्रतिपाद्य चारित्र का इस कृति मे पुन पुन[11] ही अभ्यास है। जीव सागार तथा अनगार चारित्र से युक्त होकर ही निजपरमात्मा को जानता है। इस प्रकार समभावमयस्वानुभवरूप चारित्र पालन के अभाव मे आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि प्रमाणों से नही हो सकती यही अपूर्वता है।[12] प्रकरण प्रतिपाद्य चारित्र अथवा उसके अनुष्ठान का प्रकरण मे श्रूयमाण प्रयोजन ही फल है जैसे—

'संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दसणणाणप्पहाणादो ॥'[13]

इस प्रकार चारित्र पालन से निर्वाणप्राप्ति रूप प्रयोजन ही फल है।[14]

प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय की प्रकरण मे प्रशसा ही अर्थवाद है जैसे 'चारित्र खलु धम्मो'।[15] शुद्धोपयोग ही सम्यग्चारित्र है इस प्रकार प्रकरण-प्रतिपाद्य शुद्धोपयोगी श्रमण की प्रशसा की गई है कि सम्यग्चारित्र से शुद्ध का ही श्रामण्य सफल है, उसी के दर्शन व ज्ञान यथार्थ हैं और उसी को निर्वाण प्राप्ति है।[16] प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ की सिद्धि मे वर्णित युक्ति ही उपपत्ति कहलाती है, प्रस्तुत कृति मे प्रतिपाद्य शुद्धोपयोग रूप चारित्र की सिद्धि मे कुन्दकुन्दाचार्य ने यह युक्ति दी है कि शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुखो से आत्मा की पुष्टि नही होती अपितु उनके द्वारा दु ख ही उत्पन्न होता है।[17]

उपक्रमादि लिंगन्याम से तात्पर्यनिर्णय करने पर प्रवचनसार से सम्बद्ध निम्न-लिखित सारभूत तथ्य प्रकाश मे आए है—

मोक्षमार्ग का प्रकाशक यह ग्रथ चारित्रनिरूपणप्रधान है। इस ग्रथ की रचना का उद्देश्य श्रमणो के समक्ष सम्यक् चारित्र का स्वरूप प्रस्तुत करना है जिसके अनुरूप आचरण कर उन्हे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति ही सारभूत है अत सम्यक् चारित्र द्वारा मोक्षमार्ग का निर्देश करने वाले इस ग्रथ का प्रवचनसार नाम सार्थक है।

प्रवचनसार सज्ञा का तात्पर्य

प्रवचनसार के सम्बन्ध मे स्वय कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है—

'बुज्झदि सासणमेय सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसार लहुणा कालेण पप्पोदि ॥'[18]

जो पुरुष श्रावक अथवा मुनि की चर्या से सयुक्त हुआ इस शासन अथवा उपदेश को समझता है वह थोडे ही काल मे प्रवचनसार अर्थात् सिद्धांत के रहस्यभूत परमात्म-भाव को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने ही 'सासणमेय' कहकर इस अर्थात् पूर्ववर्णित उपदेश को 'पवयणसार' सज्ञा दी है और साथ ही इस उपसहार गाथा में प्रवचन का सार भी प्रतिपादित कर दिया कि श्रावक और मुनि की क्रिया—अर्थात्

शुद्धोन्मुख सराग, वीतराग चारित्र पालन करने से ही वह परमात्मभाव को प्राप्त होता है और यह परमात्मभाव ही मोक्ष है।

समयसार, पचास्तिकाय आदि ग्रथो की तरह इस ग्रथ के प्रारम्भ में यद्यपि स्पष्ट नामोल्लेखत निर्देश नही है कि कुन्दकुन्दाचार्य किस विषयवस्तु का प्रतिपादन इस ग्रन्थ मे करेंगे किन्तु इस ग्रथ मे उपसहार गाथा के माध्यम से कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सागार अनगारचर्यारूप सम्यग्चारित्र ही इस ग्रथ का प्रधान प्रतिपाद्य रहा, जो सम्यग्चारित्र सिद्धान्त के रहस्यभूत परमात्मभाव को प्राप्त करने मे अनिवार्य साधन है। इसी कारण यह प्रवचन (उपदेश) का सार भी है।

इस ग्रन्थ की प्रवचनसार सज्ञा पूर्णत सार्थक है। सम्यग्ज्ञान का, सम्यग्ज्ञान के ही ज्ञेयभूत परमात्मा आदि पदार्थों का और उससे साध्य निर्विकारस्वसवेदन ज्ञान का प्रतिपादक होने से, इसी प्रकार तत्त्वार्थश्रद्धानरूपसम्यग्दर्शन का, उसके विषयभूत-अनेकान्तात्मक परमात्मादिद्रव्यो का, उस व्यवहार सम्यक्त्व से साध्य निज शुद्धात्मरुचि-रूपनिश्चय सम्यक्त्व का प्रतिपादक होने से तथा मुख्यरूप से व्रतसमिति गुप्ति आदि अनुष्ठानरूप सरागचारित्र का और उससे ही साध्य स्वशुद्धात्मा की निश्चल अनुभूति रूप वीतराग चारित्र का प्रतिपादक होने से ही इस ग्रथ का अभिधेय 'प्रवचनसार' सार्थक है। सागार अनगार चर्या से युक्त शिष्य शीघ्र ही परमात्मपद पाता है। इसी सागार-अनगार चर्या का निरूपण कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे किया है। आभ्यन्तररत्नत्रय के अनुष्ठान को उपादेय मानकर अर्थात् शुद्धोपयोग को लक्ष्य करके बहिरग रत्नत्रयाचार पालन अर्थात् शुभोपयोगाचरण ही सागरचर्या है अथवा श्रावक चर्या है तथा बहिरगरत्न-त्रय के आधारभूत शुभोपयोगाचरण से आभ्यन्तर रत्नत्रय का अनुष्ठान करना तथा परद्रव्यो से उपयोग हटाकर सतत स्वशुद्धात्मरमणरूप शुद्धोपयोग का आचरण करना ही अनगारचर्या है।

प्रवचन वही सार्थक है जिसे अपनाया जाए, जिसे आचरण मे लाया जाए, जिसे चारित्र रूप मे ढाला जाए, इस दृष्टि से 'प्रवचनसार' सज्ञा सार्थक है। क्योकि समस्त द्रव्यो के प्रति सम्यग्श्रद्धान होना तथा उनका सम्यग्ज्ञान होना निस्सदेह उत्कृष्ट है किन्तु मोक्ष प्राप्ति नही। सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान की सार्थकता सम्यग्चारित्र द्वारा ही है। यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र का स्पष्ट निर्देश करते हैं—

तेसिं विसुद्धदसणणाणपहाणासम समासेज्ज।
उपसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती ॥[१६]

गाथा से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य स्वय को साम्यभाव मे प्रस्तुत करके श्रमणो के अनु-करण के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत कथन के द्वारा वे अपन निमित्त से पचपरमेष्ठियो के दर्शनप्रधान ज्ञान आश्रम में रहने वाले श्रमणो को साम्यभावरूप वीतराग चारित्र को धारण करने की प्रेरणा करते हैं और अन्त तक उसी को उपादेय बतलाते हैं जिससे वे श्रमणजन उस आश्रम को पाकर भी शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति मे ही रम न जाएँ और अपने ध्येय मोक्ष प्राप्ति के लिए शुद्धोपयोगपूर्वक प्रवृत्ति से विमुख न होवें।

प्रवचनसार की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इस ग्रंथ में केवलमात्र सैद्धांतिक रूप से चारित्रमार्ग का निर्देश नहीं किया गया है अपितु व्यावहारिक दृष्टि से सम्यग्-चारित्र के पालनार्थ किन-किन महत्त्वपूर्ण तथ्यों एव कर्त्तव्यों के प्रति श्रमण को सजग रहना चाहिए, इसका भी निरूपण किया गया है।

'प्रवचनसार' की रचना का उद्देश्य

प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने आचरण करने के लिए चारित्र के जिस उत्कृष्ट स्वरूप का निर्देश किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस निर्देश के पात्र मूलत श्रमण है और गौण रूप से प्रतिमाधारी श्रावक हैं। ऐसे गृहस्थ जो पुण्यलाभ की दृष्टि से शुभोपयोग को उपादेय मानते हैं इस प्रवचन के अपात्र हैं।[२०]

प्रवचनसार की गाथाओ मे से केवल कुछ गाथाओ मे यद्यपि इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्रवचनसार रूप जिनशासन को सम्यक्‌रूपेण जानकर गृहस्थ एव श्रमण परमफल को प्राप्त करते हैं। इन गाथाओ से यह सकेत प्राप्त होता है कि प्रवचन-सार की रचना गृहस्थो व श्रमणो दोनो के लिए हुई है,[२१] इन उल्लेखो मे भी प्रथम व द्वितीय उल्लेख मे 'सागार' पद के प्रयोग से अणुव्रत धारी श्रावक ही अभीप्सित है तथा 'गृहस्थो के परम्परा से मोक्ष होता है' यह भाव निहित है। गृहस्थो का शुभोपयोग यदि शुद्धोपयोगोन्मुखी हो तो वे गृहस्थ क्रमश मोक्ष प्राप्त करते हैं, किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य का निम्नलिखित कथन—'शुभोपयोगी (वैयाकृत्यादि मे प्रवृत्त) जो मुनि विराधना रूप हिंसा को करता है वह अपने सयम का धारक नही होता किन्तु आगारी अथवा गृहस्थी ही होता है, क्योकि वह जीव की विराधना युक्त वैयाकृत्यादि क्रिया गृहवासी श्रावको का धर्म है'[२२]—इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि प्रवचनसार कृति कुन्दकुन्दाचार्य ने मूलत श्रमणो को लक्ष्य मे रखकर की है।

कुन्दकुन्दाचार्य की अन्य कृतियो के समान प्रवचनसार मे भी व्यवहारनय का आश्रय प्रतिपाद्य विषय को बोधगम्य बनाने हेतु किया गया। निश्चयनय द्वारा वास्तविक स्वरूप का निरूपण स्थान-स्थान पर किया गया है तथा मुमुक्षु के लिए निश्चयनय को ही उपादेय बतलाया गया है। यह तथ्य भी इस बात को प्रतिपादित करता है कि प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निर्दिष्ट चारित्र का आचरण श्रमणो द्वारा ही सम्भव है, गृहस्थों द्वारा नही। कुन्दकुन्दाचार्य के निम्नलिखित कथन द्वारा भी इसी बात की पुष्टि होती है क्योकि श्रमण ही सम्पूर्ण परिग्रह के प्रति ममत्व त्याग सकता है, गृहस्थ के लिए मूर्च्छा-त्याग कठिन है—'परमाणु मात्र भी यदि शरीरादि परद्रव्यो मे ममत्व रहे तो वह व्यक्ति द्वादशागज्ञाता होने पर भी मोक्ष को प्राप्त नही कर सकता।'[२३]

प्रवचनसार मे श्रमण के स्वरूप का विस्तृत निरूपण[२४] भी 'प्रवचनसार की रचना श्रमणो हेतु की गई', इस कथन की पुष्टि करता है।

गृहस्थो से सम्बद्ध चारित्र का उल्लेख, कदाचित् तुलना के लिए किया गया है, जिससे श्रमणो को यह स्पष्ट बोध हो सके कि उन्हे चारित्र की दृष्टि से श्रावको की तुलना मे कितना सावधान और उत्कृष्ट होना चाहिए।

प्रवचनसार के सम्पूर्ण विषयवस्तु का प्रस्तुतीकरण कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रमण तथा श्रामण्यधर्म को केन्द्रबिन्दु मानकर किया है। 'धम्मो त्ति बिसेसिदो समणो'[२५] कहकर अभेद दृष्टि से श्रमण ही धर्म है ऐसा प्रथम अधिकार मे निरूपण किया है। श्रमण का स्वरूप प्रारम्भ मे स्पष्ट कर दिया कि जीवादि पदार्थों का सम्यग्ज्ञाता, सयम तथा तप-सयुक्त, वीतरागी, सुख-दु ख मे समताधारी मुनि श्रमण है, उसका परिणमन शुद्धोपयोग है।[२६] श्रमण के स्वभाव परिणमन रूप शुद्धोपयोग का स्वरूप प्रथम अधिकार मे वर्णित है, साथ ही श्रमण के लिए हेय शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग का वर्णन भी भेदविज्ञान की दृष्टि से किया गया है।[२७] कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोग के स्वरूप निरूपण पूर्वक शुद्धोपयोग की निर्मलता से उत्पन्न आत्मा के सहज ज्ञानानन्द को प्रकाशित करते हुए स्वसवेदन अथवा आत्मसाक्षात्कार रूप सुख का निरूपण किया है।[२८] केवलज्ञान के विषय समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं अतएव द्वितीयाधिकार मे ज्ञेयरूप द्रव्य की परिभाषा, भेद आदि का निरूपण किया गया है। द्वितीय ज्ञेयत्वाधिकार मे भी श्रमण और श्रामण्य विषयो पर प्रकाश डाला गया है। जो पुरुष शरीर तथा धनादि 'मैं शरीरादि रूप हूँ' और 'मेरे ये शरीर धनादि हैं' इस प्रकार ममत्व बुद्धि को नही छोडता है वह पुरुष श्रामण्य को त्यागकर उन्मार्ग को प्राप्त होता है।[२९] इसके विपरीत जो पुरुष मोहग्रथि को दूर करता हुआ, इष्टानिष्ट पदार्थों मे प्रीति अप्रीति रूप राग द्वेष को छोडकर सुख दु ख मे समभाव से स्थिर होकर श्रामण्य मे स्थिर रहता है वही अक्षय सुख प्राप्त करता है।[३०] तृतीय अधिकार मे समग्र रूप से श्रमण के चारित्र का कथन होने से उसे चारित्राधिकार कहा गया।

तृतीय अधिकार की प्रारम्भिक गाथा मे ही— पडिवज्जदु सामण्णजदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्ख'[३१] अर्थात् 'दु ख से मुक्त होने का अभिलाषी श्रामण्य अथवा मुनिधर्म को प्राप्त होवे' यह कहकर कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वय ही सिद्ध कर दिया कि प्रवचनसार की रचना श्रमणो का लक्ष्य मे रखकर की गई है। सर्वप्रथम श्रमण बनने की इच्छा वाले पुरुष के लिए मुनिदीक्षा के पूर्व-कर्तव्यो की सूचना दी गई है—बन्धुवर्ग से आज्ञा पाकर, स्त्रीपुत्रादि का ममत्व त्यागकर ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार तथा वीर्याचार से युक्त गुणवान् श्रमणाचार्य को नमस्कार कर श्रामण्यपद की प्राप्ति के लिए निवेदन करे, आचार्य से अनुगृहीत वह 'मैं दूसरो का नही हूँ और न दूसरे द्रव्य मेरे है, इस लोक मे मेरा कुछ भी नही है, ऐसा निश्चय करके, जितेन्द्रिय होकर यथाजात रूप धारी हो जावे।'[३२]

श्रमण के द्रव्यलिंग और भावलिंग का स्वरूप बताते हुए कहा है कि मुनि का यथाजातनग्न रूप सिर और दाढी के बालो के लोच से युक्त, हिंसा आदि पापो से रहित और शरीर के शृगारादि से रहित निर्मल द्रव्यलिंग होता है तथा ममत्व भाव और आरभ (परिग्रह) से रहित, उपयोग तथा मन-वचन-काय की शुद्धि से रहित, पर की अपेक्षा न करने वाला और पुनर्जन्म धारण न करने मे हेतुभूत भावलिंग होता है।[३३] ऐसे द्रव्यलिंग व भावलिंग को धारण कर आचार्य को नमन कर उनसे व्रतादि सहित क्रियाओं को सुन कर, मुनिपद मे स्थित होता हुआ वह श्रमण हो जाता है।[३४] केवल नग्नरूप द्रव्यलिंग भावलिंग के बिना व्यर्थ है, भावलिंगधारी श्रमण को ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है,

इस विषय मे कुन्दकुन्दाचार्य ने भावप्राभृत मे विस्तृत व्याख्या की है।[३५] भावश्रामण्य होने पर ही द्रव्यश्रामण्य की सार्थकता है।

श्रमण को दीक्षा देने वाले आचार्य प्रव्रज्यादायक आचार्य कहलाते हैं तथा श्रामण्य भग होने पर जो श्रमण को पुन सयम धारण कराते हैं वे निर्यापकाचार्य कहलाते हैं।[३६]

इस अधिकार मे श्रमण के २८ मूल गुणो,[३७] युक्ताहार का स्वरूप, युक्ताहार अनाहार है तथा युक्तविहार अविहार ऐसा निर्देश,[३८] सयम भग के अन्तरग तथा बहिरग स्वरूप व कारण,[३९] सयम भग से बचने की विधि तथा आलोचना,[४०] उत्सर्गमार्ग तथा अपवादमार्ग का स्वरूप तथा उपादेयता,[४१] श्रमण का आगम रूपी नेत्रो से देखना तथा श्रमण के सयम मे आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान की कारकता,[४२] आदि समस्त श्रमण से सम्बद्ध विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

श्रमण के स्वरूप का स्पष्ट निर्देश तृतीयाधिकार में किया गया है—

समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पससणिदसमो।
समलोट्ठुकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥[४३]

अर्थात् जो शत्रु और बन्धु-बान्धवो के प्रति समान है, सुख और दुख मे समान है, निन्दा और प्रशसा मे समान है, पत्थर और सुवर्ण के प्रति समान हैं तथा जीवन और मरण में समान है वही श्रमण हैं। ऐसा श्रमण ही इहलोक तथा परलोक की इच्छाओ से रहित, सयम युक्त आहार विहार करन वाला,[४४] पच समितियो का पालनकर्ता, तीन गुप्तियो से सुरक्षित, पचेन्द्रियविषयो से विरक्त, कषायजित्, सम्यग्दर्शनज्ञान से पूर्ण होने से सयमी कहा है।[४५] श्रमण के श्रामण्यभाव की सिद्धि मे रत्नत्रय मे तत्परता सहायक होती है। कुन्दकुन्दाचार्य न श्रमणत्व की सिद्धि के लिए निर्लेप भाव की प्रधानता व्यक्त की है।[४६] कुन्दकुन्दाचाय ने चारित्र को शुद्धोपयोग से युक्त बनान के लिए वीतरागभाव की प्राप्ति तथा अपरिग्रह धारण करने पर अत्यधिक बल दिया है।[४७] किंचित् मात्र परिग्रह रखने पर भी श्रमण वीतराग अवस्था को प्राप्त नही कर सकता क्योकि परिग्रह रखने पर राग की उत्पत्ति स्वाभाविक है। श्रमण के लिए चारित्रपालन की प्रारम्भिक अवस्था मे चित्त की निराकुलता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है अत ऐसा परिग्रह जिसके द्वारा श्रमण का सयम खण्डित न होता हो और साथ ही उसे चित्त की निराकुलता प्राप्त हो सकती हो, अनिषिद्ध परिग्रह के रूप मे अनुमेय है।[४८] इस प्रकार की छूट कुन्दकुन्दाचार्य श्रमणचर्या की प्रारम्भिक अवस्था मे ही प्रदान करते हैं अथवा अपवाद स्वरूप प्रदान करते हैं इसी दृष्टि से उनके द्वारा निर्दिष्ट यह मार्ग अपवाद मार्ग कहलाता है। इस अपवाद मार्ग का प्रावधान श्रमण का उन्माग के अतिचारो से बचाने के लिये किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्यलिंग गुरु के वचन, विनयरूप परिणाम तथा परमागम का पठन इन चार उपकरणो को मुनि के लिए ग्राह्य कहा है क्योकि ये अपवाद रूप से मुनिधर्म के पालन मे सहायक होते हैं।[४९]

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे एक आदर्श श्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रमणो के विभिन्न भेदो पर भी प्रकाश डाला है। एक ओर वे द्रव्यलिंगी तथा भावलिंगी

मुनि मे अन्तर बताते हैं तो दूसरी ओर उपयोग के आधार पर श्रमणो के दो भेद शुभोपयोगी तथा शुद्धोपयोगी किए है।[४०] यहाँ द्रष्टव्य है कि कुन्दकुन्दाचार्य के समक्ष अशुभोपयोगी श्रमण के अस्तित्व की कोई कल्पना ही नही थी।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा श्रमणों के लिए आचारनिर्देश के दो प्रमुख पहलू हैं। प्रथम पहलू के अन्तर्गत वे श्रमण के कर्त्तव्यनिरूपण सकारात्मक चारित्रपक्ष का निरूपण करते हैं तथा द्वितीय पहलू के अन्तर्गत श्रमण को उन्मार्ग या अतिचारदोष से बचाने के लिए चारित्र के निषेधात्मक पक्ष का प्रस्तुतीकरण करते हैं। इसी सन्दर्भ मे उन्होने श्रमणाभास के स्वरूप का निरूपण किया है[४१] जिससे उसे वास्तविक श्रमण से भिन्न जाना जा सके।

प्रवचनसार मे पर्याय दृष्टि

कुन्दकुन्दाचार्य ने पर्याय और गुण को द्रव्य का आवश्यक लक्षण माना है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा मे ध्रौव्य है किन्तु पर्याय दृष्टि से आत्मा उत्पाद तथा व्यय से युक्त है। पूर्वोपार्जित कर्मों से सयुक्त आत्मा रागद्वेषादि विभाव परिणमन के कारण विभाव पर्यायधारी कहलाता है। आत्मा की इस विभाव पर्याय के भी भेद सम्भव हैं—शुभभाव परिणमन के परिणामस्वरूप आत्मा शुभपर्याय धारण करता है तथा अशुभभाव परिणमन उसकी अशुभपर्याय का कारण है।[४२]

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी समस्त कृतियो के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति का उपाय दर्शाया है। उनके विभिन्न ग्रथो मे विषय निरूपण के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टियो को अपनाया गया है किन्तु उनके इन समस्त प्रयासो का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा की शुद्ध पर्याय का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं तथा इस बात का निर्देश करते हैं कि रत्नत्रय द्वारा ही अशुभ व शुभ पर्याय का त्याग कर अन्तत आत्मा शुद्ध पर्याय को प्राप्त करता है।[४३] जब तक आत्मा सम्यक् चारित्र का पूर्णत आचरण नही करता तब तक उत्कृष्ट रूप से उसे शुभपर्याय ही प्राप्त हो सकती है। आत्मा की शुभपर्याय की उत्कृष्ट स्थिति केवल ज्ञान से पूर्व की अवस्था है। जैसे ही आत्मा विशुद्ध उपयोग मे परिणमन करता है केवलज्ञान आसन्न हो जाता है।

केवलज्ञानरूप परिणमन करने वाले केवली भगवान को समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें सदा प्रत्यक्ष रहती हैं। वे अवग्रह आदि रूप क्रियाओ से द्रव्य तथा पर्यायो को नहीं जानते।[४४] केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् वर्तमान के अतिरिक्त अतीत और अनागत काल सम्बन्धी समस्त पर्याय भी आत्मा के ज्ञान मे प्रत्यक्षवत् प्रतिबिम्बित होती रहती हैं।[४५] उन प्रसिद्ध जीवादि द्रव्यजातियो की वे समस्त विद्यमान अविद्यमान पर्यायें निश्चय से ज्ञान मे भिन्न-भिन्न भेद लिए हुए, वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायो की तरह प्रवर्तती हैं—जैसे कोई चित्रकार चित्रपट पर बाहुबली, भरत आदि अतीत काल मे हुए सिद्ध पुरुषो के चित्र बनावे और उसी चित्रपट पर भविष्य में होने वाले श्रेणिक आदि तीर्थंकरो के चित्र बनावे तो वे चित्र उस पट पर वर्तमान काल मे युगपत् देखे जाएँगे, उसी प्रकार सिद्धात्माओ के ज्ञान रूपी चित्रपट पर अतीत, अनागत और वर्तमान सभी पर्यायो का प्रतिबिम्ब युगपत् प्रतिबिम्बित होता है। प्रस्तुत प्रसंग मे यह शका उत्पन्न हो

सकती है—"वर्तमान काल के ज्ञेयों के आकार ज्ञान मे प्रतिबिम्बित हो सकते हैं परन्तु जो अतीत मे हो चुकी हैं तथा जो होने वाली हैं, उन पर्यायो का प्रतिबिम्बित होना कैसे सम्भव है ?" इसका समाधान यह है कि जब छद्मस्थ ज्ञानी तपस्वी भी योगबल से अथवा तपस्या के प्रभाव से ज्ञान मे निर्मलता आ जाने पर, अतीत अनागत वस्तु पर विचार कर लेते हैं और तब उनका ज्ञान उन अतीत, अनागत वस्तुओ के आकार का हो जाता है, जो अतीत अनागत वस्तुएँ वहाँ पर विद्यमान नहीं होती हैं। केवली के प्रसग मे (भी) समस्त आच्छादन से रहित पूर्णत निर्मल ज्ञान मे भी अतीत अनागत पर्याय प्रतिबिम्बित हो तो, असम्भव नही, ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है और स्वभाव मे तर्क नही चल सकता। निश्चय से जो पर्याय उत्पन्न ही नही हुई हैं अथवा जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गयी हैं वे समस्त अतीत-अनागत पर्याय वर्तमान काल के गोचर न होने पर भी केवलज्ञान मे प्रत्यक्ष है।[४६] अतीतकाल मे उत्पन्न होकर नष्ट हुई पर्यायो तथा भविष्य मे उत्पन्न होने वाली अनागत पर्यायो को असद्भूत कहते हैं क्योकि वे वर्तमान नही है, किन्तु केवलज्ञान मे प्रतिबिम्बित होने की अपेक्षा से अतीत एव अनागत दोनो से सम्बद्ध पर्यायें भी सद्भूत कहलाती हैं। विशुद्धज्ञान मे अतीत व अनागत ज्ञेयो के आकार उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं जिस प्रकार कोई शिल्पी भूत, भविष्य दोनो कालो के चौबीस तीर्थंकरो की आकृति प्रस्तर पर उत्कीर्ण कर देता है। यदि केवलज्ञान मे अनागत पर्याय तथा अतीत पर्याय अनुभवगोचर नही हो तो उस ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट एव स्तुतियोग्य कौन कहेगा ?[४७] यदि ज्ञान मे भूत-भविष्य पर्याय प्रतिबिम्बित नही हो तो उस ज्ञान का माहात्म्य क्या रह जायेगा ? नियतिवाद की व्याख्या का आधार ही समाप्त हो जायेगा।

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात आत्मा की मानव पर्याय अघातियाँ कर्मों के नष्ट होने तक ही रहती है। उसके पश्चात् शुद्ध आत्मा अशरीरी एव ऊर्ध्वगामी हो लोकाग्रभाग मे स्थित हो जाता है। वस्तुत व्यवहार की अपेक्षा से कथित समस्त पर्यायो का व्यय हो जाता है एव केवल स्वभाव परिणमन की दृष्टि से ही आत्मा पर्यायधारी कहलाता है।

निश्चय से समस्त पदार्थ समूह का किसी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद होता है, किसी पर्याय की अपेक्षा व्यय होता है और स्वभाव पर्याय की अपेक्षा से वह पदार्थसमूह सद्भूत या ध्रौव्ययुक्त होता है। स्वर्णद्रव्य का कुण्डलादि पूर्व पर्याय की अपेक्षा से व्यय और नवीन मुद्रिका पर्याय की अपेक्षा उत्पाद होता है किन्तु पीतता आदि गुणद्योतक पर्याय की अपेक्षा से वह ध्रौव्य रूप रहता है।[४८]

प्रवचनसार मे मूलरूप से इस बात पर बल दिया गया है कि अशुभ एव शुभोपयोग दोनो ही कर्मबन्ध के कारण हैं। उनके फलस्वरूप ससारी आत्मा विभिन्न पर्याय मे भ्रमण करता है। अशुभोपयोग की तुलना मे शुभोपयोग उपादेय है क्योकि उसके द्वारा आत्मा ऐसे सस्कार एव पर्याय प्राप्त करता है जिनसे मोक्ष-प्राप्ति सुगम हो जाती है।[४९] कुन्दकुन्दाचार्य मुमुक्षुओ को सचेत करते हुए लिखते हैं कि निरपेक्ष रूप से शुभोपयोग को उपादेय मानने वाले ससार मे ही भ्रमण करेंगे। शुभोपयोग को शुद्धोन्मुखी बनाकर ही

आत्मकल्याण सम्भव है। शुद्धोपयोग द्वारा ही आत्मा विभाव पर्याय का त्याग कर स्वभावपर्याय मे स्थित हो जाता है।

प्रवचनसार—चारित्रनिरूपणप्रधान कृति

विषय निरूपण की दृष्टि से प्रवचनसार चारित्रनिरूपणप्रधान कृति है। प्रारम्भ मे ही कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिज्ञा करते है—'अरिहन्तादि के विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त हो मैं उस साम्यभाव को प्राप्त करता हूँ जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।' 'उपसपयामि सम्म'[१०] के द्वारा की गई कुन्दकुन्दाचार्य की प्रतिज्ञा चारित्र पालन करने को तत्पर प्रत्येक श्रमण की प्रतिज्ञा हो, ऐसी ही ग्रथकार को अपेक्षा है, इसकी पुष्टि कुन्दकुन्दाचार्य के अन्य कथनो से होती है।[११] यह साम्यभाव विशुद्ध दर्शनज्ञानप्रधान-आश्रम की प्राप्ति पूर्वक हो ऐसा निर्देश किया है।[१२] सम्यग्चारित्र का निरूपण ग्रथ का प्रमुख प्रतिपाद्य है यह तथ्य उपक्रमलिग, 'दर्शनज्ञानप्रधान चारित्र से जीव को निर्वाण की प्राप्ति होती,' से भी स्पष्ट है। निर्वाण प्राप्ति का साधनभूत सम्यग्चारित्र अथवा वीत-रागचारित्र है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के साथ ही सम्यग्चारित्र का होना अत्यावश्यक है क्योकि सम्यग्दर्शनज्ञान के होते हुए भी सम्यग्चारित्र के बिना मोक्ष सम्भव नही है।[१३] 'चरित्तादो णिव्वाण' मे मोक्ष के साधनरूप से चारित्र का उल्लेख कर तथा चारित्र मोक्ष का अनिवार्य साधन है यह कहकर कुन्दकुन्दाचार्य ग्रथ के प्रतिपाद्य का उद्देश्य कथन करते है तथा सर्वप्रथम प्रतिपाद्य विषय को परिभाषित करते हैं—'चारित्त खलु धम्मो'[१४] अर्थात् चारित्र ही धर्म है। मिथ्यादर्शन तथा रागद्वेष से रहित आत्मा के साम्यभावमय धर्म को चारित्र कहा है। मोहकर्म से रहित, निर्विकार आत्मा का स्थिर सुखमय परिणाम चारित्र का स्वरूप है,[१५] अतएव चारित्र और आत्मा की एकता सिद्ध होती है। द्रव्य जिस काल म जिस रूप से परिणमन करता है उस काल मे वह उसी रूप हो जाता है इसलिए धर्मरूपपरिणत आत्मा धर्म अथवा चारित्र हो जाता है।

चारित्र के सदर्भ मे यह जानना आवश्यक है कि जीव का उपयोग किस ओर उन्मुख हो ? इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार के तीनो अधिकारों मे शुद्धोपयोग, शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग का उल्लेख किया है।[११] जीव किसी भी प्रकार का चारित्र पालन करे या तो वह अशुद्धोपयोगी होगा, या शुभोपयोगी होगा अथवा अशुभोपयोगी होगा। इस प्रकार चारित्र आचरण का जीव के उपयोग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।[१२]

श्रमण की चर्या मे अशुभोपयोग का कोई स्थान नहीं है। उसकी चर्या प्रारम्भ मे शुभोपयोगमय होनी चाहिए। इस प्रकार चर्या के आधार पर मुनि के शुभोपयोगी भेद करने से यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य को वीतरागचारित्र की भाँति सरागचारित्र भी मान्य है,[१८] तथा यह मान्य है कि शुभोपयोगपूर्वक शुद्धोपयोग होता है।[१६] शुभोपयोग व्यवहार है और शुद्धोपयोग निश्चय है अत· व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है, यह स्पष्ट है किन्तु वह व्यवहार निश्चयोन्मुख होना चाहिए अथवा शुभोपयोग शुद्धोन्मुखी होना चाहिए। अमृतचन्द्र ने भी 'यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या

सगच्छते'[70] लिखकर शुभोपयोग रूप परिणति को भी धर्म मे ही सम्मिलित किया है, अशुभोपयोग की तरह उसे अधर्म नही कहा। अशुभोपयोग मे चारित्र का लेश भी नही है अत उसे अत्यन्त हेय कहा है किन्तु शुभोपयोगधारी को 'कथचिद्विरुद्धकार्यकारि-चारित्र'[71] अर्थात् उसका आचरण यद्यपि चारित्र की सीमा मे आता है। किन्तु वह कथचित् विरुद्ध कार्यकारी है। उसकी उपादेयता मात्र इतनी है कि वह शुद्धोपयोग की प्राप्ति मे सहायक है।

निश्चय दृष्टि से अथवा निर्वाणोपलब्धि के साधन रूप से शुद्धोपयोग ही उपादेय है। शुभोपयोग इन्द्रियजन्य सुख का साधन होने से मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से शुभोपयोग हेय है।[72] कुन्दकुन्दाचार्य कर्मबन्ध की दृष्टि से शुभोपयोग को अशुभोपयोग के समान ही मानते हैं[73] अत दोनो को समान मानकर रागद्वेष से रहित जीव ही शुद्धोपयोग को प्राप्त करता है[74] और यह शुद्धोपयोग रूप परिणाम ही मोक्ष का कारण है।[75]

जो जीव अरिहन्त भगवान् को जानता है, ज्ञानावरणादि अष्टकर्म से रहित तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानादि गुणो से विभूषित सिद्धपरमात्मा को ज्ञानदृष्टि से देखता है, तथैव आचार्य, उपाध्याय और साधुरूप निष्परिग्रह गुरुओ को जानता देखता है तथा जीव मात्र पर दयाभाव से सहित है उस जीव का वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है।[76]

जीव का जो उपयोग विषय और कषाय से व्याप्त है, मिथ्या शास्त्रो का सुनना, आर्त्त रौद्र रूप अशुभध्यानो मे प्रवृत्त होना तथा दुष्ट-कुशील मनुष्यो के साथ गोष्ठी करना आदि कार्यों से युक्त है, हिंसादि पापो के आचरण मे उग्र है, और उन्मार्ग पर चलाने मे तत्पर है वह अशुभोपयोग है।[77]

जो अशुभोपयोग से रहित है और शुभोपयोग मे भी ममत्वहीन है, जो शुद्धात्मा को छोडकर अन्य समस्त द्रव्यो मे मध्यस्थ हो रहा है तथा जो निरन्तर ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता है, ऐसे जीव का उपयोग शुद्धोपयोग कहलाता है। इस शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा का परद्रव्य के साथ सयोग छूट जाता है। इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोगी होने की भावना प्रकट की है।[78]

इस प्रकार जीव का निजशुद्धात्म द्रव्य मे ही होने वाला सतत परिणाम दु खक्षय का कारण है[79] तथा शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है।[80]

कुन्दकुन्दाचार्य ने उपयोग की दृष्टि से शुद्धोपयोगी मुनियो का निर्देश किया है। कर्मआस्रव से रहित मुनि शुद्धोपयोगी हैं तथा शुभोपयोगी मुनि आस्रव सहित हैं। शुभोपयोगी मुनि की शुभोपयोग से युक्त चर्या ही उसके आस्रव का कारण है। मुनि अवस्था मे अरिहन्त आदि मे भक्ति, परमागम से युक्त महामुनियो मे वत्सलता,[81] अपने से पूज्य मुनियो को वन्दना, नमस्कार' विनयादि प्रवृत्ति,[82] दर्शन ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यो का सग्रह तथा पोषण करना, जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना,[83] षट्कायिक जीवों की विराधना न करते हुए ही श्रमणसघ की वैयावृत्ति करना,[84] शुद्धकर्म का अल्प बध होने पर भी गृहस्थ अथवा मुनिधर्म की चर्या से युक्त श्रावक और मुनियो का निरपेक्ष हो दयाभाव से उपकार करना,[85] आदि आदि शुभोपयोगी श्रमण की प्रवृत्तियां हैं। इन प्रवृत्तियो को शुभोपयोगी मुनि के आचार मे सन्निहित कर लिया है।

इस प्रकार शुभोपयोग, शुद्धोपयोग की दृष्टि से सराग चारित्र और वीतराग चारित्र का वर्णन करते हुए भी कुन्दकुन्दाचार्य ने शुभोपयोग व शुद्धोपयोग का फल निरूपित करते हुए अन्ततोगत्वा शुद्धोपयोगी मुनि को ही मुनिपद का अधिकारी, दर्शन-ज्ञानधारी तथा मोक्षगामी कहा है, क्योकि शुभोपयोग पुरुष विशेषता से (जघन्य मध्यम-उत्कृष्ट पात्र की विभिन्नता से) विपरीत अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार का फल देता है जैसे कि नाना प्रकार की भूमि मे पडे हुए बीज धान्योत्पत्ति के समय भिन्न-भिन्न प्रकार के फल देते है।[८६]

अपनी शुद्धि से कल्पित देव गुरु धर्मादि पदार्थों को उद्देश्य कर व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान तथा दान मे तत्पर रहने वाला छद्मस्थ पुरुष मोक्ष को प्राप्त नही करता वरन् सुखस्वरूप देवादि पर्याय को प्राप्त होता है। परमार्थ को न जानने वाले तथा तीव्र कषाय-वृत्ति वाले पुरुषो की सेवा सुश्रुषा करने वाले जीव कुदेवो तथा नीच मनुष्यो की पर्यायि प्राप्त करते हैं। ऐसी वृत्ति भवतारक नही हो सकती। इससे भिन्न जो पुरुष पापो से विरत है, धर्मात्माओ के प्रति समभावी एव गुणसमूह का सेवी है वह सुमार्ग का भागी है। इस प्रकार जो अशुभोपयोग से रहित और शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग से युक्त है वे उत्तम मुनि भव्य मनुष्यो को पार लगाते हैं, उनकी भक्ति करने वाला मनुष्य प्रशस्तफल को प्राप्त होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने मुनियो को श्रमणाभासो के प्रति अभ्युत्थानादि आदरसूचक प्रवृत्तियो के प्रदर्शन का निषेध किया है क्योकि आदर के पात्र शुद्धोपयोगी श्रमण हैं।[८७] आगम अर्थ मे जो निपुण न हो, सयम, तप, ज्ञान से रहित हो अथवा सयम, तप तथा आगमज्ञान से युक्त होकर भी सम्यग्दर्शन से हीन मुनि श्रमणाभास कहलाता है।[८८]

कुन्दकुन्दाचार्य ने मिथ्याचारित्र जनित दोषो का उल्लेख करके मुनियो मे शथिलाचार की सम्भावना को ही समाप्त कर देना चाहा, इसीलिए वे लिखते हैं—'जिनशासन मे स्थित मुनि को देखकर द्वेषवश जो अन्य मुनि उनकी निन्दा करता है तथा अविनय करता है वह चारित्रभ्रष्ट है।[८९] जो स्वय निर्गुणी होते हुए भी 'मैं मुनि हूँ' इस अभिमानवश गुणयुक्तमहामुनियो से विनय की इच्छा करता है वह अनन्तकाल तक ससार मे भ्रमण करता है, साथ ही गुणी मुनि यदि निर्गुणी मुनियो के साथ विनयादि क्रिया मे प्रवृत्त होते हैं तो वे मिथ्यात्व से युक्त तथा चारित्र-च्युत होते हैं।[९०] आगमज्ञानी, कषाय-त्यागी तथा तपस्वी मुनि भी यदि लौकिक असज्जन[९१]-ससर्ग नही त्यागता है तो वह सयमी नहीं है अत चारित्र पालन करने के इच्छुक मुनि को सद्गुणी श्रमणो का सत्सग करना चाहिए।

सच्चारित्र अवस्थिति का फल बताते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जो मिथ्या-चारित्र से रहित तथा पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करने से रागादि कषायोद्रेक से रहित है वह सम्पूर्ण मुनिपद को धारण करने वाला मुनि शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।[९२]

निर्वाण प्राप्ति मे चारित्र का अद्वितीय माहात्म्य है अतएव यथार्थतः तत्वो को जानने वाले तथा बहिरग व अतरग परिग्रह को त्यागकर पचेन्द्रियो के विषयो से निर्लिप्त आचरण वाले महामुनि ही शुद्ध हैं, मोक्ष तत्त्व को सिद्ध करने वाले हैं, ऐसे चारित्रवान्

शुद्धोपयोगी मुनि को ही सच्चे अर्थों मे मुनिपद कहा गया है, वही ज्ञान दर्शन तथा मोक्ष का अधिकारी सिद्धस्वरूप है।[६३]

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो में जैन श्रमण के चारित्र का अद्वितीय विशद निरूपण मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने मिथ्याचारित्र के विराधक मुनियो की आलोचना की है तथा इसके द्वारा सत्साधु का वास्तविक चारित्राचरण कैसा होना चाहिए, यह भी मुनियों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

कुन्दकुन्दचार्य ने प्रवचनसार के अन्तिम तृतीयाधिकार को मुख्यत अनगारधर्म, मुनिचारित्र से सम्बद्ध किया है। उन्होने दीक्षा लेने की विधि से लेकर सभी आवश्यक कर्त्तव्यो का निर्देश कर दिया है।[६४] इसी अधिकार मे मुनियो के पचमहाव्रत पालन, पचसमितिपालन, पचेन्द्रियनिग्रह, केशलोच करना, षडावश्यकपालन, वस्त्र का त्याग, स्नान का त्याग, भूशयन, अदन्तधावन, खडे-खडे भोजन करना और एक बार भोजन करना—ये २८ मूलगुण बतलाए गए हैं। श्रमण इन २८ मूल गुणो के कारण निर्विकल्प सामयिक चारित्र को प्राप्त होता है, मुनिपद की सिद्धि इनसे होती है, जो मुनि इनमे प्रमाद करता है वह छेदोपस्थापक होता है।[६५]

मुनि के चारित्राचरण मे सयम का अभाव नही होना चाहिए। असयम चारित्र का घात करने वाला है अत कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि बालक मुनि, वृद्ध मुनि अथवा तपस्या आदि के श्रम से खिन्न मुनि अथवा रोगादि पीडित मुनि अपने योग्य उस प्रकार की चर्या का आचरण कर सकता है जिससे मूल सयम का घात न हो तथा मुनि, देशकाल श्रम सहनशक्ति और शरीररूप परिग्रह को अच्छी तरह जानकर आहार तथा विहार मे प्रवृत्ति करे। केवल कठोर चर्या के पालन से सयमघात तथा अधिक कर्मबध की आशका रहती है अत आहारादिग्रहण मे अल्पकर्मबध होने पर भी वे यदि सयम मे बाधक न हो तो आचरण योग्य हैं। आचरण मे शिथिलता न आवे अत मुनि केवल अपवादमार्ग का आचरण न कर उत्सर्गमार्ग अपनावे तथा केवल उत्सर्गमार्ग की कठोरता सयम को डिगा न दे इसलिए अपवादमार्ग की स्वीकृति भी कुन्दकुन्दाचार्य ने दी है। इस प्रकार उत्सर्ग-मार्ग और अपवादमार्ग मे मैत्रीभाव से ही चारित्र की स्थिरता रह सकती है यही भाव चारित्राधिकार मे सुस्पष्ट किया है।[६६]

चारित्र पालन करने वाला साधु ही सयमी कहा गया है। जो ईर्यादि पाँच समितियो से सहित है, कायगुप्ति, वचनगुप्ति, मनोगुप्ति इन तीन गुप्तियो से युक्त है, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियो को रोकने वाला है, क्रोधादि कषायो को जीतने वाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से पूर्ण है, ऐसा साधु सयत गया है।[६७]

मुनिपद की पूर्णता तभी सार्थक है जब मुनि मोक्ष का अधिकारी हो क्योकि कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रमणो का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति कहा है। अतएव मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय से युक्त मुनि ही सच्चे अर्थों मे मुनि है। जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो मे एक साथ उद्यत रहता है वह एकाग्रगत है तथा उसी का मुनिपद पूर्णता को प्राप्त होता है।[६८]

वास्तव मे जो सम्यक्चारित्र का आचरण करने वाला मुनि है वही सम्यग्दर्शन

और ज्ञान से भी युक्त है, क्योकि चारित्र पालन के लिए सम्यग्दर्शन व ज्ञान पूर्वापेक्षाएँ हैं। सम्यग्चारित्र को धारण करने वाला श्रमण निस्सदेह ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से युक्त होगा किन्तु ऐसा श्रमण जिसका चारित्र सम्यक्त्व से युक्त नही हो पाया है वह सम्यग्-चारित्र रूपी लक्ष्य की सिद्धि हेतु सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान का समुचित बोध अनिवार्यत अनुभव करेगा। कुन्दकुन्दाचार्य का प्रवचनसार ऐसे ही श्रमणो के मार्गदर्शनार्थ रचित कृति है जो मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त हैं और अभी तक गतव्य तक नही पहुँच सके हैं। यही कारण है कि अपने इस चारित्रप्रधान ग्रन्थ मे कुन्दकुन्दाचार्य ने सम्यग्चारित्र के साधनभूत ज्ञान एव ज्ञेय के विषय मे भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। यह इस दृष्टि से भी तर्क सगत प्रतीत होता है कि ज्ञेय और ज्ञान का समुचित बोध प्राप्त किये बिना कोई भी जीव सम्यग्चारित्र का आचरण नहीं कर सकता।

प्रवचनसार की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ मे केवलमात्र सैद्धांतिक रूप से चारित्रमार्ग का निर्देश नही किया गया है अपितु व्यावहारिक दृष्टि से सम्यग्-चारित्रपालनार्थ किन-किन महत्त्वपूर्ण तथ्यो एव कर्त्तव्यो की ओर श्रमण को सजग रहना चाहिए इसका भी निरूपण किया गया है। सम्यग्चारित्रधारी जीव को शुद्धोपयोगी होना ही चाहिए लेकिन जो जीव सम्यग्चारित्र धारण करने के इच्छुक हो उनके प्रति-बोधनार्थ शुभोपयोग एव अशुभोपयोग के स्वरूप का निर्देश करना भी आवश्यक है। अपनी साधना के प्रत्येक क्षण मे श्रमण को यह स्मरण रहना चाहिए कि शुद्धोपयोग से विचलित होते ही वह शुभोपयोग की स्थिति मे आ जाएगा और शुभ कर्मों का बन्ध करेगा। उसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान रहना चाहिए कि पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के उदय की स्थिति मे कषाय की तीव्रता होनी सम्भाव्य है। यदि उसका निरोध नही किया गया तो वह शुभोपयोग से भी विचलित होकर अशुभोपयोग मे परिणमन करेगा जिसके फल-स्वरूप वह नितान्त अवांछनीय अशुभ कर्मों का बन्ध करेगा। निश्चयनय से मुमुक्षुओ के लिए शुद्धोपयोग ही उपादेय है किन्तु साधना मे लीन मुमुक्षुओ के लिए सतत शुद्धोपयोग बनाए रखना सुगम नही है। यही कारण है कि व्यवहारनय से शुभोपयोग को अशुभोप-योग की तुलना मे उपादेय माना गया है। इस सन्दर्भ मे एक बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव विचारणीय है कि जिस सीमा तक जीव को ज्ञान तथा दर्शन मे सम्यक्त्व प्राप्त होगा उसी सीमा तक वह सम्यग्चारित्र के पालन मे सक्षम होगा। सम्यक्त्व का होना अथवा न होना ही पात्रता अथवा अपात्रता का निर्णायक है।[९९] सम्यक्त्व से रहित जीव शुभोपयोग को सांसारिक उपलब्धियो की दृष्टि से उपादेय मानेगा। उसकी दृष्टि शुद्धोपयोगोन्मुख नही होगी। इसके विपरीत सम्यक्त्वधारी जीव अपनी समस्त शुभोपयोगी चेष्टाओ को शुद्धोन्मुख बनाएगा। देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि का वैभव भी उसे जलबुद्बुद्वत् क्षणभगुर प्रतीत होगा।[१००]

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य की प्रस्तुत कृति यद्यपि उनकी तत्वज्ञता एव दार्शनिकता की भी परिचायक है किन्तु मुख्यत यह कृति उनकी आचारप्रवणता से ओतप्रोत है। प्रवचनसार के अध्ययन से उनकी विद्वत्ता एव तार्किकता झलकती है तथा उनके द्वारा निरूपित आचारनिष्ठा का यथार्थरूप श्रमणो के लिए आदर्श उदाहरण सिद्ध हुआ है।

निष्कर्ष

कुन्दकुन्दाचार्य की तीन प्रमुख रचनाओ (प्राभृतत्रय) मे प्रवचनसार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुन्दकुन्दाचार्य का प्रयोजन विशुद्ध आत्मद्रव्य का कथन करते हुए ससारी जीवो के लिए मोक्ष का मार्ग निर्दिष्ट करना है, अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने भेदविज्ञान के माध्यम मे स्वपरविवेक का स्वरूप स्पष्ट किया है। आत्मद्रव्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितना आवश्यक निजस्वरूप को पहचानना है उतना ही आवश्यक परस्वरूप से उसके भिन्नत्व को जानना भी है। इस प्रकार स्वद्रव्य अथवा परद्रव्यरूप समस्त ज्ञेयो का यथार्थज्ञान प्राप्त करने पर ही आत्मज्ञान सम्भव है।

कुन्दकुन्दाचार्य के पचास्तिकाय मे विभिन्न ज्ञेयो के कथन के द्वारा उन्हे जीवद्रव्य से भिन्न दर्शाया गया है और समयसार मे निर्मल आत्मा रूपी समयसार के स्वरूप को स्पष्ट करने पर बल दिया है। प्रवचनसार रत्नत्रय रूपी मोक्ष के मार्ग के निरूपण मे चरित्रनिरूपण की प्रधानता को लिए हुए है। सम्यग्दर्शन के लिए ज्ञेयो के यथार्थ स्वरूप मे श्रद्धान आवश्यक है तथा सम्यग्ज्ञान के लिए विभिन्न ज्ञेयो की समस्त पर्यायो को उनके यथार्थरूप मे युगपत् जानना आवश्यक है, इस प्रकार सम्यग्ज्ञान निरूपण की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार के प्रथम दो अधिकारो के माध्यम से दर्शन व ज्ञान से सम्बन्धित सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले क्रमश ज्ञेयो का कथन ज्ञेयत्वाधिकार मे तथा ज्ञान का कथन ज्ञानाधिकार मे किया है। इस प्रकार एक पुष्ट आधार प्रदान करने के पश्चात् कुन्दकुन्दाचार्य मुमुक्षु के लिए व्यवहार चारित्र और निश्चयचारित्र का मार्ग दर्शाकर उसे मोक्ष प्राप्ति मे सहायक सिद्ध करते हैं।

सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान हो जाने के बाद भी सम्यग्चारित्र के अभाव मे मोक्षप्राप्ति सम्भव नही इस प्रकार रत्नत्रय मे सम्यग्चारित्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्व स्थान है क्योकि सम्यग्चारित्र द्वारा ही जीव शुभ अशुभ उपयोग का परित्याग कर शुद्धोपयोग मे स्थिर हो सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के प्राभृत मे पञ्चास्तिकाय मे सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने की प्रधानता है। समयसार मे सम्यग्ज्ञान को पुष्ट करने की प्रधानता है तथा प्रवचनसार में रत्नत्रय के अन्तिम सोपान सम्यग्चारित्र को पुष्ट करने की प्रधानता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्रको एक साथ प्राप्त करने पर ही मोक्षप्राप्ति सम्भव है। यही कारण है कि कुन्दकुन्दाचार्य की समस्त रचनाओ मे पञ्चास्तिकाय, समयसार तथा प्रवचनसार को प्राभृतत्रय सज्ञा से अभिहित किया है।

सन्दर्भ

१ (क) कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार, (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन०, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९६४

(ख) कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार, (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावक-मण्डल, बम्बई, विक्रम सवत् १९६९

(ग) कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार, (सम्पा०) शाह, हिम्मतलाल जेठालाल, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, १६६४

२ 'लिंगानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि।'
—सदानन्दयोगीन्द्र वेदान्तसार, (सम्पा०) श्रीवास्तव्य, सन्तनारायण, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १६६८, पृ० १६०

३. कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार, (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन०, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, १६६४ (प्रवचनसार से सम्बद्ध सभी पृष्ठाकन इसी सस्करण मे उद्धृत है)

४ प्रवचनसार, अध्याय १, गाथा ६, पृ० ६

५ वही, अध्याय ३।७५, पृ० ३३५

६ वही, १।६, पृ० ६

७ वही, १।६२, पृ० १०४

८. वही, २।१, पृ० १०८

६ वही, २।१०८, पृ० २४३

१०. वही, ३।१, पृ० २४६

११. (क) 'चारित्त खलु धम्मो' —प्रवचनसार, १।७, पृ० ७

(ख) प्रवचनसार, १।६-८, ११-१३, पृ० ६-८, ११-१३, २।६५-६८, पृ० १६८-२०१, ३।३०, ४२-४३, ४५-४८, पृ० २८५, ३०५-७, ३०६-२०

१२ 'बुज्झदि सासणमेय सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसार लहुणा कालेण पप्पोदि॥'
—प्रवचनसार, ३।७५, पृ० ३३५, १।५, पृ० ३, २।६७, १०८, पृ० २००, २४२

१३. प्रवचनसार, १।६, पृ० ६

१४ वही, १।५, ११, १३, १६, पृ० ३, ११, १३, १८, २।१०३-४, पृ० २३७-३८, ३।७५, पृ० ३३५

१५. वही, १।७, पृ० ७

१६ वही, ३।७४, पृ० ३३४

१७. (क) णरणारयतिरियसुरा भजति जति देहसभव दुक्ख।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाण॥ —वही, १।७२, पृ० ८३

(ख) प्रवचनसार, ३।७३-७६, पृ० ८४-८६

१८ वही, ३।७५, पृ० ३३५

१६. वही, १।५, पृ० ३

२० (अ) 'सम्मत्तरयणरहिओ अपत्तमिदि सपरिक्खेज्जो।'
—कुन्दकुन्दभारती, (सम्पा०) पन्नालाल, श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, १६७०, पृ० ३११

(ब) कुन्दकुन्दप्राभृतसग्रह, (सम्पा०) कैलाशचन्द्र जैन, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, १६६०, प्रस्तावना, पृ० ६२

२१. (अ) 'सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि।'—प्रवचनसार, २।१०२, पृ० २३६

(ब) 'बुज्झदि सासणमेय सागारणगारचरियया जुत्तो ।...'

—वही, ३।७५, पृ० ३३५

(स) 'एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो घरत्थाणं ।' —वही, ३।५४, पृ० ३१७

२२. वही, ३।५०, पृ० ३१२

२३. 'परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धि ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥'

—वही, ३।३९, पृ० ३०१

२४ वही, ३।४०-४५, पृ० ३०३-९

२५. वही, १।६२, पृ० १०४

२६ 'सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो ।
समणो समसुह दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥' —वही, १।१४, पृ० १४

२७. वही, १।११-१२, १४, पृ० ११-१४

२८. 'उवओगविसुद्धो जो विगदावरणतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा आदि पर णयेभूदाण ॥' —वही, १।१५, पृ० १६

२९ वही, २।९८, पृ० २३१

३० वही, २।१०३, पृ० २३७

३१ वही, ३।१, पृ० २४

३२ वही, ३।२-४, पृ० २४८-५२

३३ वही, ३।५-६, पृ० २५३-५४

३४ 'आदाय त पि लिंग गुरुणा परमेण त णमसित्ता ।
सोच्चा सवद किरिय उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥' —वही, ३।७, पृ० २५५

३५ भावपाहुड, गा० ५४-५९, १२७, अष्टपाहुड, पृ० १९२-६५, २०७

३६ प्रवचनसार, ३।१०, पृ० २५८

३७. वही, ३।८-९, पृ० २५७

३८ (क) 'एक्क खलु त भत्त अप्पडिपुण्णोदर जहालद्ध ।
चरण भिक्खेण दिवा ण रसावेक्ख ण मधुमसं ॥' —वही, ३।२९, पृ० २८३

(ख) वही, ३।२६-२७, पृ० २८०-८१

३९. वही, ३।१६-१८, २१, पृ० २६४-६६, २७१

४० वही, ३।११-१५, पृ० २५९-६३

४१ वही, ३।३०-३१, पृ० २८५-८६

४२ वही, ३।३३-३८, पृ० २९३-३००

४३. वही, ३।४१, पृ० ३०४

४४. वही, ३।२६, पृ० २८०

४५ वही, ३।४०, पृ० ३०३

४६. (क) 'समणो वहदि जदि अप्पलेवी सो' —वही, ३।३१, पृ० २८८

(ख) वही, ३।१८-२१, पृ० २६६-७१

(ग) वही, ३।४१, ४४, ७३, पृ० ३०४, ३०८, ३३३

४७. वही, ३।२४, पृ० २७४, ३।३६, पृ० ३०१

४८ वही, ३।२२-२३, पृ० २७२-७३

४९. वही, ३।२५, पृ० २७५

५० 'समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।' —वही, ३।४५, पृ० ३०९

५१. वही, ३।६४-७१, पृ० ३२४-३३१

५२. (क) 'परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्त' — वही, १।८, पृ० ८

(ख) 'जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो॥' —वही, १।९, पृ० ९

५३. वही, १।१३-१६, पृ० १३-१८

५४. वही, १।२१, पृ० २७

५५. (क) 'तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीण॥ —वही, १।३७, पृ० ४४

(ख) 'जदि ते ण सति अट्ठा णाणे णाण ण होदि सव्वगय।
सव्वगय वा णाण कह ण णाणट्ठिया अट्ठा॥' —वही, १।३१, पृ० ३७

(ग) प्रवचनसार, १।३८ से ४२, पृ० ४६ से ४९

५६ 'जे णेव हि सजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा॥' —वही, १।३८, पृ० ४६

५७ वही, १।३९, पृ० ४७

५८ 'उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो॥' —वही, १।१८, पृ० २१

५९. वही, १।११, १२, पृ० ११, १३

६० (क) 'तेसिं विसुद्धदसणणाणपहाणासम समासेज्ज।
उपसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती॥' —वही, १।५, पृ० ३

(ख) पचास्तिकाय, गा० १०७, पृ० १६९

६१ (क) 'तम्हा जह जाणित्ता अप्पाण जाणग सभावेण।
परिवज्जामि ममत्ति उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि॥
—प्रवचनसार, २।१०८, पृ० २४२

(ख) वही, २।६७, पृ० २००

६२. वही, १।६, पृ० ६

६३ (क) 'असजदो वा ण णिव्वादि' —वही, ३।३७, पृ० २९८

(ख) 'सयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धि'
—अमृतचन्द्र, प्रवचनसार, गाथा टीका, ३।३७, पृ० २९९

६४. 'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥'
—वही, १।७, पृ० ७

६५. 'सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम्' —अमृतचन्द्र प्रवचनसार, गाथा टीका ८, पृ० ८

६६ (क) प्रवचनसार (प्रथम अधिकार) गा० १।११, १२, १४ से १६, १९, २० (अशुभोपयोगी तथा शुभोपयोगी को संसारभ्रमण, अशुभोपयोगी को नरकादि निम्न गति, शुभोपयोगी को स्वर्गादिलाभ, शुद्धोपयोगी को मोक्ष प्राप्ति, अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्ति, स्वयम्भू केवली आदि संज्ञा प्राप्ति), १।६९, ७० (इन्द्रियजन्यसुख शुभोपयोग से साध्य), १।७२, ७८ (शुभोपयोग व अशुभोपयोग समान, ऐसा मानने वाला, राग-द्वेष रहित जीव शुद्धोपयोग को प्राप्त करता है); १।७३, ७४, (शुभोपयोग जन्य फलवान् पुण्य तथा दुःख का कारण), १।८३ (मोह, राग-द्वेष शुद्धात्मलाभ के परिपन्थी)

(ख) (द्वितीय अधिकार) २।३४ (अभेद भावना का फल शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति), २।६४ (कौन सा उपयोग किस कर्म का कारण ?), २।६५ से ६७ (तीनों उपयोगों का स्वरूप), २।८९ (शुभाशुभभावरहित शुद्धोपयोग रूप परिणमन मोक्ष का कारण), २।१०५-६ (केवली उत्कृष्टसुख का ध्यान करते हैं), २।१०७ (शुद्धात्मा की प्राप्ति मोक्ष का मार्ग)

(ग) (तृतीय अधिकार) ३।४६ से ६० (शुभोपयोगी के लक्षण, प्रवृत्ति, फल, भेद आदि शुभोपयोगी तथा शुद्धोपयोगी लोक कल्याणकारी), ३।७३, ७४ (शुद्ध जीवों का स्वरूप, श्रामण्य, दर्शनज्ञान, निर्वाण सभी शुद्ध जीव के ही)।

६७ 'जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥
—वही, १।९, पृ० ९

६८ 'समणासुद्धुवजुत्ता य होंति समयम्मि' —वही, ३।४५, पृ० ३०९

६९ (क) वही, १।६, पृ० ६
(ख) वही, ३।५९-६०, पृ० ३२१

७० अमृतचन्द्र प्रवचनसार, गाथा टीका, १।११, पृ० १२

७१ वही

७२ वही, १।६९ ७१, पृ० ८०-८२

७३. वही, १।७२, ७७, पृ० ८३, ८७

७४ वही, १।७८, पृ० ८८

७५ वही, २।८८, पृ० २२१

७६ वही, २।६५, पृ० १९८

७७ वही, २।६६, पृ० १९९

७८ असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्ज मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पग झाए ॥ —वही, २।६७, पृ० २००

७९ वही, २।८९, पृ० २२२

८०. वही, २।१०७, पृ० २४१

८१. वही, ३।४६, पृ० ३१०

८२ वही, ३।४७, पृ० ३११
८३ वही, ३।४८, पृ० ३१२
८४ वही, ३।४६, पृ० ३१२
८५ वही, ३।५१, पृ० ३१४
८६. वही, ३।५५, पृ० ३१८
८७. वही, ३।६३, पृ० ३२३
८८ वही, ३।६४, पृ० ३२४
८६ वही, ३।६५, पृ० ३२५
६०. वही, ३।६६-६७, पृ० ३२६-२७
६१. 'णिग्गथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो सजमतवसजुदो चावि ॥ —वही, ३।६६, पृ० ३२६
६२ वही, ३।७२, पृ० ३३२
६३ वही, ३।७४, पृ० ३३४
६४ वही, ३।२ से ६, पृ० २४८-५४
६५ वही, ३।८-६, पृ० २५७
६६. वही, ३।३०-३१, पृ० २८५-८८
६७ वही, ३।४०, पृ० ३०३
६८ वही, ३।४२, पृ० ३०५, १।६२, पृ० १०४
६६ द्वादशानुप्रेक्षा, गा० १७-१८, कुन्दकुन्दभारती, (सम्पा०) पन्नालाल, पृ० ३११
१०० (क) द्वादशानुप्रेक्षा, गा० ५, कुन्दकुन्दभारती, पृ० ३०६
(ख) प्रवचनसार, १।६, पृ० ६

चतुर्थ अध्याय

समयसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

(क) 'समयसार' शीर्षक का तात्पर्य

(ख) पदार्थ-निरूपण

(ग) समयसार की रचना का प्रयोजन

(घ) समयसार में भेदविज्ञान-निरूपण

(ङ) समयसार मे कर्तृ-कर्म-निरूपण

समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

समयसार शीर्षक का तात्पर्य

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार[1] ग्रंथ के प्रारम्भ मे मगलाचरण करते हुए 'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणिय' वाक्य द्वारा ग्रंथ कथन की प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी इस रचना को मूलत समयापाहुड अथवा समयप्राभृत सज्ञा प्रदान की थी। कुन्दकुन्दाचार्य की प्रवचनसार, नियमसार आदि सारान्त कृतियो के कारण ही कदाचित् समयप्राभृत भी समयसार नाम से लोकप्रिय हुई अथवा 'प्राभृत सार सार शुद्धावस्था'[2] इस निरुक्ति से समयप्राभृत कृति समयसार रूप से प्रसिद्ध हुई है। अपनी इस रचना को कुन्दकुन्दाचार्य ने समयप्राभृत क्यो कहा ? इस विषय मे 'समय' एव 'प्राभृत' शब्दो की निरुक्तिपूर्वक व्याख्या अपेक्षित है। 'समयते एकत्वेन युगपत् जानाति इति' समय शब्द की इस निरुक्ति के अनुसार समय शब्द का अर्थ जीव अथवा आत्मा होता है। 'सम्यक् अय बोधो यस्य स भवति समय आत्मा', अथवा 'सम एकीभावेनायन गमन समय ।'[3] इस प्रकार समय का अर्थ आत्मा और कभी-कभी समभाव (सामायिक) भी किया जाता है। भाव सामायिक का निरूपण करते हुए मूलाचार मे स्पष्ट उल्लेख है—"सम्यग्दर्शन, ज्ञान, सयम और तप से जीव के एकीभाव को समय कहते हैं, इस समय को ही सामायिक जानना चाहिए।[4]

स्वय आचार्य कुन्दकुन्द ने निर्मल आत्मा को 'समय' कहा है —'समयो खलु णिम्मलो अप्पा।'[5]

'प्रकर्षेण आसमन्ताद् भृत इति प्राभृत' इस व्याख्या के अनुसार प्राभृत शब्द का अर्थ है—उत्कृष्टता के साथ सब ओर से भरा हुआ। जयधवलाग्रन्थ मे 'प्रकृष्टैराचार्यै-र्विद्यावित्तवद्भिराभृत धारित व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्' विद्याधनयुक्त महान् आचार्यों के द्वारा जो धारण किया गया है, व्याख्यान किया गया है, अथवा परम्परा रूप से लाया गया है वह है प्राभृत है अर्थात् प्राभृत का अर्थशास्त्र है।[6] समय एव प्राभृत दोनों शब्दो में समयस्यप्रभृात समयप्राभृत ऐसा समास करने पर समयप्राभृत का अर्थ जीव अथवा आत्मा का शास्त्र होता है। टीकाकार जयसेन ने 'प्राभृत सार सार शुद्धावस्था समयस्यात्मन प्राभृत समयप्राभृत, अथवा समय एव प्राभृत समयप्राभृत'[7] लिखकर 'आत्मा की शुद्धावस्था' अथवा 'आत्मा रूप शुद्धावस्था' ही समयपाहुड का अर्थ किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रचलित नाम समयसार है, जिसका अर्थ त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव अथवा सिद्ध पर्याय आत्मा है। आत्मशास्त्र मे वस्तुत सिद्धपर्याय का निरूपण किया जाएगा। अत समय प्राभृत अथवा समय सार इन दोनो मे कोई भी नाम कुन्दकुन्दाचार्य की इस रचना की विषयवस्तु का प्रतिनिधित्व करने मे सक्षम है।

साराशरूपेण यह कहा जा सकता है कि आत्मा की शुद्धावस्था ही समयसार है और यही आत्मा की शुद्धावस्था समयसार ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। समभावपूर्वक आचरण को समयसार कहे तो यह निश्चय चारित्र रूप शुद्धोपयोग भी आत्मा की शुद्धावस्था को प्राप्त कराने वाला है—इस प्रकार आत्मनिरूपण प्रधान इस ग्रन्थ की 'समयपाहुड' सज्ञा सार्थक प्रतीत होती है। टीकाकार जयसेन (१२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) द्वारा समयसार विषयनिरूपण की दृष्टि से दस अधिकारो मे विभक्त किया गया है। समयसार के टीकाकार अमृतचन्द्र (१०वी शताब्दी का प्रारम्भ) ने नयो का सामजस्य उपस्थित करने के लिए स्याद्वादाधिकार तथा उपायोपेयभावाधिकार नामक दो स्वतन्त्र परिशिष्ट जोड़ दिए हैं। अमृतचन्द्र की टीका 'आत्मख्याति' के अनुसार समयसार में ४१५ गाथाएँ हैं तथा जयसेन ने 'तात्पर्यवृत्ति' मे ४४२ गाथाओ पर टीका लिखी है।

पदार्थ-निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार के प्रारम्भ मे ही स्वसमय और परसमय की व्याख्या प्रस्तुत की है—'जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र मे स्थित है, निश्चय मे उसे स्वसमय जानो तथा जो पुद्गल कर्म प्रदेशो मे स्थित है उसे परसमय जानो।'[८] अपने गुणो के साथ एकत्व के निश्चय को प्राप्त करने वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है तथा कर्मबन्ध के साथ एकत्व प्राप्त करने वाला आत्मा हेय है क्योकि स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, परसमय नही।

कुन्दकुन्दाचार्य स्वसमय एव परसमय के मध्य अन्तर को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जो जीव निजात्मा के स्वरूप मे ही स्थित है, उसमे ही परिणमन करता है, निजद्रव्य से भिन्न समस्त परद्रव्यो का ज्ञाता द्रष्टा मात्र है वह जीव स्वसमय है और निश्चय से पुद्गलादि समस्त अजीव द्रव्यो को हेय तथा निज से सर्वथा भिन्न परद्रव्यरूप मानता और जानता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हुआ जीव सम्यग्चारित्र का आचरण करता हुआ रत्नत्रय रूपी मार्ग से मोक्ष की प्राप्ति करता है। इस दार्शनिक विषयवस्तु को ससारी जीवो के लिए सुग्राह्य बनाने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने अर्थ, तत्त्वार्थ एव पदार्थों का निरूपण किया है। उनके इस निरूपण मे भी इस बात को प्रधानता दी गई है कि सर्वप्रथम जीव एव अजीव के बीच स्पष्ट भेद निरूपित किया जाए।

जीव-निरूपण[९]

समस्त द्रव्यो में एकमात्र जीव द्रव्य ही चेतना एव उपयोगमय है। जीव द्रव्य की अनुपस्थिति में चेतना की परिचायक कोई भी गतिविधि सम्भव नहीं है। जीव अक

पुद्गल के सयोग को प्राप्त करता है तो शुभाशुभ रूप विभाव परिणमन करता है। जीव के इस परिणमन मे पुद्गल निमित्त कारण होता है, इसी प्रकार जीव के सयोग से पुद्गल भी विभावरूप परिणमन करता है, पुद्गल के इस परिणमन में जीव निमित्त कारण रहता है। जीव न पर का कर्ता है, न भोक्ता ही, उसका परिणमन तो स्वचतुष्टय मे ही होता है, वह न तो स्वय परचतुष्टय मे परिणमन करता है और न किसी परद्रव्य को ही निज-चतुष्टय मे परिणमन करने देता है। जीव की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, उसके निमित्त से होने वाले पुद्गल द्रव्य म विभाव-परिणमन व्यवहार की अपेक्षा से ही जीव के स्वभाव कहे जाते है। वस्तुत जीव तो अनन्त ज्ञानमय है, उसका स्वभाव तो परद्रव्यो को देखना, जानना मात्र ही है उनमें तन्मय होना कदापि नही।

आत्मा के स्वरूप का विसद वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य ने इस अपेक्षा से किया है कि भव्य जीव पराश्रय रहित पुरुषार्थ द्वारा निजशुद्धावस्था को प्राप्त कर सके।[10]

अजीव निरूपण

ससारी जीव मोह से भ्रमित हुआ चेतना से रहित विभिन्न अजीव पदार्थों मे आसक्ति का अनुभव करता है, उनके सयोग मे सुख और वियोग मे दु ख का अनुभव करता है, उसकी यह राग और कषाय बुद्धि ही उसके ससार भ्रमण का कारण है। पुद्गलादि समस्त अजीव पदार्थ चेतना, ज्ञान एव उपयोग से रहित हैं,[11] इस प्रकार आत्मा से विपरीत लक्षणो वाले ये अजीव पदार्थ आत्मा के कदापि नही हो सकते।[12]

पुण्य-पाप निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि शुद्धोपयोग की ओर ही प्रवृत्त है, शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग रूप अशुद्धोपयोग को कुन्दकुन्दाचार्य ससार का कारण मानते हैं। कर्म चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हेय ही हैं क्योकि कर्म ही बधन के कारण है, कर्म ही मुक्ति मे बाधक है, बेडी चाहे लोहे की हो अथवा स्वर्ण की, दोनो ही बन्धन के प्रतीक हैं, मुक्ति तो बेडी के नाश से ही मिल सकती है। शुभ कर्मों से पुण्योपलब्धि तथा अशुभ कर्मों स पापोपलब्धि होती है, ये पुण्य व पाप ससार रूप फल अवश्य ही प्रदान करते है अत मोक्ष प्राप्ति के लिए पुण्य व पाप दोनो ही त्याज्य हैं।[13]

कुन्दकुन्दाचार्य शुभ व अशुभ दोनो कर्मों को 'कुशील' कहते हैं। इन कुशीलो के प्रति राग और ससर्ग से निजात्म स्वाधीनता का हनन होता है अत एव अज्ञानी रागी पुरुष ही दुर्जन की सगति की भाँति दु.खदायी इन कर्मप्रकृतियो मे रत रहता है, ज्ञानी वीतरागी पुरुष कर्मों से रहित होकर स्वस्वभाव मे स्थिरतारूप निर्वाण को प्राप्त करते हैं।[14]

परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मानुभव से विलग रहते हुए अज्ञानी जीव तप, व्रत तथा पुण्यकर्मों को करते हुए भी ससार मे ही भ्रमण करते हैं, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, कषाय रूपी कर्म क्रमश सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र को आवृत्त कर उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे मल से आच्छादित हो वस्त्र की सफेदी नष्ट हो जाती है।[15] स्थूल उदाहरण द्वारा

यह कथन व्यवहारनय से किया गया है। निश्चयनय से जीव मे ज्ञान दर्शन कभी नष्ट नही होते, निश्चय से आत्मा मे ज्ञान न उत्पन्न होता है न नष्ट ही, कर्मावरण की सघनता अथवा विरलता के आधार पर तुलनात्मक रूप स अव्यक्त अथवा व्यक्त हो जाता है अतएव वास्तव मे जीवादि पदार्थो के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन जीवादि के यथार्थज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान तथा रागादिपरित्याग रूप सम्यग्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है तथा श्रेष्ठ श्रमण व्यवहाराश्रय त्यागकर निश्चयपरमार्थ आत्मा का आश्रय ग्रहण कर मुक्त हो जाते हैं।[१६]

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य केवल पाप रूप अशुभोपयोग को ही मोक्ष मे बाधक नही मानते वरन् सुशील प्रतीत होने वाला पुण्यकर्म रूप शुभोपयोग भी ससार का ही कारण है ऐसा निर्देश देते है अत मोक्षाभिलाषी को दोनो का त्याग करना चाहिए।[१७]

आस्रव निरूपण

शरीर, वाणी और मन की क्रिया योग है और वही आस्रव है।[१८] कर्मों का आगमन द्वार होने से इसे आस्रव कहते है।[१९] जीव के द्वारा प्रति क्षण मन से, वचन से या काय से जो कुछ भी शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे जीव का भावास्रव कहते हैं। भावास्रव के निमित्त से आकर्षित होकर जीव के प्रदेशो म प्रवेश करने वाली विशिष्ट जडपुद्गलवर्गणाएँ द्रव्यास्रव है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार अध्यवसान भाव आस्रव के कारण कहे गए है। ज्ञानी जीव के अज्ञान अवस्था मे बधे हुए द्रव्यास्रव रूप सभी प्रत्यय पृथ्वी के पिण्ड के समान है और कार्माण शरीर के साथ बधे हुए हैं।[२०] मिथ्यात्वादि ही ज्ञानादि से सम्बद्ध ज्ञानावरणादि कर्मों को प्रतिसमय बाधते हैं, अत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के राग, द्वेष, मोह ये आस्रव नही हैं और आस्रव भाव के बिना द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नही हैं।[२१] मिथ्यात्वादि चार आस्रव के कारणो मे ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का कर्मबन्ध होता है, मिथ्यात्वादि चार कारणों के हेतु रागादिभाव हैं, सम्यग्दृष्टि मे रागादि भाव का अभाव होने से मिथ्यात्वादि नही होते अतएव ही ज्ञानी के कर्मबन्धन का निषेध किया जाता है। ज्ञानी केवल बधे हुए कर्मों को जानता है, नवीन बन्ध नही करता,[२२] ज्ञानी के पूर्व मे बाँधे गए मिथ्यात्वादि प्रत्ययो के विद्यमान रहने पर भी बन्ध नहीं होता क्योंकि विपाकावस्था द्वारा उपभोग मे आने पर ही वे रागादि भावो से नवीन कर्मों को बाँधते हैं। मिथ्यात्वादि प्रत्यय जब तक निरुपयोग रहते हैं अर्थात् विपाकावस्था को प्राप्त नही होते तब तक बन्ध नही करते, विपाकावस्था मे आने से उपभोग्य हो जाने पर ही रागादि भावो के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधने लगते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के रागादि रूप भावो के अभाव मे मिथ्यात्व आदि प्रत्यय बन्ध करने वाले नही कहे जाते हैं।[२३]

सवर निरूपण

'सव्रियते सवरणमात्र वा सवर'[२४] अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों का आगमन रोका जाए अथवा कर्मों के आगमन का रुकना ही सवर है।

जो जीव अपने आत्मा को स्वय के द्वारा शुभाशुभ रूप दोनो योगो से रोककर

दर्शन ज्ञान में स्थित हुआ है, अन्य पदार्थों मे इच्छा रहित है तथा समस्त परिग्रह से रहित होता हुआ आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है, कर्म और नो कर्म का ध्यान नही करता किन्तु चेतना रूप होकर एकत्व भाव का चिन्तन करता है वह आत्मा का ध्यान करने वाला, दर्शनज्ञानमय तथा अन्य वस्तुरूप नही होने वाला जीव शीघ्र ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।[२५]

आत्मस्वभाव ज्ञान पर ही कुन्दकुन्दाचार्य ने बल दिया हैं क्योकि शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा का साक्षात्कार कर्ता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव ही आत्मा को पाता है।[२६] इसी कारण कुन्दकुन्दाचार्य ने उपयोग के महत्त्व को प्रदर्शित कर शुद्धात्मा होने के लिए ही प्रेरणा की है—उपयोग मे उपयोग है, क्रोधादि मे कोई उपयोग नही है, क्रोध मे क्रोध ही है, निश्चय से उपयोग मे क्रोध नही है। आठ प्रकार के कर्म और नोकर्म मे उपयोग नही है इसी प्रकार उपयोग मे कर्म और नोकर्म नही है। जिस समय जीव को उक्त प्रकार का भेदज्ञान हो जाता है तभी वह उपयोग से शुद्धात्मा होता हुआ, शुद्धोपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भाव मे रमण नहीं करता है,[२७] अत एव राग, द्वेष, मोह स्वरूप आस्रवभावो का अभाव रूप सवर होता है।[२८]

सुवर्ण तपाये जाने पर भी जैसे अपने स्वभाव को नही छोडता है तथैव कर्मोदय से तप्त ज्ञानी पुरुष भी ज्ञानस्वभाव से च्युत नही होते किन्तु अज्ञानरूप आवरण से आच्छादित अज्ञानी आत्मस्वभाव को नही जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

निर्जरा निरूपण

'निर्जीर्यते यया निर्जरणमात्र वा निर्जरा'[२९] जिसके द्वारा कर्मों का एकदेश रूप से क्षय हो अथवा जो एकदेश रूप से कर्मों का क्षय होना है वही निर्जरा है।

स्वपरविवेक रूप भेदज्ञान उत्पन्न हो जाने पर सम्यग्दृष्टि द्वारा किया जाने वाला चेतना-चेतन द्रव्यो का उपभोग निर्जरा का निमित्त है। पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों के उदयकाल मे ये कर्म सुख दु.ख रूप फल प्रदान करते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव इन कर्मफलो का केवल वेदन (अनुभव) ही करता है, विभावपरिणमन का अभावहो जाने से तन्मय नही होता अत एव सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा प्राप्त होता है।[३०]

"कर्मों के विभिन्न प्रकार के उदय, रस, राग नामक पुद्गल कर्म तथा उदयागत रागादिभाव को राग कर्म का विपाक समझकर मेरा स्वभाव नहीं है, मैं एक ज्ञायकभाव रूप हूँ" इस प्रकार से निजयथार्थ स्वरूप को जानता हुआ सम्यग्दृष्टि से उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त न करता हुआ कर्मनिर्जरा करता है जैसे अरतिभाव से मदिरा पीने वाला पुरुष मत्त नही होता।[३१] आत्मा के अतिरिक्त घट से लेकर शरीर पर्यन्त परद्रव्यों मे ममत्व न रखता हुआ जो इन परद्रव्यो को अपना परिग्रह नही मानता है, वही इच्छा रहित होता हुआ धर्म, अधर्म, भोजन, पानादि मे मूर्च्छा त्यागकर धर्मादि का केवल ज्ञायक रहता है और क्रमश वर्तमानकालीन उदय मे आए भोग को नश्वर समझकर ज्ञानी जीव उसमे परिग्रह बुद्धि नहीं करता तथा अनागत भोग की भी आकांक्षा नही करता है, यही ज्ञानी जीव की कर्मनिर्जरा है।

राग ही कर्मबन्ध का कारण है और जब सम्यग्दृष्टि के राग का अभाव हो जाता है तो वह कर्मों के मध्यगत होने पर भी कीचड मे निर्लिप्त स्वर्ण की भाँति कर्मरज से असस्पृष्ट ही रहता है, किन्तु कीचड मे पडे लोहे की भाँति अज्ञानी जीव कर्म से घिरा हुआ कर्मरज से लिप्त होता रहता है अत उसके कर्म निर्जरा नही होती वरन् नवीन-नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है।[32]

बन्धनिरूपण

'बध्यतेऽनेन बन्धनमात्र वा बन्ध' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा बाँधा जाए, परतन्त्र किया जाए उसे बन्ध कहते हैं अथवा आत्मा का बाँधा जाना, परतन्त्र होना, बन्ध है।[33]

जीव के उपयोग मे रागादिभाव होने से आस्रवित कर्मबन्ध को प्राप्त होते हैं, जीव की मात्र नानाविध चेष्टाओ तथा अपने उपयोग मे रागादि भाव विद्यमान रहने के कारण ही जीव कर्मरज से उसी प्रकार लिप्त होता है जैसे शरीर पर तेल मला हुआ पुरुष रेतीले प्रदेश मे नाना करणों से छेदन-भेदन रूप चेष्टाएँ आदि करता हुआ शरीर मे लगे स्नेह के कारण रज के बन्ध को प्राप्त करता है और वही मनुष्य शरीर पर व्याप्त सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर पुन रेतीले प्रदेश मे व्यायामादि करने पर भी धूल से लिप्त नही होता इसी प्रकार रागरहित उपयोग होने पर जीव का कर्मों के साथ बन्ध नही होता है।[34]

सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि मन-वचन-काय के व्यापारो में प्रवृत्त रहता हैं तथापि उसके उपयोग मे राग द्वेष विद्यमान नही रहने के कारण कर्मबन्ध नही होता है। अज्ञानी व्यक्ति स्वय को जीव से भिन्न पर द्रव्यो को जिलाने वाला, मारने वाला, सुख अथवा दु खी करने वाला समझता है, वास्तव मे ये सभी फल कर्मों के उदय मे आने से प्राप्त होते हैं। एक जीव अन्य जीव को कर्म प्रदान नही कर सकता अत. कर्मोदय रूप से प्राप्त होने वाले सुख दु ख आदि का देने वाला भी जीव सिद्ध नही होता है, जीवन-मरण आदि जीव के अपने-अपने कर्मोदय से होते हैं। अन्य जीवो को 'सुखी करता हूँ', 'दु खी करता हूँ' आदि बुद्धि ही अज्ञानी व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों का बन्ध कराती है।[35]

बन्ध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि निश्चयनय से अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है।[36] अज्ञानी व्यक्ति का 'मैं सुखी या दु खी करता हूँ', 'मैं हिंसा या अहिंसा करता हूँ' ऐसा भाव ही अध्यवसाय है, जो बन्ध का कारण है।[37]

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह विषयक किया गया अध्यवसाय पाप का बन्ध कराता है तथा पचमहाव्रतरूप अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह विषयक किये गए अध्यवसाय से पुण्य का बन्ध होता है।[38] बाह्य वस्तु से अध्यवसाय होता है और अध्यवसाय से कर्मबन्ध होता है। अध्वसाय से ही अज्ञानी जीव उदयागत नर, नारक, तिर्यंच, देवादि अनेकानेक पर्यायो के कर्मवश स्वय के नर-नारकादि, पुण्य-पापादि कर्मजनित भावो को आत्मा के सम्बन्ध से करता है इस प्रकार निर्विकार-परमात्मतत्व से भ्रष्ट हुआ 'मैं नर हूँ', 'मैं नारक हूँ' इत्यादि रूप से उदयागत कर्मजनित

विभावपरिणामों को आत्मा में नियोजित करता है।[३९] इन मिथ्या अध्यवसायो से रहित मुनि को कर्मबन्ध नही होता।

स्वपरविवेक का अभाव होने पर परपदार्थ विषयक जीव की निश्चयात्मिका वृत्ति रूप बुद्धि, अध्यवसाय, मति, विज्ञान तथा स्वभिन्नपरपदार्थ अन्त करण का परिणमनरूप चित्त, भाव, व्यवसाय तथा परिणाम ये सभी बन्ध के कारण हैं।

शुद्धोपयोग का श्रद्धान, ज्ञान व आचरण न करते हुए शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग मे प्रवृत्ति कर्मबन्धन का कारण है अभव्यजीव कर्मक्षय मे हेतुभूत शुद्धोपयोग का श्रद्धान आदि नही करता अतएव उसके लिए कर्मबन्धन कहा गया है।[४०]

स्वय शुद्ध स्फटिकमणि जैसे जपाकुसुमादि द्रव्यों के सानिध्य से ही तत् तत् रूप वाला हो जाता है उसी प्रकार निश्चयनय से निजात्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर तथा योग रूप है और पूर्ण शुद्ध है, केवल अन्य रागादि दोषों के कारण ही रागादिरूप हो जाता है। 'रागादिरूप परिणमन जीव का स्वभाव नहीं है' इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ सम्यग्दृष्टि, भेद-विज्ञानी केवल निजात्मा में ही रमण करता हुआ कर्मबन्ध के अभावत्व को प्राप्त करके अविलम्ब मोक्षपद प्राप्त करता है।[४१]

मोक्षनिरूपण

मिथ्यात्व कषायादि बन्धहेतुओ के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।[४२] इस प्रकार जिसके द्वारा समस्त कर्मों का नाश हो अथवा जो समस्त कर्मो का नाश होना है वही मोक्षत्व कहा जाता है।[४३]

निजात्मा को कर्मबन्ध से पृथक् कर स्वतन्त्र स्वरूप मे ला देना ही मोक्ष है। कर्मबन्ध के स्वरूप को जानने मात्र से मोक्षप्राप्ति नही होती, मोक्षप्राप्ति के लिए समस्त कर्मबन्धनो का उच्छेद आवश्यक है। जिस प्रकार चिरकाल से बेडियो से बन्धन में पडा हुआ मनुष्य उस बन्धन के तीव्र मन्द स्वभाव तथा समय को जानता हुआ, तद्विषयक विचार करता हुआ, यदि उन बेडियो को छैनी से छेदन न करे तो मुक्त किंवा स्वतन्त्र नहीं होता तथैव चिरकाल से बन्धन मे पडे ससारी आत्मा को बन्धविषयक चिन्तन तथा ज्ञानमात्र से मुक्ति-लाभ नही होता वरन् बन्ध तथा आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानता हुआ, बन्ध के प्रति उदासीन होकर उसका प्रज्ञारूपी छैनी से छेदन करता है तभी मुक्तिरमा का वरण कर सकता है।[४४]

प्रज्ञा द्वारा ही बन्ध का नाश कर प्रज्ञा द्वारा आत्मलाभ किया जाता है। सम्यग्दृष्टि को—'जो चेतनस्वरूप, द्रष्टा, ज्ञाता, नि शकित आत्मा है वह निश्चय से मैं हूँ' इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिए तथा 'शेष भाव मुझ से पर हैं' ऐसा जानते हुए कर्मबन्धनो से मुक्त होना चाहिए—ये ही सारगर्भित निर्देश कुन्दकुन्दाचार्य ने मुमुक्षुओं के लिए दिए हैं।[४५]

समयसार की रचना का प्रयोजन

ससारी जीव अनादिकाल से स्वरूप के ज्ञान के अभाव मे परपदार्थों मे ममत्व एवं

एकत्व बुद्धि रखता हुआ ससार मे भ्रमण करता चला आ रहा है। वस्तुत निज शुद्धगुण पर्याय रूप परिणमन करने वाला अर्थात् अभेद रत्नत्रयरूप परिणमनशील एकत्व निश्चय को प्राप्त हुआ समय, ही त्रिलोक मे उपादेय है, इस प्रकार एकत्व के प्रतिष्ठित होने पर उस आत्मद्रव्य के साथ किसी भी परद्रव्य के बन्ध की कथा विसवादपूर्ण मिथ्या है। ससार के जड द्रव्य भी स्वस्वरूप मे ही परिणमन करते हैं एव परपदार्थ से पूर्णतया भिन्न रहते हैं, अत ज्ञान चेतना एव उपयोगमय जीव द्रव्य जड पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? ससारी जीव अनादि काल से राग द्वेष एव मोहरूप परिणमन करता हुआ काम भोग और बन्ध सम्बन्धी चर्चा सुनता एव अनुभव करता चला आ रहा है। सम्यग्ज्ञान के प्रच्छन्न होने के कारण ही जीव को बन्धादि की तो सहसा प्रतीति हो जाती है परन्तु इस जीव ने आत्मा को ससार के समस्त परपदार्थों से भिन्न एव निजगुण-पर्यायो के साथ एकत्व गुण युक्त नही जाना है, ऐसी भेद-विज्ञान की कथा जीव ने आज तक नही सुनी, न उसका परिचय प्राप्त किया और न अनुभव ही। कुन्दकुन्दाचार्य उस एकत्व विभक्त आत्मा का निर्देश करने की प्रतिज्ञा करते हुए कथन करते हैं—"मैं अपने निज विभव से इस एकत्व विभक्त आत्मा का दर्शन कराता हूँ, यदि दर्शन करा सकूँ, उसका उल्लेख कर सकूँ तो प्रमाण मानना और कही चूक जाऊँ तो मेरा छल ग्रहण नही करना।"[४६]

सक्षेपत कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा समयसार रचना का प्रयोजन एकत्व विभक्त आत्मा का दर्शन कराना है। कुन्दकुन्दाचार्य भेद-विज्ञान द्वारा आत्म तत्व को समस्त परद्रव्यो से भिन्न होने के कारण 'विभक्त' निर्दिष्ट करते हैं तथा अभेदरत्नत्रय रूप परिणमनशील होने के कारण द्रव्य दृष्टि से 'एकत्व' रूप निरूपित करते हैं।

समयसार मे सर्वत्र ही विषयवस्तु का निरूपण यथोचित नय के माध्यम से किया है। समयसार के प्रारम्भ मे ही कुन्दकुन्दाचार्य व्यवहारनय की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जिस प्रकार म्लेच्छ जन को म्लेच्छ भाषा के बिना वस्तु का स्वरूप ग्रहण नहीं कराया जा सकता उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश शक्य नही है।[४७]

केवली के स्वरूप को व्यवहार तथा निश्चय दोनो नयो द्वारा दर्शाया गया है। निश्चयनय की अपेक्षा से जो श्रुतज्ञान से इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को जानता है उसे श्रुतकेवली कहते हैं, व्यवहारनय की अपेक्षा से जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है उसे श्रुतकेवली कहते हैं। यद्यपि केवली के ज्ञान मे स्व और पर दोनो ही द्रव्यो का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है किन्तु उसे पर की अपेक्षा नही होने के कारण केवल निजतत्त्वभूत शुद्धात्मा का ज्ञाता कहा गया है। व्यवहारनय से आत्मा को सर्वज्ञ तथा निश्चयनय से आत्मा को आत्मज्ञ कहा गया है।

स्वानुभव मे लीन केवल ज्ञानी आत्माओ के लिए आत्म-चिन्तन ही उपादेय है क्योकि केवल मात्र वही भूतार्थ है शेष पर-पदार्थ स्व की अपेक्षा अभूतार्थ ही हैं। इसी सन्दर्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय को अभूतार्थ अथवा असत्यार्थ तथा शुद्धनय को भूतार्थ अथवा सत्यार्थ निर्दिष्ट किया है। भूतार्थनय का आश्रय ग्रहण करने वाले जीव ही

निश्चय से सम्यग्दृष्टि होते हैं।[४८]

शुद्धनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—"जो नय आत्मा को बन्ध रहित, परस्पर्श से रहित, अन्यत्व से रहित, चचलता से रहित, विशेष से रहित तथा अन्य पदार्थ के सयोग से रहित देखता और जानता है वह शुद्धनय कहलाता है।"[४९]

व्यवहारनय से ज्ञानी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहे जाते हैं, निश्चयनय से ज्ञानी ज्ञायकमात्र है अतएव शुद्ध है।[५०]

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा व्यवहारनय को सर्वथा हेय ही नहीं माना गया है अपितु इसकी उपयोगिता उन जीवो के लिए है जो अपरमभाव में स्थित हैं अर्थात् अनुत्कृष्ट दशा मे अवस्थित हैं। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध तत्त्व का उपदेश उन्हीं जीवो के लिए उपादेय है जो परमभाव अर्थात् उत्कृष्ट दशा मे अवस्थित है। इस प्रकार निश्चयनय स्वभाव की कसौटी है और व्यवहारनय विभाव की।

कुन्दकुन्दाचार्य ने नयपक्षातिक्रांत निर्मल आत्मा को समयसार कहा है।[५१]

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे निश्चयनय को स्वभाव से सम्बद्ध तथा व्यवहार नय को विभाव से सम्बद्ध मानकर[५२] तथा व्यवहारनय निश्चयनय से प्रतिषिद्ध है[५३] ऐसा कहकर तथा समयसार को पक्षातिक्रांत निरूपित किया।[५४] इस प्रसङ्ग मे यह प्रश्न स्वाभाविक है कि समयसार के पक्षातिक्रांत होने से क्या समय अर्थात् आत्मा का स्वभाव अतिक्रात हो गया? उत्तर—नही। स्वय कुन्दकुन्दाचार्य ने इस उत्तर का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया है कि समयसार के पक्षातिक्रांत होने का तात्पर्य यह है कि स्वभावप्राप्त जीव दोनो नयो के कथनो को जानता है किन्तु नयपक्ष से रहित होता हुआ किसी भी नय का पक्ष ग्रहण नही करता है।[५५]

समयसार मे भेदविज्ञान निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने सभी ग्रन्थो मे आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे उपादेय निर्दिष्ट किया है तथा आत्मा के विभाव परिणमन को हेय प्रमाणित किया है। मोक्षाभिलाषी भव्य जीवो के लिए मोक्ष साध्य है। एव रत्न-त्रय रूपी मार्ग दुस्तर है एव मोह, राग द्वेष रूपी कटकों से आकीर्ण है। मोक्ष मार्ग का निरूपण करने वाले कुन्दकुन्दाचार्य अपनी समस्त रचनाओ मे मुमुक्षुओ को प्रत्येक सम्भाव्य च्युति से पूर्वापर ही सावधान करने मे यत्नशील रहे हैं। इसी प्रयोजन से उन्होंने अनेक स्थलो पर स्व-पर विवेक को पुष्ट किया है। अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने भेद-विज्ञान को माध्यम बनाया है।

'रागादि से भिन्न स्वात्मोत्थ सुखस्वभावी आत्मा है यही भेद-ज्ञान है' ऐसा अयसेन का कथन है।[५६] ससारी जीवो के ससार मे भ्रमण का कारण उनकी राग-द्वेष परिणति है, इस परिणति का मूल कारण है भेद-विज्ञान का अभाव। भेद-विज्ञान द्वारा ही जीव स्वपर विवेक प्राप्त करता है। वह आत्मा को समस्त अन्य द्रव्यो से पूर्णत भिन्न जानकर स्वभाव मे परिणमन करता है। समस्त सिद्धात्माओ ने सिद्ध पद की प्राप्ति भेद-विज्ञान द्वारा ही की है। अमृतचन्द्र ने भी भेद-विज्ञान की इस महिमा को स्वीकार किया

है।[५७] भेद-विज्ञान की आवश्यकता का मूल-भूत कारण यह है कि ससारी जीव को जैसे ही किसी पदार्थ का ज्ञान होता है वह या तो राग रूप परिणमन करता है या द्वेष रूप। उसकी इस विभाव परिणति से कर्मबध होता है और इस प्रकार बद्धकर्म उसे ससारी सुख अथवा दु ख प्रदान करते हैं। वह इष्ट सयोग में सुख एव अनिष्ट योग मे दु ख अनुभव करता है। धन-सम्पति, स्त्री-पुत्र शरीरादिक मे मोह ही ससार भ्रमण का कारण बनते हैं। भेद-विज्ञान द्वारा ही ज्ञानी जीव रागादिक भाव कर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करता है। उसे यह बोध होता है कि उपयोग, उपयोग में ही है, क्रोधादिक मे नही एव क्रोधादिक, क्रोधादिक मे ही हैं उपयोग मे नही।[५८] भेद-विज्ञान द्वारा ही ज्ञानी जीव रागादिक को निज ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न जानता है। भेद-विज्ञान का अभ्यासी श्रमण ही कर्मों का सवरकर रत्नत्रय द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है।

कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार मे भेद-विज्ञान की छटा सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है। आत्म निरूपण प्रधान रचना मे ऐसा होना स्वाभाविक ही है। कुन्दकुन्दाचार्य समयसार के जीवाजीवाधिकार के पूर्वरग समाप्त होने तक इस विषय मे विशेष रूप से आग्रहशील रहे हैं। समस्त अन्य अधिकारो मे जैसे संवराधिकार मे स्थान-स्थान पर उनका यह आग्रह मुखर हो गया है। समयसार का प्रारम्भ करते समय ही उनके द्वारा स्वसमय मे परसमय मे भेद-निरूपण उनकी भेद-विज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।[५९] उनका निर्देश है कि जब ससार के पदार्थ स्वरूप मे निमग्न होकर निश्चय से परपदार्थ से भिन्न है तब जीव द्रव्य, कर्मरूप पुद्गल के साथ एकत्व को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। परपदार्थ के सम्बन्ध से अशुद्ध जीव मे ही प्रमत्त एव अप्रमत्त का विकल्प सम्भव है, परपदार्थ के सम्बन्ध से सर्वथा रहित जीव केवल मात्र ज्ञाता द्रष्टा ही है। अप्रतिबुद्ध एव प्रतिबुद्ध जीव का लक्षण निरूपित करते समय कुन्दकुन्दाचार्य निर्दिष्ट करते हैं कि जो आत्मा को अन्य रूप अथवा अन्य का स्वामी मानता है वह अज्ञानी जीव है तथा आत्मा को आत्मरूप पररूप जानने वाला ज्ञानी है[६०] ज्ञानी जीव स्वय के अतिरिक्त समस्त भावो को पर जानता व उनका त्याग करता है अत ज्ञान को प्रत्याख्यान जानना चाहिए।[६१] जिस प्रकार कोई पुरुष किसी द्रव्य को 'यह पर द्रव्य है' जानता हुआ छोड देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त द्रव्यो को निज से भिन्न 'पर हैं' जानता हुआ त्यागता है। कुन्दकुन्दाचार्य निर्ममत्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कथन करते है "मोह मेरा कोई भी नही है, मैं तो एक उपयोग रूप ही हूँ। धर्म आदि द्रव्य मेरे नही हैं, मैं तो केवल उपयोग रूप हूँ। निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य द्रव्य तो परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नही है।"[६२]

भेद-विज्ञान से रहित मिथ्या दृष्टि जीव आत्मा को नही जानते एव पर को आत्मा से अभिन्न मानते हुए अध्यवसाय व कर्म को जीव कहते है। ऐसे जीव नानाविध मिथ्या कथन करते हैं परन्तु वे निश्चयवादियो द्वारा परमार्थवादी नही कहे जाते हैं।[६३] इस *आत्मा कर्मोदय होने पर दु ख रूप भाव मे चेतना का भ्रम उत्पन्न होता है। वस्तुत* दु ख रूप भाव कर्मजन्य है अत जड है।[६४] जीव-अजीव, जड-चेतन तथा स्व-पर का भेद ज्ञात

हो जाने पर जीव को आत्मा तथा कर्मों मे विशेष अन्तर स्पष्ट हो जाता है और उसके बन्ध नहीं होता।[१५] मोह व राग-द्वेष अन्तर्विकार कर्म के परिणाम हैं, इसी प्रकार स्पर्श, रस, वर्ण, शब्द व गध नौ कर्मों के परिणाम हैं। ज्ञानी जीव स्वय को इनका कर्त्ता कदापि स्वीकार नही करता वह तो तटस्थ भाव से इनका ज्ञाता मात्र रहता है। वह उनमें राग द्वेषादि की किंचित् मात्र भी कल्पना नहीं करता। ज्ञानी जीव नानाविध पौद्गलिक कर्मों एवं निज परिणामो को जानता हुआ भी निश्चय से पर-द्रव्य व पर-पर्याय रूप परिणमन नही करता, न उन्हे ग्रहण करता है तथा न उनमें उत्पन्न ही होता है।[१६]

जिस प्रकार जीव के रागादि परिणामो के निमित्त से ही पुद्गल द्रव्य कर्म रूप से परिणमन करते हैं उसी प्रकार पुद्गलात्मक दर्शनमोह तथा चारित्रमोह आदि कर्मों के निमित्त जीव भी रागादि भाव रूप परिणमन करते हैं। इस पर भी जीव कर्म के गुणों का कर्त्ता नही है और न ही कर्म जीव के गुणों का कर्त्ता है। वस्तुत दोनों का परिणमन परस्पर निमित्त से होता है। आत्मा अपने भावो का ही कर्त्ता है परद्रव्य पुद्गल कर्म के द्वारा किये गए समस्त परिणमन का कर्त्ता नहीं है। निश्चयनय से आत्मा स्वय का ही कर्त्ता है और स्वचतुष्टय की अपेक्षा से ही भोक्ता है।[१७]

आत्मा जिस भाव मे परिणमन करता है, उस भाव का वह कर्त्ता है तथा आत्मा के कर्त्ता होने पर आत्मा के निमित्त से पुद्गल द्रव्य स्वय कर्मरूप परिणत होता है। पर को निज तथा निज को पर मानता हुआ अज्ञानी जीव ही कर्मों का कर्त्ता होता है। जो जीव पर को निज और निज को पर नही मानता वह ज्ञानी होता है ऐसा ज्ञानमय जीव कर्मों का कर्त्ता नही होता।[१८] इस प्रकार का ज्ञानी जीव अज्ञान भाव द्वारा ही परद्रव्यो को निज मानता है तथा आत्मद्रव्य को पर मानता है। निश्चयनयवादियो के अनुसार इस अज्ञान भाव द्वारा ही जीव कर्त्ता होता है, इस तथ्य को जानने वाला यथार्थ मे समस्त प्रकार के परद्रव्यो मे कर्तृत्वबुद्धि का परित्याग करता है।

आत्मा एव घटपटादि पर वस्तुओ मे उपादान कारण सम्बन्ध त्रिकाल मे भी सम्भव नही है क्योकि उनमे व्याप्य-व्यापक भाव का सर्वथा अभाव है। जीव घट-पट व शेष अन्य द्रव्यो का कर्त्ता कदापि नही हो सकता, जीव के योग एव उपयोग घट-पटादि के उत्पादन मे निमित्त मात्र हैं। यह जीव उत्पादन के निमित्त मूलक योग व उपयोग का कर्त्ता है। इस प्रकार ज्ञानावरणादिक पुद्गल परद्रव्यों के परिणाम का आत्मा कर्त्ता नही है। जो जीव इन परिणामो का ज्ञाता मात्र है, वह ज्ञानी है।[१९] किसी भी द्रव्य के गुण परद्रव्य मे सक्रात नही हो सकते, इस दृष्टि से किसी द्रव्य मे, अन्य द्रव्य मे सक्रात नहीं होने का गुण निज से भिन्न परद्रव्य के परिणमन का कर्त्ता कदापि नहीं हो सकता है।[२०] आत्मा पुद्गलमय कर्म मे द्रव्य व गुण का कर्त्ता नहीं है, फिर वह उस पुद्गलमय कर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है? जीव के निमित्त से हुए कर्मबन्ध का परिणाम देखकर ही उपचार से कहा जाता है कि जीव ने कर्म किए।

जीव की परिणमन-अवस्था से अव्यवहित क्षण पूर्व जीव मे पुद्गल द्वारा परिणमन की सम्भावना विषयक दो विकल्प बनते हैं—

(१) अपरिणमनशील जीव को पुद्गल ने परिणमनशील किया अथवा

(२) स्वय परिणाम प्राप्त जीव के परिणमन का हेतु पुद्गल का हेतु पुद्गल हुआ, इस प्रसग मे उक्त दोनो ही विकल्प यथार्थ नही क्योकि पुद्गल अपने से पर जीव द्रव्य का कदापि परिणमन नही कर सकता, कोई भी पदार्थ स्वभिन्न पदार्थ के परिणमन में कारण नही होता। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प मे यदि जीव स्वय परिणाम को प्राप्त करता है उस दशा मे जीव के परिणमन का हेतु पुद्गल को मानना व्यर्थ ही सिद्ध होगा, क्योकि स्वय परिणत जीव मे पुद्गल द्वारा जीव के परिणाम का कुछ भी प्रयोजन शेष नहीं रहता। वास्तव मे जीव का परिणाम स्वभावसिद्ध ही है, ऐसा न मानने पर साख्यदर्शन का विसगतिपूर्ण सिद्धांतदोष प्रस्तुत होगा जहाँ कर्त्री प्रकृति ही पूर्णत अकर्ता पुरुष के भोगापवर्ग मे हेतु मानी गई है।"[१] वस्तुत जो अकर्त्ता है, उसमे किसी भी पर पदार्थ के द्वारा कर्तृत्वभाव का उत्पाद कदापि सम्भव है ही नही। पर द्रव्य और आत्मत्व का कोई भी सम्बन्ध नही है अत उनमे कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है और उसका अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है।"[२]

तात्पर्य यह है कि पुद्गल का परिणाम स्वभावरूप ही होता है, उसके परिणाम मे जीव उपादान नही है। स्वय अपरिणत पुद्गल को जीव कदापि परिणत नही कर सकता, और यदि पुद्गल स्वय परिणमित है ही तो उसके परिणमन सम्बन्धी किसी प्रकार के उपकार मे जीव का हेतुत्व व्यर्थ ही है।

वास्तव मे स्वभाव परिणमन की अपेक्षा से जीव मे स्वभाव परिणमन स्वय ही होता है, उसके स्वभाव परिणमन मे पुद्गल का हेतुत्व नही किन्तु जीव के विभाव परिणमन मे पुद्गल का निमित्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार पुद्गल के स्वभावपरिणमन की दृष्टि से जीव का हेतुत्व नही है किन्तु पुद्गल के विभावपरिणमन मे जीव निमित्त कारण है।

जीव तथा उपयोग मे अन्यत्व नही है, वे अभिन्न हैं एव एकरूप हैं, यदि क्रोध को भी उपयोग के समान जीव से अनन्य माना जाए तो अजीव क्रोध एव जीव मे एकता सिद्ध हो जाएगी और इस प्रकार समस्त लोकाकाश मे विद्यमान जीव नियम से अजीव प्रमाणित हो जाएँगे तथा विसगति दोष प्रस्तुत होगा। ऐसी ही विसगति मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय, नो कर्म तथा कर्मो के साथ जीव की अभिन्नता मानने मे भी उत्पन्न होगी। इस दोष का परिहार उपयोगात्मक आत्मा को क्रोध रूप अजीव से भिन्न मानने पर ही सम्भव है। इसी प्रकार प्रत्यय, कर्म तथा नो कर्म को भी जीव की अपेक्षा से परपार्थ ही मानना चाहिए।"[३]

जीव के रागादि परिणाम कर्मों के साथ ही होते हैं, ऐसा मानने पर जीव तथा कर्म दोनो ही रागादि भाव से युक्त प्रमाणित होते हैं, इस स्थिति मे पुद्गल मे भी चेतना स्वीकार करनी होगी, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है, अत यह निष्कर्ष निकलता है कि रागादि रूप परिणाम केवल जीव के ही हो सकते है, कर्मोदय तो निमित्त कारण मात्र है।

ससारी जीव प्रत्यक्ष ही स्वभाव मे परिणमन नही करता अत उसका परिणमन विभाव रूप ही है। उसकी स्वभाव परिणति का स्पष्ट बोध कराने के लिए विभाव परिणति के स्वरूप को जानना आवश्यक है। विभाव परिणति मे ससारी आत्मा मे राग द्वेष तथा क्रोधादि कषाय रूप लक्षण प्रतीत होते हैं, आत्मा की विभाव परिणति का

संसारी जीवों के समक्ष निरूपण के लिए ही व्यवहारनय की अपेक्षा से क्रोधादि भावों को आत्मा का कहा जाता है। निश्चयनय की अपेक्षा से ये क्रोधादि भाव आत्मा के नहीं हैं क्योंकि यदि ये आत्मा के होते तो आत्मा मे सर्वदा विद्यमान पाये जाते, इस प्रकार सिद्ध आत्माओ मे भी क्रोध भाव विद्यमान मानना पडता, जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप के प्रतिकूल होता अत निश्चयनय की दृष्टि से क्रोधादि भाव आत्मा के नहीं हैं। आत्मा की अशुद्ध एव शुद्ध पर्यायों का वर्णन करने हेतु ही व्यवहार तथा निश्चयनय का आलम्बन लेना होता है। इन दो नय पक्षो में से किसी एक पक्ष का खण्डन करने वाला तथा अन्य पक्ष को ही ग्रहण करने वाला भेद-विज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि भेद-विज्ञान द्वारा पुरुष निज शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध हो इन दोनो नयो के कथन को जानता मात्र है, किसी भी नय पक्ष को ग्रहण नही करता अपितु पक्षातिक्रांत रहता है। ऐसा सब पक्षों से रहित जीव ही समयसार है, यह समयसार ही केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान को प्राप्त होता है।[७४] भेद-विज्ञानी जीव ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए रत्नत्रय मार्ग का अनुगमन केवल भेद-विज्ञानी ही कर सकता है।[७५]

भेद-विज्ञान के अभाव मे ससारी जीव अशुभ कर्म को हेय एव शुभ कर्म को उपादेय मानता है। वस्तुत. कर्मबन्ध ही ससार भ्रमण का कारण है क्योंकि जिस कर्म का बन्ध होता है उसके अनुरूप जीव को फल भोगना ही होता है। पुण्यरूप शुभ कर्म के बन्ध होने पर भी जीव को मोक्ष सम्भव नही क्योंकि उसे पुण्य कर्मबन्ध के अनुरूप गति में सासारिक सुख समृद्धि एव ऐश्वर्य भोगने के लिए जन्म लेना ही होगा जब तक जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा, मोक्ष असम्भव है। बन्ध तो बन्ध ही है चाहे वह शुभ है अथवा अशुभ। समस्त कर्मों का क्षय कर निर्बन्धावस्था मे ही जीव को मोक्ष सम्भव है। शुभ कर्मबन्ध मे आसक्ति रखना स्वर्ण की बेडी मे आसक्ति रखने के सदृश है, कदाचित् ससारी जीव को अशुभ की अपेक्षा शुभ उसी प्रकार प्रिय प्रतीत होता है जिस प्रकार अज्ञानी मनुष्य को लोहे की बेडी की तुलना मे स्वर्ण की बेडी प्रतीत होती है। ज्ञानी जीव के समक्ष तो बेडी उसकी स्वतन्त्रता मे बाधक है चाहे वह लोहे की हो चाहे स्वर्ण की। इस प्रकार भेद-विज्ञान के अभ्यासी जीव की दृष्टि मे समस्त प्रकार के कर्मबन्धन चाहे वे अशुभ हों अथावा शुभ मोक्ष की प्राप्ति में बाधक ही हैं, साधक कदापि नही।[७६]

भेद विज्ञान द्वारा ज्ञान का उदय होता है तथा भेद-विज्ञान के अभाव मे अज्ञान का।[७७] जो मनुष्य परमार्थ से बाह्य हैं वे व्रत तथा नियमो को धारण करते हुए तथा शील व तप से युक्त होते हुए भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि वे परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा के अनुभव से वञ्चित हैं तथा अज्ञान के वशीभूत पुण्य की इच्छा करते हैं। ऐसे जीव मोक्ष का हेतु आत्मा का जो ज्ञान-स्वरूप है उसे नही जानते। ऐसे जीवों को मोक्ष मार्ग का निर्देश देने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने भेद-विज्ञान द्वारा रत्नत्रय की प्राप्ति का निर्देश किया है—'जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन हैं, उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादिरूप समस्त विभावों का त्याग करना ही सम्यक्चारित्र है। ऐसा यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है।[७८] पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्म मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय का घात करते हैं।[७९]

ससारी जीव के कर्मों का आस्रव तथा बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय एवं योग द्वारा ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीव के इन प्रत्यय कारणो का अभाव होता है अत उनके आस्रव-बन्ध नही होता, जब कर्मों का आस्रव ही नही होगा तो नवीन बन्ध स्वत ही असम्भव हो जाएगा। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव विद्यमान एव पूर्व मे निबद्ध कर्मों को जानता मात्र है, उन्हे निज से भिन्न पर जानकर विभाव परिणमन किंचित् मात्र भी नही करता तथा इस प्रकार नवीन कर्मबन्ध से असस्पृष्ट रहता है।[८०] नवीन कर्मबन्ध के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम तो पूर्वबद्ध कर्मों की उपस्थिति एव द्वितीय आत्मा की रागादि रूप विभाव परिणति। जिस जीव मे आत्मा की विभाव परिणति पाई जाती है उसमे पूर्वबद्ध कर्मों का अभाव तो नितान्त असम्भव है क्योकि कर्मों के सर्वथा अभाव हो जाने पर आत्मा सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है और सिद्धावस्था मे जीव के विभावपरिणमन का प्रश्न ही नही उठता। पूर्वकर्मों से बद्ध जीव स्वभावपरिणमन भी कर सकता है व विभावपरिणमन भी कर सकता है। पूर्वबद्ध कर्म जब तक उदय मे नही आते तब तक जीव के विभाव परिणमन से किंचित् मात्र भी सम्बद्ध नही होते। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म आगामी नवीन कर्मों के बन्ध का कारण तभी हो सकते हैं जब उनके उदय के समय जीव विभाव परिणमन कर रहा हो। ज्ञानी जीव अपना समस्त उपयोग 'स्व' मे केन्द्रित रखता है, वह शुभ एव अशुभ दोनो से अपना उपयोग हटाकर शुद्धोपयोगी रहता है। यही स्वभाव परिणमन है तथा इस स्थिति मे पूर्वबद्ध कर्म उदय मे आने पर भी बिना नवीन कर्मों का बन्ध किये खिर जाने पर बाध्य हो जाते हैं—इसी दृष्टि से सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव हैं।[८१] इससे यह सिद्ध होता है कि भेद-विज्ञान द्वारा ही जीव निरास्रव अवस्था को प्राप्त कर सकता है क्योकि भेद-विज्ञान के अभाव मे सम्यग्दृष्टि होना सम्भव ही नही।

जो जीव निजात्मा को निजद्वारा शुभ-अशुभ दोनो योगो से रहित कर दर्शन ज्ञान मे स्थित हुआ अन्य पदार्थों की इच्छा नही रखता तथा समस्त प्रकार के परिग्रहो का सर्वथा त्याग करते हुए आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है, कर्म व नोकर्म का किंचित् भी ध्यान न करते हुए चेतना रूप होकर एकत्वभाव का चिन्तन करता है वह स्वय को अन्य परवस्तुओ से पूर्णतया भिन्न मानने वाला दर्शनज्ञानमय जीव शीघ्र ही सम्यक् चारित्र द्वारा कर्मों को नष्ट कर निजात्मस्वरूप को प्राप्त करता है। भेदविज्ञानी जीव आस्रवो के हेतुभूत चारो अध्यवसाय भावो का अभाव होने के कारण नियम से कर्मों के आस्रव को रोकता है, इस प्रकार कर्मों के आगमन का अभाव होने पर नो कर्मों का भी निरोध हो जाता है। इस प्रकार उसके ससार भ्रमण का निरोध भी स्वत ही हो जाता है।[८२]

सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान द्वारा जीव में स्वपरविवेक उत्पन्न होता है और वह शुभ तथा अशुभ दोनो प्रकार के कर्मों को स्वर्ण एव लौह बेडी के सदृश मानता है, बेडी को बन्धन से मुक्ति सम्भव नही है, मुक्ति प्राप्त करने के लिए बेड़ी को छैनी से छेदना होगा। इसी सन्दर्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षप्राप्ति के उपाय का निर्देश करते हैं—जीव और बन्ध इन दोनो को उनके नियतलक्षणों से ज्ञानरूप छैनी द्वारा इस प्रकार छेदा जाना

चाहिए जिससे वे एक-दूसरे से पृथक् हो जाए इस प्रकार निश्चित लक्षणो के आधार पर जीव व बन्ध को एतत्प्रकारेण भिन्न करना चाहिए जिससे बन्धन टूट जाएँ तथा आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो जाए। जिस प्रकार प्रज्ञा द्वारा जीवद्रव्य एव पुद्गल द्रव्य मे भेद किया गया था उसी प्रकार प्रज्ञा से ही विशुद्ध आत्मस्वरूप को ग्रहण करना चाहिए। भेद-विज्ञानी जीव यह निश्चय से जानता है कि वह चेतनस्वरूप आत्मा है, शेष अन्य समस्त भाव उससे पर हैं,[८३] वह तो ज्ञाता-द्रष्टा मात्र है, शुद्धात्मा को जानता हुआ कोई भी ज्ञानी जीव समस्त परभावो को स्वद्रव्य से पूर्णत. भिन्न जानकर उन्हे निज स्वीकार नही करेगा। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भेदविज्ञान द्वारा ही सम्भव है।[८४]

समयसार मे कर्तृ-कर्म निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी समस्त कृतियो मे आत्मा को ही केन्द्रबिन्दु माना है। उनके अनुसार ससारी आत्मा आदि काल से कर्मों से सयुक्त होने के कारण ससार चक्र मे भ्रमण कर रहा है। पूर्वबद्ध कर्मों की उपस्थिति के फलस्वरूप आत्मा विभाव-रूप मे परिणमन करता है। रागद्वेष तथा कषायो से युक्त होकर स्पन्दित होता है उसमे उत्पन्न परिस्पन्दन नवीन कर्मवर्गणाओ को आकर्षित करते हैं। इस प्रकार आकृष्ट पुद्गल कर्मों का पूर्वबद्ध कर्मों के साथ बन्ध होता है। इन कर्मों की प्रकृति के अनुरूप आत्मा सासारिक सुख अथवा दु ख अनुभव करता है। आत्मा पर आच्छादित कर्मावरण उसकी सहज एव स्वाभाविक गुणो की अभिव्यक्ति मे बाधा पहुँचाता है। ऐसी ससारी आत्मा को मोक्ष का मार्ग दर्शाते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने अनेक कृतियो का सृजन किया। उनकी इन कृतियो मे एक ओर ससारी आत्मा का निरूपण है तो दूसरी ओर अभीप्सित परमशुद्ध आत्मा के स्वरूप का विशद वर्णन। आत्मा का ससारी पर्याय वह अवस्था है जहाँ से मुमुक्षु अपने पुरुषार्थ का प्रारम्भ करता है तथा आत्मा की विशुद्धावस्था की प्राप्ति उसके पुरुषार्थ की चरम परिणति है। मोक्ष मार्ग के पथिक को निर्दिष्ट मार्ग पर श्रद्धान, मार्ग का सम्यग्ज्ञान तथा मार्ग पर सावधानी से अग्रसर होना आवश्यक है। आत्मा के विशद्धस्वरूप का श्रद्धान तथा स्वपरविवेक होने पर भी श्रद्धान एव विवेक के अनुरूप सम्यक्चारित्र नही हो तो मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विषय का प्रतिपादन अपनी विभिन्न कृतियो मे भिन्न-भिन्न दृष्टियो से किया है। दृष्टि-वैभिन्न्य होने पर भी अन्ततोगत्वा उनके समस्त प्रयास शुद्ध आत्म-तत्त्वनिरूपण एव मोक्ष प्राप्ति पर ही केन्द्रित होते हैं। पचास्तिकाय मे कुन्द-कुन्दाचार्य ने स्वय ही पचास्तिकाय को समयसार एवं प्रवचनसार की सज्ञाओ से सबोधित किया है।[८५] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र को मोक्ष का मार्ग निर्दिष्ट करने वाले कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थ मे समस्त द्रव्यो एव उन द्रव्यो के सारभूत अस्तिकायो की मीमांसा इस अपेक्षा से प्रस्तुत करते हैं कि मुमुक्षु सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान से विभूषित होकर परमविशुद्ध आत्मस्वरूप मे परिणमन हेतु सम्यक्चारित्र का आचरण कर सके। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार समस्त आत्माएँ द्रव्यार्थिक दृष्टि से अपने-अपने चतुष्टय मे परिणमन करते हैं कोई भी आत्मा किसी अन्य आत्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपी

चतुष्टय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जैन दर्शन की परम्परागत मान्यता के अनुरूप कुन्दकुन्दाचार्य भी आत्मा को स्वयं का स्रष्टा कर्ता एव भोक्ता निर्दिष्ट करते हैं।[८६] कोई भी अवान्तरसत्ता न तो आत्मा की उत्पत्ति का कारण है और न ही उसके विनाश का, आत्मा तो अजर अमर अविनाशी चैतन्य द्रव्य है। उसकी चेतना ही उसे अन्य द्रव्यो से विलक्षण प्रमाणित करती है।[८७] परिणमन की सामर्थ्य षट्द्रव्यो मे से केवल जीव एवं पुद्गल में ही है। ससार रूपी रगमच पर दृष्टिगत विभिन्न क्रिया-कलाप जीव एव पुद्गल की सयुक्त परिणति के परिणाम हैं। पुद्गल के सयोग से पूर्णत रहित जीवद्रव्य केवल स्वभाव परिणमन की स्थिति मे किसी रूप भी बद्ध कर सकने की सामर्थ्य नहीं रखते। आत्मा की विभाव परिणति ही उसके पुद्गल से सयोग का कारण है तथा यह विभाव परिणति ही उसके बन्धन का हेतु है। इस सन्दर्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य ने इस शका का अत्यन्त सुन्दर रूप से निराकरण किया है कि आत्मा स्वय का कर्ता-भोक्ता होने पर भी कर्मों के कारण सासारिक सुख-दु ख का भोक्ता किस प्रकार है ? क्या आत्मा कर्म रूपी पुद्गल परद्रव्य का कर्त्ता है ? यदि नही तो अपने से भिन्न कर्म रूपी पुद्गल परद्रव्य के कर्तृत्व का भोक्ता किस प्रकार है ? निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा का विशुद्ध चेतन द्रव्य कर्मरूपी पुद्गल परद्रव्य से किसी प्रकार भी प्रभावित नही है। व्यवहारनय की अपेक्षा से रागद्वेष तथा कषायादि भावकर्म आत्मा के हैं और आत्मा अपने इन कर्मों के फल का भोक्ता है। जैनेतर भारतीय दर्शनो मे एकागी दृष्टिकोण अपनाया गया है। कही उसे मात्र कर्ता निर्दिष्ट किया गया है तो कही मात्र भोक्ता। कुछ दर्शन उसे कर्ता एव भोक्ता दोनो ही प्रमाणित करते हैं। जैनदर्शन अन्य दर्शनो से इस दृष्टि से विलक्षण है। इसमे परस्पर विरोधी भासित होने वाली दृष्टियो मे भी सुन्दर सामजस्य स्थापित किया गया है कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे अन्य दर्शनो से उत्पन्न होने वाली भ्रान्तियो का स्पष्ट रूप से निराकरण किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार आत्मा किसी मे उत्पन्न नहीं हुआ है अत वह कार्य नही है तथा वह किसी को उत्पन्न भी नही करता है, इस अपेक्षा से वह कारण भी नहीं है। कर्म के आश्रय की अपेक्षा से वह कर्त्ता होता है तथा कर्त्ता को आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है। कर्त्ता-कर्म की सिद्धि अन्य प्रकार दृष्टिगोचर नही होती।[८८]

अज्ञानी आत्मा तो कर्म की प्रकृति के उदय का निमित्त प्राप्त कर अपने विभाव परिणामो से (विभिन्न पर्याय रूप) उत्पन्न होता व नष्ट होता है। इसी प्रकार कर्म प्रकृति भी आत्मा के परिणामो का निमित्त प्राप्त कर उत्पन्न एव विनष्ट होती है। इस प्रकार से ही ससारी आत्मा का तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्मवर्गणाओ का परस्पर बन्ध होता है। यह बन्ध ही जीव के ससार भ्रमण का कारण है। तात्पर्य यह है कि जब पूर्वबद्ध कर्म उदय मे आते हैं उस समय यदि आत्मा स्वस्वरूप मे परिणमनशील नहीं है तो उदीयमान द्रव्यकर्मों का निमित्त प्राप्त कर रागद्वेषादिरूप विभाव परिणमन करता है। उसकी इस विभाव परिणति के कारण ही नवीन कर्मवर्गणाएँ आकर्षित होकर तथा उन भावों का निमित्त प्राप्त करके कर्मबन्ध करती हैं। कर्मबन्ध और आत्मा में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। मूल कारण तो रागद्वेषादि अज्ञानभाव हैं। यह आत्मा जब

पुरुषार्थ द्वारा विभाव परिणमन को नष्ट करने का प्रयत्न करता है तो रागद्वेष स्वत ही आत्मा से दूर जाते हैं। जितने अंशो मे आत्मा रागद्वेष से रहित होता है उतने ही अशो में कर्मबन्ध नहीं होता। जब तक कर्मबन्ध है तब तक ही ससार में आवागमन है क्योंकि पाप एव पुण्य रूप बन्ध के निमित्त से यह आत्मा चारो गतियों मे भ्रमण करता है, भव भ्रमण से छूटता नहीं। मोक्षाभिलाषी आत्मा के लिए यह आवश्यक है कि वह रागद्वेषादि विभाव भावो को दूर करने का प्रयत्न करे।[८६]

कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वभाव परिणमन अथवा विभावपरिणमन की अपेक्षा से ही आत्मा को ज्ञानी अथवा अज्ञानी निर्दिष्ट किया है। आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त से विभिन्न पर्याय रूप उत्पाद एवं व्यय का परित्याग नही करता तब तक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि तथा असयमी रहता है। आत्मा जब अनन्त कर्मफल का परित्याग कर देता है तब बन्ध से रहित होकर ज्ञाता द्रष्टा एव सयमशील मुनि हो जाता है। प्रकृति के स्वभाव मे स्थित होकर ही अज्ञानी जीव कर्मफल भोगता है तथा इसके विपरीत ज्ञानी जीव उदीयमान कर्मफल का ज्ञाता होता है भोक्ता नही।[९०] अभव्य जीव तो शास्त्रो के अध्ययन के उपरान्त भी प्रकृति का परित्याग नहीं करता जबकि वैराग्य को प्राप्त हुआ ज्ञानी जीव अनेक प्रकार के मधुर, शुभ एव कटुक शुभाशुभ कर्मों के फल का ज्ञाता मात्र होता है अत वह अवेदक अर्थात् अभोक्ता कहलाता है। ज्ञानी जीव नानाविध कर्मों का न तो कर्त्ता होता है और न भोक्ता ही अपितु कर्मबन्ध एवं तदनुरूप पुण्य पाप रूपी कर्म के फल का ज्ञाता होता है। जिस प्रकार नेत्र विभिन्न पदार्थों को देखता मात्र है उनका कर्त्ता और भोक्ता नही होता उसी प्रकार ज्ञान, बन्ध तथा मोक्ष को एव कर्मोदय तथा निर्जरा को जानता मात्र है, उनका कर्त्ता और भोक्ता नही होता।[९१]

मुनियो द्वारा मान्य आत्मकर्तृत्ववाद को कुन्दकुन्दाचार्य सामान्य मनुष्यों द्वारा मान्य विष्णु के जगत्कर्तृत्व के तुल्य ही मिथ्या घोषित करते हैं।[९२] पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले पुरुष परद्रव्य को अपना मानते हैं तथा निश्चयनय से पदार्थों के ज्ञाता परमाणु मात्र भी परद्रव्य को अपना नही मानते। परद्रव्य को 'मेरा है' ऐसा जानते हुए उसे आत्ममय करने वाला पुरुष तो निस्सन्देह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्वनामक प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है ऐसा मानने पर अचेतन प्रकृति जीव के मिथ्याभाव को करने वाली प्रमाणित होगी जो उपयुक्त नही है। जीव ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व का कर्ता है, यह मानने पर पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि प्रमाणित हुआ न कि जीव, यह भी उपयुक्त नही। जीव और प्रकृति ये दोनो पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व के कर्ता हैं ऐसा मानने पर इन दोनो के द्वारा किए हुए कर्म के फल को वे दोनो ही भोगें—यह भी उपयुक्त प्रतीत नही होता। पुद्गल नामा मिथ्यात्व को न तो प्रकृति करती है न जीव ही—ऐसा मानने पर पुद्गलद्रव्य का ही मिथ्यात्व (अभाव) प्रमाणित होता है ऐसा भी उपयुक्त नहीं है। वस्तुत मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से आत्मा से जो अतत्त्वश्रद्धान रूप भाव उत्पन्न होता है उसका कर्त्ता अज्ञानी जीव है। द्रव्य कर्मों के द्वारा यह जीव एकान्त से अज्ञानी व ज्ञानी किया जाता है। कर्मों के द्वारा सुलाया व जगाया जाता है। कर्मों के

द्वारा सुखी या दु खी किया जाता है उसी प्रकार कर्मों के द्वारा मिथ्यात्व मे लाया जाता है व कर्मों के द्वारा एकान्त दृष्टि से असंयमी बनाया जाता है। कर्मों के ही द्वारा ऊर्ध्व, अधो व मध्य गति से परिभ्रमण को प्राप्त होता है। जो कुछ शुभ या अशुभ है वह कर्मों द्वारा ही किया जाता है। जो कुछ प्राप्त होता है वह कर्म द्वारा ही प्राप्त होता है, कर्म ही सासारिक सुख का हरण करता है ऐसे एकान्त नय से यदि कर्म ही सब कुछ करता है तो समस्त जीव अकर्त्ता प्रमाणित होगे तब उनके कर्मबन्ध का अभाव हो जाएगा। कर्मबन्ध के अभाव मे ससार का अभाव हो जाएगा किन्तु ऐसा सम्भव नही है क्योकि प्रत्यक्ष से ही इस कथन का विरोध है।[६३]

यदि एकान्त दृष्टि से जीव को अकर्त्ता और (कर्मयुक्त) प्रकृति को ही कर्त्ता माना जाए तो स्त्री की कामना करने वाला पुरुष भी दोषरहित होगा क्योकि इच्छा करने वाला पुरुष वेद नामा कर्म है जीव भाव नही। तब वह पुरुष भी ब्रह्मचारी ही रहेगा अब्रह्मचारी नही। जैन मत मे भी—पुरुष वेद नामा कर्म है वह स्वय तो जड है, जड के इच्छा नही होती किन्तु जब उस कर्म का उदय आता है तब जीव स्वय ही परिणमन करके अपना भाव राग व द्वेषयुक्त बना लेता है अत' एकान्त से कर्म कर्त्ता नहीं है ऐसा जानना चाहिए।[६४]

साख्य मत मे सर्वथा कर्म प्रकृति को ही प्रधान माना गया है और आत्मा (पुरुष) को अकर्त्ता कहा गया है[६५] तब समस्त कार्यों को करने वाली जड प्रकृति हिंसा करने वाली होगी तथा वही हिंसक कहलाएगी। जीव का कुछ सम्बन्ध नही रहा इससे जीव हिंसक नही हुआ ऐसी स्थिति मे वह हिंसा के फल का भागी भी कैसे होगा ? जैन मत मे जीव को परभाव का अकर्त्ता व कर्त्ता नयविभाग से कहा गया है। शुभनिश्चय से जीव परभाव का अकर्त्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चयनय मे जीव अपने अशुद्धभाव का कर्त्ता है परघात नामा कर्म केवल निमित्त मात्र है। प्रत्येक जीव अपने परिणामो से ही दूसरे की हिंसा करता है फलत वह जीव हिंसक या हिंसा के फल का भागी होता है।[६६]

इस प्रकार साख्यमत का उपदेश करने वाले द्रव्यलिंगी मुनि श्रमण के मत मे जड प्रकृति कर्त्ता हो जाएगी तथा सभी आत्मा अकर्त्ता हो जाएँगे। जब आत्मा मे कर्तृत्व नही रहेगा तो उसमे कर्मों के बन्ध का अभाव हो जाएगा। कर्मबन्ध का अभाव होने से ससार का अभाव हो जाएगा। ससार न होने से आत्मा को सदा मोक्ष होने का प्रसग आ जाएगा जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

आत्मकर्तृत्ववाद के प्रसग मे कुन्दकुन्दाचार्य क्षणिकवाद का खण्डन करते हैं। क्षणिकवादी बौद्धो के अनुसार—'यत्सत् तत्क्षणिक' इस सिद्धान्त के अनुरूप जो वस्तु जिस क्षण मे वर्तमान है, उसी क्षण उसकी परमार्थ सत्ता है। ऐसा मानने पर वस्तु के क्षणिक होने से जो कर्त्ता है वही भोक्ता नही रहेगा एव अन्य ही कर्त्ता और अन्य ही भोक्ता सिद्ध होगा, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से मिथ्या सिद्ध होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य की पर्याय रूप अवस्थाओ को क्षणिक किवा अनित्य स्वीकार करके भी उन पर्यायों मे सदा सर्वदा विद्यमान रहने वाले गुण के कारण से द्रव्य की नित्य सत्ता स्वीकार की है। ऐसा मानने पर पर्यायार्थिक दृष्टि से आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व के समय अन्य पर्याय

का कर्तृत्व एव अन्य पर्याय का भोक्तृत्व सम्भव है जैसे मनुष्य पर्याय मे किए गए शुभ कर्मों का फल देव पर्याय मे भोगा, किन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखा जाए तो माला के मोतियो मे अनुस्यूत सूत्र के समान समस्त पर्यायो मे द्रव्य अनुस्यूत रहता है अत वही नित्य द्रव्य कर्त्ता एव भोक्ता है ऐसा सिद्ध होता है।[६७]

जैसे स्वर्णकार हथोडी आदि करणों को ग्रहण कर उनकी सहायता से कुण्डल आदि परद्रव्य को करता है तथा धन के रूप मे उसका फल भी भोगता है किन्तु वह स्वर्णकार करणो, कुण्डलादि पर्यायो एव उसके फल मे तन्मय नहीं होता, स्वर्णकार का उससे भिन्न कुण्डलादि कर्म के साथ केवल निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही जीव भी मन, वचन कर्म रूप करणों द्वारा अपने से भिन्न पुण्य पापादि स्वरूप कर्मों को करता हुआ, कर्मों के फलस्वरूप सुख-दु ख को भोगता है किन्तु तन्मय नही होता। जीव का कर्म व कर्म फलादि के साथ निमित्त-नैमित्तिक रूपेण ही कर्त्ता-कर्म भाव अथवा भोक्ता-भोग्य व्यवहार है।

इसी प्रकार आत्मा में पुद्गलादि पर पदार्थों का ज्ञायकत्व तो व्यवहार अथवा पर्याय दृष्टि से ही निरूपित किया है, वास्तव मे निश्चय किंवा द्रव्य दृष्टि से तो आत्मा स्व का ही ज्ञायक है।[६८] नियमसार मे भी कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—'व्यवहार से आत्मा सर्वज्ञ एवं निश्चय से आत्मज्ञ है।[६६] आधार-आधेय मे से आधेय का घात होने से आधार की भी हानि होती है, तथा अन्य आधेय के घात से अन्य आधार की हानि नही देखी जाती, इसी कारण से अज्ञानवश आत्मा मे रहने वाले रागद्वेष मोह से ही आत्माधार रूप सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन एव सम्यग्चारित्र का घात होता है, इस प्रकार अज्ञान से आत्मा अपना ही घात करता है।[१००] जीव के गुण जीव से भिन्न पुद्गलादि पर द्रव्यो मे नही हैं अतएव सम्यग्दृष्टि को विषयो मे रागादि नही होता है। रूप रस गन्धादि पुद्गल अपने चतुष्टय मे ही परिणमन करते हैं इस पर भी उपशम भाव को न प्राप्त हुआ अज्ञानी जीव ही परपदार्थों मे ममत्व रखता है, सम्यग्दृष्टि को परपदार्थों मे किंचित् भी ममत्व नही होता।[१०१]

शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, अध्यवसाय आदि समस्त ज्ञेय रूप पदार्थ पुद्गलात्मक पर्याय होने मे अथवा अचेतन होने से ज्ञान नही हैं, एक मात्र चेतन ज्ञायक जीव और ज्ञान मे अभेद हैं, ज्ञान जीव का स्वभाव है, ज्ञान ही जीव है, इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञान ज्ञेय से पृथक् है ऐसा स्पष्ट निर्देश करते हुए ज्ञान व जीव का अभेद स्थापित किया है।[१०२]

कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा के विभिन्न वर्गीकरणो द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप-निरूपण रूप प्रयोजन से आत्मा को समस्त पुद्गलात्मक परद्रव्यो से भिन्न निर्दिष्ट किया है। कुन्दकुन्दाचार्य की विभिन्न रचनाओ मे भिन्न-भिन्न दृष्टियो से आत्मा को अनेक वर्गों मे वर्गीकृत किया है। मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा से जीव को भव्य एव अभव्य दो प्रकार का तथा शुद्धाशुद्धावस्था की दृष्टि से मुक्त एव ससारी निर्दिष्ट किया गया है। जीव का लक्षण प्राण है अत इस लक्षण की पुष्टि से प्राणों की अपेक्षा दस भेद निरूपित किए गए हैं। जीवद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म एव अमूर्त है, वह जिस पर्याय को धारण करता है

उस पर्याय की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद भी व्यवहार दृष्टि से वर्णित किये गए हैं। ससार मे नित्यप्रति जीवो को उनके बाह्य लक्षण रूप इन्द्रियो द्वारा जाना एवं पहचाना जाता है। इन इन्द्रियो की अपेक्षा से जीव के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय पाँच भेद निरूपित किये गए हैं। गमन करने की क्षमता के आधार पर जीव के त्रस एव स्थावर भेद होते हैं। पृथ्वीकायादि की अपेक्षा से छ भेदों का वर्णन मिलता है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा एव परमात्मा रूप त्रिविध वर्गीकरण भी कुन्दकुन्दाचार्य ने हेयोपादेय दृष्टि से किया है। जीव चेतनामय है एव उपयोग उसका लक्षण है। जीव का उपयोग शुभ, अशुभ एव शुद्ध भाव रूप हो सकता है—इस अपेक्षा से भी अशुभोपयोगी, एव शुद्धोपयोगी जीवो का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा इस समस्त वर्गीकरण मे व्यवहारनय का कथन जीव के वास्तविक स्वरूप को बोधगम्य कराने हेतु किया गया प्रतीत होता है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के दो ही भेद होते हैं—मुक्त एव ससारी, व्यवहारनय से किये गए उपर्युक्त सभी भेदो का अन्तर्भाव मुक्त एव ससारी दो भेदो मे हो जाता है। **मुक्तावस्था मे आत्मा की स्वभाव पर्याय होती है तथा ससारी अवस्था मे अनन्तानन्त विभावपर्यायों में से कोई भी हो सकती है।**

कुन्दकुन्दाचार्य का प्रयोजन ससारी जीवो के सम्मुख आत्मा के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत करना था जिसके द्वारा ससारी जीव अनन्तगुणात्मक विशुद्धात्मा के स्वरूप को जान सके।

सन्दर्भ

१ (क) कुन्दकुन्दाचार्य समयसार, (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९१९

(ख) कुन्दकुन्दाचार्य समयसार, (सम्पा०) शीतलप्रसाद, जैनमित्र, सूरत, १९१८

(ग) Kundakundācārya Samayasāra, (Ed) Chakravartı, A, Bhartıya Jñānapıṭha, Varanası, 1971

२ कुन्दकुन्दाचार्य समयसार, (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुत प्रभावकमण्डल, बम्बई १९१९, जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, पृ० ५

३ समयसार, तात्पर्यवृत्ति, पृ०, ५

४ 'समत्तणाणसजमतवेहिं ज ज पसत्थसमगमण।
समय तु तु तु भणिद तमेव सामाइअ जाणे॥'

—मूलाचार, ७।२३

५ कुन्दकुन्दाचार्य रयणसार, (सम्पा०) शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, श्रीवीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर, वीरनिर्वाण स० २५००, गाथा १५३, पृ० १९४

६ 'प्राभृत' शब्द विषयक विशेष विवरण 'कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियाँ' अध्याय के अतर्गत सामान्य समीक्षा में द्रष्टव्य है।

७ समयसार, तात्पर्यवृत्ति, पृ० ५

८ 'जीवो चरित्रदसणणाणट्ठिउ त हि ससमय जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च त जाण परसमय ।।' —समयसार, गाथा २, पृ० ७

९ (क) 'जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो' —पचास्तिकाय, गा० २७, पृ० ५६
(ख) 'उपयोगो लक्षणम्' —तत्त्वार्थसूत्र, २।८, पृ० ८२
(ग) 'त्रिकालविषयजीवनानुभवनाज्जीव' अकलक तत्त्वार्थराजवार्तिक, २।४।७, पृ० १०६

१० 'समयसार मे आत्मनिरूपण' शीर्षक से इसी अध्याय मे विस्तृत विवेचन ।

११ 'तद्विपर्ययलक्षणोऽजीव' —पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि, १।४, पृ० ५

१२ (क) समयसार, गा० ६८, पृ० १११
(ख) 'अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाटये वर्णादिमानटति पुद्गल एव नान्य ।'
—अमृतचन्द्र आत्मख्याति, श्लोक ४४, पृ० ११३

१३ (क) समयसार, गा० १४५-४६, पृ० २१३-१६
(ख) 'कर्म सर्वमपि सर्वविदो यदबन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्ध ज्ञानमेव विहित शिवहेतु ।।
—अमृतचन्द्र, समयसार आत्मख्याति, टीका श्लोक १०४, पृ० २२०

१४ (क) 'रत्तो बधदि कम्म मुचदि जीवो विरागसपत्तो ।'
—समयसार, गा० १५०, पृ० २१९
(ख) वही, गा० १४७, पृ० २१७

१५ वही गा० १५७-५९, पृ० २२८

१६ (क) वही, गा० १५६, पृ० २२६
(ख) 'वृत्त ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।'
—अमृतचन्द्र, समयसार आत्मख्याति, टीका श्लोक १०७, पृ० १२७

१७ समयसार, गा० १४५, पृ० २१३

१८ 'कायवाड्मन कर्मयोग' —तत्त्वार्थसूत्र, ६।१, पृ० २९८
'स आस्रव' —वही, ६।२, पृ० २९९

१९ 'आस्रवत्यनेन आस्रवणमात्र वा आस्रव'
—अकलक तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।४।९, पृ० १०८ (हरीभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला, भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता से प्रकाशित)

२० समयसार, गा० १६४-६५, पृ० २३५, गा० १६९, पृ० २४२, गा० १८०, पृ० २५४

२१ (क) ' · आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवा , ते चाज्ञानिन एव भवतीति · '
—अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति, टीका १६४-६५, पृ० २३७-३८
(ख) समयसार, गा० १७०, पृ० २४३, गा० १७७-७८, पृ० २५१

२२. वही, गा० १६६, पृ० २३८
२३. वही, गा० १७३-७६, पृ० २४७
२४ अकलक तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।४-११, पृ० १०८
२५. (क) समयसार, गा० १८७-८९, पृ० २६५
(ख) आदा खु मज्झ णाण आदा मे दसण चारित्त च ।
आदा पच्चक्खाण आदा मे सवरो जोगो ।।
—समयसार, गा० २७७, पृ० ३६८
२६ वही, गा० १८६, पृ० २६३
२७ वही, गा० १८१-८३, पृ० २५७
२८ 'चैद्रूप्य जडरूपतां च दधतो कृत्वा विभाग द्वयोरतर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च । भेदज्ञानमुदेतिनिर्मलमिद मोदध्वमध्यासिता शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सतो द्वितीयच्युता एवमिद भेदज्ञान यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयद विचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञान ज्ञानमेव केवल सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूप भावमारचयति । ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलभ प्रभवति । शुद्धात्मोपलभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षण संवर प्रभवति ।।
—अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति टीका, पृ० २६०-६१
२९ अकलक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।४।१२, पृ० १०९
३० समयसार, गा० १९३-९४, पृ० २७३-७५
३१ वही, गा० १९८-२००, पृ० २८० ८२, गा० १९६, पृ० २७७
३२ वही, गा० २१८-१९, पृ० ३०८
३३ अकलक तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १।४।१०, पृ० १०८
३४ समयसार, गा २३७-४६, पृ० ३३१-३७
३५ एसा दु जा मई दे दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहामुह बधए कम्म ।। —वही, गा० २५९, पृ० ३४८
३६ अज्झवसिदेण बधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बधसमासो जीवाण णिच्छयणयस्स ।।
—वही, गा० २६२, पृ० ३५०
३७. मिथ्यादृष्टे स एवास्य बधहेतुर्विपर्ययात् ।
स एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ।।
—अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति, श्लोक १७०, पृ० ३४८
३८ समयसार, गा० २६३-६४, पृ० ३५१-५२
३९ 'सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं' —वही, गा० २६८-६९, पृ० ३५८
४० सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खयणिमित्त ।।
—वही गा० २७५, पृ० ३६७

४१ (क) वही, गा० २७८-७९, पृ० २७१; गा० २८६-८७, पृ० ३७९

(ख) 'एव रागपरिणाम एव बन्धकारण ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तर भावना कर्तव्येति'

—जयसेन, प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, टीका २।८७, पृ० २२१

(ग) 'अत्रैव ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावनिजात्मनि रति कर्तव्या'

—जयसेन, समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका २०, पृ० ५२

४२ 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष'

—उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र, १०।२-३, पृ० ४३८-३९

४३. 'मोक्ष्यते येन मोक्षणमात्र वा मोक्ष'

—तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।४।१३, पृ० १०९

४४. (अ) 'बजु बधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खण कुणई'

—समयसार, गा० २९३, पृ० ३८७

४५ वही, गा० २९६-९९, पृ० ३९२-९५

४६ वही, गा० ५, पृ० १३

४७ जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभास विणा उ गाहेउ ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्क ॥

—वही, गा० ८, पृ० १९

४८ (क) ववहारो अभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ॥

—वही, गा० ११, पृ० २२

(ख) अत शुद्धनयायत्त प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्व न मुचति ॥

—समयसार आत्मख्याति, श्लोक ७, पृ० ३०

४९ जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अणण्णय णियद ।
अविसेसमसजुत्त त सुद्धणय वियाणीहि ॥

—समयसार, गा० १४, पृ० ३५

५० वही, गा० ७ पृ० १७

५१ 'पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो' —वही गा० १४२

५२ वही, गा० ११, १२, १४, ४८ आदि

५३. वही, गा० २७२—'एव ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण'

५४ वही, गा० १४२

५५ वही, गा० १४३

५६. 'रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुखस्वभाव परमात्मेतिभेदज्ञान'

—जयसेन प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, गा० टीका ५, पृ० ६

५७ भेद विज्ञानत: सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।
—अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति, श्लोक ११८, गा० टीका १९०-९२, पृ० २७१-७२

५८ (क) समयसार, गा० १८१-८२, पृ० २५७
(ख) 'ततो ज्ञानमेव ज्ञाने क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्ध भेदविज्ञान'
— अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति, गा० टीका १८१-८३, पृ० २६०

५९. समयसार, गा० २, पृ० ७

६० वही, गा० २०-२२, पृ० ५१

६१ वही, गा० ३४, पृ० ६८

६२ वही, गा० ३५-३८, पृ० ७०-७५

६३ वही, गा० ३९-४३, ३२४-२७, पृ० क्रमश ७९, ४२८

६४ वही, गा० ४५, पृ० ८६

६५ वही, गा० ७१, पृ० ११८

६६ वही, गा० ७५-७८, पृ० १२६-१३२

६७ वही, गा० ८१-८३, पृ० १३५-३७

६८ (क) कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितामनुभूति ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानतभावस्वभावैर्मुकुरवदविकारा सन्तत स्युस्त एव ।।
—अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति, श्लोक २१ गा० टीका १९, पृ० ५१
(ख) समयसार गा० ९१-९३, पृ० १४९-५२

६९ वही, गा० ९९-१०१, पृ० १६३-६५

७० 'स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदस्यानुपपत्ते' — स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १६

७१ 'गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीन'
—ईश्वरकृष्ण सांख्यकारिका, २० (सम्पादक) जगन्नाथ शास्त्री, पृ० ४९

७२ एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्ध ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ।।
—समयसार आत्मख्याति, श्लोक २०१, गाथा टीका ३२४-२७, पृ० ४३०

७३ समयसार, गा० ११३-१५, पृ० १७७

७४ वही, गा० १४२-४४, पृ० २०१-८

७५ 'तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चय सम्यग्ज्ञानम्'
—समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा टीका १५५, पृ० २२६

७६ समयसार, गा० १४६, पृ० २१६

७७ 'यस्य तु यथोदित भेदविज्ञान नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मान मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यते च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते'
—समयसार आत्मख्याति, गाथा टीका १८४-८५, पृ० २६३

७८. समयसार गाथा १५५, पृ० २५५

७९. वही, गाथा १६१-६३, पृ० २३१

८०. 'तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन सतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतो भेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति'

—समयसार तात्पर्यवृत्ति, गाथा टीका १८४, पृ० २६२

८१. समयसार, गाथा १७३, पृ० २४७

८२. (क) वही, गाथा १८७-९२, पृ० २६५-६७

(ख) सपद्यते सवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥

—समयसार आत्मख्याति, श्लोक ११७, पृ० २७१

८३. णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमता णेवकत्ताण ॥

—प्रवचनसार, २।६८, पृ० २०१

८४ (क) भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भ '

—समयसार आत्मख्याति, गाथा टीका १८४-८५, पृ० २६३

(ख) निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धमात्मोपलम्भ ।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षय कर्ममोक्ष

—समयसार आत्मख्याति, गाथा टीका १८७-८९, पृ० २६७

८५ पचास्तिकाय, गाथा १७३, पृ० २५२

८६ (क) कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइनिहणो य ।
दसणणाणउवओगो जीवो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ॥

—भावपाहुड, गा० १४८, अष्टपाहुड, पृ० २१८

(ख) पचास्तिकाय, गा० २७, पृ० ५६

८७ (क) वही, गाथा १०६, पृ० १७३

(ख) प्रवचनसार, २।३५, पृ० १६२

(ग) समयसार, गाथा ४९, पृ० ८९

८८ वही गाथा ३१०-३११, पृ० ४१०

८९ वही गाथा ३१२, पृ० ४१४

९० 'भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृत कर्तृत्ववच्चित । अज्ञानादेव भोक्ताय तदभावाद-वेदक '

—समयसार आत्मख्याति, श्लोक ९६, पृ० ४१६

९१. वही गाथा ३१४-२०, पृ० ४१४-२१

९२ (क) 'ये तु कर्तारमात्मान पश्यन्ति तमसातता सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥'

—समयसार आत्मख्याति, श्लोक १९९, पृ० ४२४

(ख) 'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्ध परद्रव्यात्मतत्त्वयो । कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुत ,।'

—वही, श्लोक २००, पृ० ४२७

९३ समयसार, गाथा ३३२-३४, पृ० ४३५-३६

९४ वही, गाथा, ३३५-३७, पृ० ४३६-३७

९५ साख्यकारिका, ११, १९, २०, ५७, पृ० क्रमश २६, ४७, ४९, ११३

९६ समयसार, ३३८-३९, पृ० ४३७

९७ (क) वही गाथा ३४५-४८, पृ० ४४६-४८

(ख) व्यावहारिकदृशैव केवल कर्तृकर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृकर्म च सदैकमिष्यते ॥

—समयसार, अमृतचन्द्र आत्मख्याति श्लोक २१०, पृ० ४५१

९८. समयसार, गाथा ३५६-६५, पृ० ४५७-५९

९९. नियमसार, गाथा १५८, पृ० १३६

१०० समयसार, गाथा ३६६-७१, पृ० ४७०-७१

१०१. 'अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्य भवेद्वेदको ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातु चिद्वेदक । इत्येव नियम निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यता ज्ञानिता ॥

—समयसार आत्मख्याति, श्लोक १९७, पृ० ४१८

१०२ समयसार, गाथा ३९०-४०३, पृ० ५२१-२३

पंचम अध्याय

नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

(क) 'नियमसार' शीर्षक का तात्पर्य

(ख) नियमसार—रचना का प्रयोजन

(ग) नियमसार में दार्शनिक दृष्टि : वर्ण्य विषय के परिप्रेक्ष्य में—

(१) तत्त्वार्थ-निरूपण
(२) नियम-निरूपण
(३) रत्नत्रय के सन्दर्भ मे उपयोग-समीक्षा
(४) भेदविज्ञान-निरूपण
(५) षडावश्यक-निरूपण
(६) केवली-स्वरूप-निरूपण
(७) निर्वाण-स्वरूप
(८) नियमसार में रत्नत्रय के सन्दर्भ में व्यवहारनय तथा निश्चयनय का समन्वय, निश्चयोन्मुखी व्यवहारनय

(घ) नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित मौलिक दृष्टि—

(१) आत्मत्रय-निरूपण
(२) 'नियम' संज्ञा
(३) जीव की विभाव पर्याय
(४) पुद्गल-स्वरूप-निरूपण
(५) अध्यात्म निरूपण
(६) केवली का अक्रमोपयोगवाद
(७) 'अवश', 'आवश्यक' निरुक्ति

(ङ) निष्कर्ष

'नियमसार' में कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि

नियमसार कुन्दकुन्दाचार्य की ऐसी रचना है जिसमे उन्होने मोक्षमार्ग स्वरूप रत्नत्रय का निरूपण किया है। शोधकर्ताओं द्वारा यद्यपि नियमसार का दार्शनिक दृष्टि से कोई भी प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत नही किया गया है तथापि विषयवस्तु की दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे नियमसार का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'नियमसार' पर एक मात्र सस्कृत टीका पद्मप्रभमलधारिदेव (ईसा की १२वीं शताब्दी का मध्य) 'तात्पर्यवृत्ति' उपलब्ध है,[2] जिसमे टीकाकार ने १८७ गाथाओ पर सस्कृत छाया एव तात्पर्य टीका लिखी है। 'नियमसार' कुन्दकुन्दाचार्य की कृति है, इस विषय मे पद्मप्रभमलधारिदेव का कथन प्रमाण है।[3]

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव के समय के विषय मे अपना मत प्रस्तुत करते हुए देसाई, पी० बी० ने पद्मप्रभमलधारिदेव का देहावसान समय ११८५ ईसवी प्रमाणित किया है।[4] उपाध्ये, ए० एन० ने पद्मप्रभमलधारिदेव और उनकी नियमसार पर टीका का विशुद्ध अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनका समय ईसा की १२वी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से लेकर १३वी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश के मध्य निर्धारित किया है।[5]

नियमसार की विषयवस्तु कुन्दकुन्दाचार्य की अन्य कृतियो के ही उच्च आध्यात्मिक स्तर की है। विषय का प्रस्तुतीकरण सुव्यवस्थित है, नियमसार का १२ श्रुतस्कन्धो मे विभाजन स्वय कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा किया गया प्रतीत नही होता क्योकि कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसारादि अन्य रचनाओ मे अधिकार विभाजन करते समय प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ मे स्तुतिवाचक मगलाचरण एव वर्ण्य विषय को इगित करने वाली गाथाओ का समावेश किया है।[6] नियमसार के १२ श्रुतस्कन्धो के विभाजन मे इस व्यवस्था का अभाव पाया जाता है, इससे भी यह प्रमाणित होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार की रचना आदि से लेकर अन्त तक एक तारतम्य मे बद्ध रूप से ही की। नियमसार मे कही पर भी विभिन्न अधिकारो के लिए अपेक्षित विषय परिवर्तन की घोषणा तथा उसके साथ पाया जाने वाला स्वस्तिवाचन नही मिलता। श्रुतस्कन्धो का यह विभाजन पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा ही किया गया प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि मे यह श्रुतस्कन्धो का विभाजन विषयवस्तु को बोधगम्य बनाने हेतु सहायक प्रतीत नहीं होता अपितु इसके द्वारा रचना के मूल सहज प्रवाह मे व्यवधान ही पड़ा है।

नियमसार मे कुछ ऐसी परम्परागत गाथाएँ पाई जाती हैं जो कुन्दकुन्दाचार्य की अन्य कृतियो मे भी पाई जाती हैं।[७]

षडावश्यक निरूपण मे आचार्य ने प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक तथा परमभक्ति का उल्लेख किया है। यह परम्परागत उल्लेख से कुछ भिन्न है।[८] परम्परागत उल्लेखो मे आलोचना का पृथक् वर्णन नही मिलता, सम्भवत उसका समावेश प्रतिक्रमण मे कर लिया गया है। इसी प्रकार परम्परागत उल्लेखो मे परमभक्ति के स्थान पर स्तुति एव वन्दना को षडावश्यक मे स्थान प्रदान किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने परमभक्ति का विभाजन दो प्रकार से किया है—निवृत्ति भक्ति तथा योग भक्ति। इनमे परम्परागत स्तुति तथा वन्दना से सादृश्य का भाव पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने परम्परागत उल्लेख से भिन्न वर्णन कदाचित् विषय को निश्चयनय की दृष्टि से प्रस्तुत करने हेतु किया अथवा परम्परागत दृष्टिकोण एव स्वय के दृष्टिकोण मे अन्तर न समझते हुए ही ऐसा वर्णन किया। यह भी सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसी परम्परा का उल्लेख किया हो जो उनकी समकालीन नही हो, अपितु इतनी अधिक प्राचीन हो कि उस समय सामान्य प्रचलन मे नही रही हो।

नियमसार शीर्षक का तात्पर्य

नियमसार पद के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रारम्भिक गाथाओ मे नियम शब्द का निर्वचन प्रस्तुत किया है—

णियमेण य जं कज्जं तण्णियम णाणदसणचरित्त।
विवरीय परिहरत्थ भणिय खलु सारमिदि वयण ॥[९]

अर्थात् नियम से जो करने योग्य है वह नियम है, ज्ञान दर्शन चारित्र नियम हैं। इस रत्नत्रय विरुद्धभावो का त्याग करने के लिए अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र का परिहार करने हेतु 'सार' का प्रयोग निश्चय दृष्टि से किया गया है, अतएव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय 'नियमसार' हुआ।

नियमसार ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य मगलाचरण के साथ प्रतिज्ञा करते हैं—'वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवली भणिद।' जिनशासन मे वर्णित समस्त कथन केवली और श्रुतकेवली द्वारा ही कथित हैं, ऐसे जिनशासन मे मार्ग और मार्गफल का उल्लेख मिलता है। मुमुक्षुओं हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान एव सम्यक् चारित्र मार्ग है तथा उस मार्ग का फल है—निर्वाण की प्राप्ति होना।[१०]

समस्त भव्य जीवो के लिए मोक्ष की प्राप्ति ही उपादेय है, अन्य कुछ भी नही। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला मार्ग ही सारभूत है, इतर मार्ग उन्मार्ग ही है—इस अपेक्षा से रत्नत्रय को 'नियम' सज्ञा प्रदान करना तथा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र के परिहार हेतु 'सार' पद का प्रयोग पूर्णत उपयुक्त है।

कुन्दकुन्दाचार्य की इस रचना की विषयवस्तु भी 'नियमसार' पद की सार्थकता को प्रमाणित करती है। नियमसार की रचना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र

का सुस्पष्ट निरूपण करने हेतु की गई है। विषयवस्तु को बोधगम्य बनाने हेतु व्यवहार-नय तथा निश्चयनय दोनों की अपेक्षा से 'नियम' का निरूपण किया गया है।[11]

निश्चयनय ही उपादेय और मोक्ष का प्रत्यक्ष मार्ग है जबकि व्यवहार, निश्चय की प्राप्ति में सहायक है। मोक्ष का वास्तविक मार्ग समस्त परपदार्थों से उपयोग को हटाकर 'स्व' पर केन्द्रित करना ही है। राग व द्वेष, जिनके कारण समस्त विभाव परिणति होती है, कर्म बन्धन के मुख्य कारण हैं, वीतरागता तथा शुद्धोपयोग कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाते हैं।

नियम के स्वरूप को स्वय कुन्दकुन्दाचार्य स्पष्ट करते हैं कि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन जिसकी पूर्वावश्यकता हैं, ऐसे निश्चय चारित्रवान् साधक को ही 'नियम' होता है—

"सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा॥"[12]

अर्थात् शुभाशुभ समस्त वचनरचना का एव रागादि भावो का निवारण करके जो आत्मा का ही ध्यान करता है उसे नियम से (अवश्यमेव) नियम (रत्नत्रय) होता है।

नियमसार रचना का प्रयोजन

नियमसार की रचना कुन्दकुन्दाचार्य ने निजभावना के निमित्त की थी। कुन्द-कुन्दाचार्य ने स्वय अपने इस प्रयोजन को नियमसार की समापन-गाथा में स्पष्ट किया है।[13]

कुन्दकुन्दाचार्य की समस्त कृतियो मे 'निज' और 'पर' शब्दो का प्रयोग आपेक्षिक दृष्टि से किया गया है। केवल मात्र शुद्ध आत्मतत्त्व ही 'निज' है, इतर समस्त द्रव्य 'पर' पदार्थ हैं। धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, भवन-वाहन इत्यादि प्रत्यक्ष ही अपने से भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य ने न केवल पुद्गल निर्मित शरीर को पदार्थ निर्दिष्ट किया है अपितु विभाव परिणमन की अवस्था मे आत्मा के विभिन्न भावो को भी आत्मा का स्वीकार नही किया है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मद्रव्य से भिन्न अन्य जीव तथा बाह्य तत्त्व हेय हैं। कर्मरूप उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण तथा पर्यायो से रहित आत्मा ही आत्मा के लिए उपादेय है।[14]

स्वपर विवेक को जागृत करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने एक ओर निजात्म-द्रव्य को समस्त पर पदार्थों से भिन्न बताया है तो दूसरी ओर उसके सम्यक् स्वरूप का वर्णन भी किया है।[15] कुन्दकुन्दाचार्य का प्रयोजन परद्रव्य को हेय और स्वद्रव्य को उपादेय प्रमाणित करते हुए समस्त उपयोग को निज मे ही केन्द्रित करने का उपदेश देना था।[16] इसी सन्दर्भ मे कुन्दकुन्दाचार्य योग को परिभाषित करते हैं—जो विपरीत अभिप्राय का परित्याग कर जिनेन्द्र द्वारा कथित, तत्त्वो में स्वय को लगाता है उसका वह निजभाव ही योग है।[17]

नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जिनोपदेश से प्रेरित

हो निजभावना के निमित्त ही विभिन्न दृष्टियो से विशुद्ध निजतत्त्व का कथन किया है। उनका प्रत्येक निर्देश मुमुक्षुओं को अन्ततोगत्वा विशुद्ध आत्मद्रव्य की प्राप्ति की ओर उन्मुख करता है। मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया को सांसारिक जीवो के लिए सुलभ एव बोधगम्य बनाने के लिए उन्होंने ससारी अवस्था एव मुक्तावस्था की मध्यवर्ती उन समस्त क्रमिक अवस्थाओ का भी उल्लेख किया है जिनके द्वारा मोक्षरूपी लक्ष्य की प्राप्ति होती है। समस्त उपयोग इस बात पर केन्द्रित होना चाहिए कि आत्मा की उच्च से उच्चतर एव उच्चतर से उच्चतम अवस्था को प्राप्त किया जाए। उच्चतम अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् शेष सभी अवस्थाएँ पीछे छूट जाती हैं। जिस प्रकार गतव्य तक पहुँचाने वाला मार्ग भी पथिक से छूट जाता है ठीक उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति का रत्नत्रय रूप मार्ग भी मोक्ष प्राप्ति के समय स्वत ही छूट जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहार सम्यक्चारित्र को भी विशुद्धात्मतत्त्व से भिन्न माना है, इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार मे प्रवचन की भक्ति से नियम तथा नियम का फल-निरूपित किया है,[१८] किन्तु आग्रह इस बात पर है कि फल प्रधान तथा फल प्राप्ति का साधन गौण।

केवल विशुद्ध अनन्त ज्ञान मे, अनन्त सुख मे तथा स्वानुभव मे लीन आत्मा ही सिद्ध आत्मा हो सकता है। ऐसा सिद्धात्मा समस्त बन्धनो से मुक्त विशुद्ध जीव द्रव्य होता है। राग द्वेष रूप विभाव परिणति से होने वाले कर्मों से बद्ध ससारी आत्मा निरन्तर ससार मे भ्रमण करता है।

इसके विपरीत वीतरागता एव शुद्धोपयोग कर्मबन्धन से मुक्ति दिलाता है। मोक्ष प्राप्ति हेतु आत्मा को समस्त अजीव तत्त्वो से पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद करना आवश्यक है। जब किंचित् मात्र भी परपदार्थ आत्मा से सम्बद्ध नही रह जाता तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्म चिन्तन के सन्दर्भ मे ज्ञानी जीव की निजभावना क्या होनी चाहिए इसका वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार एव भावपाहुड मे इस प्रकार किया है— "नित्य तथा ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक आत्मा ही मेरा है उसके अतिरिक्त परद्रव्य के सयोग से होने वाले समस्त भाव बाह्य हैं मुझसे पृथक् हैं।"[१९] इसी प्रसग म कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में भव्य-जीवो को निर्देश करते हैं कि "यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति से मुक्ति पाकर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावो के द्वारा अत्यन्त पवित्र निर्मल आत्मा की ही भावना करो"[२०] कुन्दकुन्दाचार्य के 'णियमावणाणिमित्त मए कद णियमसार णाममुद' कथन मे आए 'णियमावणा' पद का स्पष्टीकरण उपर्युक्त विवेचन से हो जाता है।

कुन्दकुन्दाचार्य अत्यन्त पवित्र एव निर्मल अवस्था मे जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह रूप, रस, गन्ध से रहित है, अव्यक्त, चेतना गुण से युक्त है, शब्द रहित है, इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य है आकार रहित है।[२१] ऐसे स्वरूप वाले आत्मा का ध्यान निज-भावना द्वारा किस प्रकार किया जाए? इसका उल्लेख कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहार सम्यक्चारित्र एव निश्चयसम्यक्चारित्र के अन्तर्गत किया है।[२२] व्यवहारनय से पापक्रिया से त्याग को चारित्र कहते हैं। अत इस चारित्र के अन्तर्गत व्यवहारनय के विषयभूत, अनशन, ऊनोदर आदि तप आते हैं। निश्चयनय से निजस्वरूप में अविचल

स्थिति को चारित्र कहा है अत इसके अन्तर्गत समाधि तथा शुद्धोपयोग आदि आते हैं। नियमभावना के उपर्युक्त स्वरूप के प्रकाशनार्थ ही कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार की रचना की है जिससे मुमुक्षुजीव रत्नत्रय के मार्ग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

नियमसार मे दार्शनिक दृष्टि, वर्ण्य विषय के परिप्रेक्ष्य मे तत्त्वार्थ निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार मे परमात्मा द्वारा उपदिष्ट विशुद्ध एव पूर्वापर दोष-रहित जिनोपदेश को आगम कहा है। आगम में तत्त्वार्थों के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये षड्द्रव्य अपनी नाना गुण-पर्यायों सहित तत्त्वार्थ कहे गए हैं।[३३] 'गुणपज्जयासयं दव्वं'[३४] द्रव्य का यह सामान्य लक्षण आगमों तथा आगमेतर साहित्य मे उपलब्ध है किन्तु प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्यायो में स्वभावगुण, स्वभावपर्याय तथा विभावगुण विभाव पर्याय का स्पष्ट निर्देश जैसा कुन्द-कुन्दाचार्य ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

तत्त्वार्थ की महत्ता इस तथ्य से प्रमाणित होती है कि तत्त्वार्थों मे सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, तत्त्वार्थों के स्वरूप का यथार्थ बोध ही सम्यग्ज्ञान है, तत्त्वार्थ द्वारा उपलब्ध सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न स्वपरविवेक रूपी भेद-विज्ञान द्वारा निरन्तर निर्विकल्प रूप से आत्मस्वरूप मे परिणमन करना ही सम्यग्चारित्र है। इस प्रकार तत्त्वार्थ रत्नत्रयरूपी मोक्ष मार्ग की आधारशिला है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूपी नियम तत्त्वार्थ रूपी जिस सुदृढ आधार पर आधारित है उसका (तत्त्वार्थ का) विशुद्ध वर्णन 'नियमसार' मे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक दृष्टि का यथावत् बोध कराने हेतु अपरिहार्य है।

ससारी जीवो का ससार मे परिभ्रमण जीव एव पुद्गल के सयोग एव परिणमन के कारण है, शेष चार द्रव्य विभाव परिणमन से सर्वथा रहित हैं। इसी दृष्टि से कुन्द-कुन्दाचार्य ने तत्त्वार्थ निरूपण करते समय जीव एव पुद्गल तत्त्वार्थों से सम्बन्धित कथन को प्रधानता प्रदान की है, एव तत्त्वार्थों (द्रव्यो) की गति एव स्थिति मे सहायक, उन्हे अवगाहना प्रदान करने वाले एव उनकी पर्याय परिवर्तन का बोध कराने वाले क्रमश धर्म, अधर्म, आकाश एव काल द्रव्यो का तुलनात्मक दृष्टि से गौण रूपेण उल्लेख किया है।

जीव

'जीवो उवओगमओ' अर्थात् जीव उपयोग वाला है अत एव जीव का लक्षण उपयोग है।[३५] उपयोग ज्ञानदर्शनरूप है अर्थात् उपयोग के ज्ञानोपयोग एव दर्शनोपयोग दो भेद होते है। ज्ञानोपयोग भी दो प्रकार का होता है—स्वभाव ज्ञानोपयोग एव विभाव-ज्ञानोपयोग।[३६] इन्द्रियो तथा प्रकाशादि बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना ही, स्वानुभव द्वारा निरपेक्ष रूप से प्राप्त होने वाला ज्ञान (असहाय—Immediate) स्वाभावज्ञानोप-योग है।[३७] इन्द्रियो के माध्यम से तथा बाह्य पदार्थों की सहायता की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान (Mediate) परोक्ष-ज्ञान कहलाता है, इस परोक्ष-ज्ञान को विभावज्ञानोपयोग कहते

है। यह विभाव-ज्ञान दो प्रकार का होता है—सम्यक् विभाव-ज्ञान तथा मिथ्याविभाव-ज्ञान। सम्यक्विभावज्ञान चार प्रकार का होता है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान। मिथ्याविभावज्ञान अज्ञानरूपी मिथ्यातत्त्व के कारण कुमतिज्ञान, कुश्रुत-ज्ञान और विभगज्ञान के भेद से तीन प्रकार का होता है।[८८] विभावपर्याय के प्रसङ्ग मे सम्यक् विभाव और मिथ्या विभाव कहकर कुन्दकुन्दाचार्य शुभ और अशुभ उपयोग को स्पष्ट करना चाहते हैं। शुभाशुभ दोनो उपयोग विभाव हैं अत हेय हैं। शुद्धोपयोग स्वभाव है अत उपादेय।

दर्शनोपयोग के भी स्वभावदर्शनोपयोग तथा विभावदर्शनोपयोग दो भेद होते हैं। केवल-दर्शन इन्द्रियनिरपेक्ष तथा परपदार्थ की सहायता से रहित होने के कारण स्वभाव-दर्शन कहलाता है। विभाव-दर्शन के चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन तथा अवधि-दर्शन तीन भेद होते हैं।
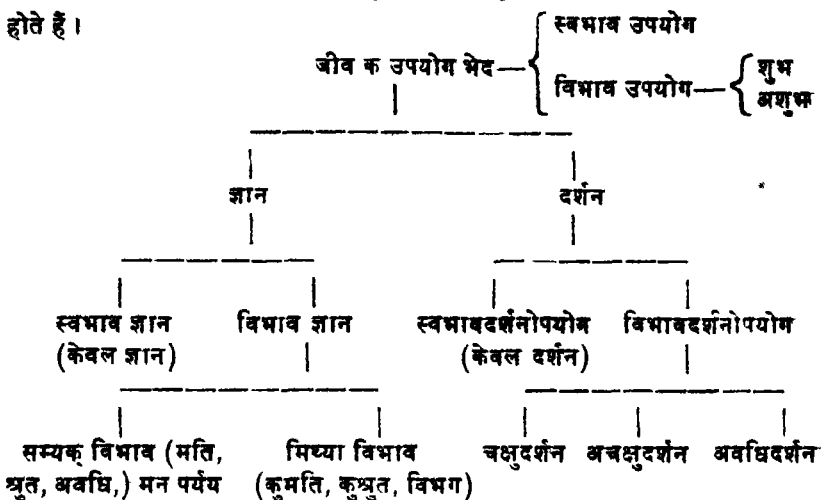
इस प्रकार जीव स्वभाव तथा विभाव की अपेक्षा से ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोप-योग द्वारा विभिन्न पर्यायो मे परिणमन करता रहता है। ये पर्याय भी दो प्रकार की होती हैं—स्वभाव-पर्याय तथा विभाव-पर्याय। कर्म रूप उपाधि से रहित समस्त पर्यायें स्वभाव-पर्याय कहलाती हैं तथा कर्म रूप उपाधि से युक्त पर्यायें विभाव-पर्याय हैं। जैसे मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव—
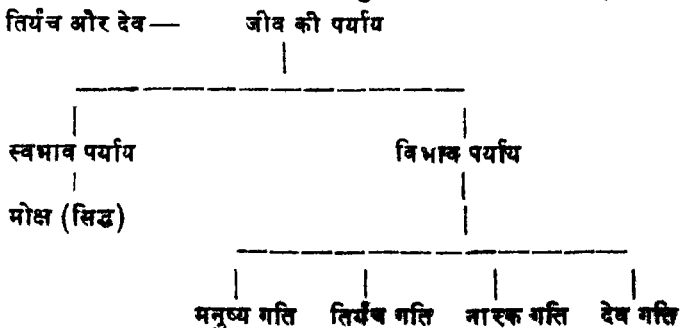
कर्म भूमि और भोग-भूमि मे जन्म लेने की अपेक्षा से मनुष्य पर्याय के दो भेद होते हैं तथा विभिन्न पृथिवियों के भेद से नारक सात प्रकार के होते हैं। तिर्यंचों के चौदह भेद तथा देव-समूह के चार भेद जैनागमो मे बताए गए हैं। इन सबका विस्तार कुन्द-कुन्दाचार्य के अनुसार 'लोक-विभाग' मे ज्ञातव्य है।[२९]

प्रस्तुत प्रसग मे 'लोयविभागेसु णादव्व' से कुन्दकुन्दाचार्य का क्या अभिप्राय है? यह विवादास्पद विषय रहा है। कुछ विद्वानो के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य ने यहाँ पर सर्व-नन्दी के 'लोक-विभाग' (विक्रम की १६ वी सदी) ग्रन्थ का निर्देश किया है। सर्वनन्दी कृत लोक-विभाग के उपलब्ध सस्कृत रूपातर को देखने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ मे नियमसार की गाथा स० १७ के अनुरूप प्रासगिक वर्णन नही मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य का प्रयोजन यहाँ पर किसी ग्रन्थ विशेष का उल्लेख करना नही,[३०] अपितु विभिन्न पर्यायों के विस्तार का निरूपण करना मात्र है। मेरे विचार से 'लोयविभागेसु' इस बहुवचनान्त पद द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य सम्भवत यह निर्देश करना चाहते हैं कि दो प्रकार के मनुष्यो, सात प्रकार के नारको, चौदह प्रकार के तिर्यंचो तथा चार प्रकार के देवो के विस्तार को क्रमश मृत्यु-लोक, नरक-लोक, व्यन्तर-लोक, ज्योति-लोक, अल्पवासी-लोक, भवनवासी-लोक के वर्णनो से जानना चाहिए।[३१]

यह भी सम्भव है कि नियमसार की रचना करते समय कुन्दकुन्दाचार्य के सम्मुख लोकानुयोग से सम्बन्धित साहित्य रहा होगा और उसके आधार पर ही उन्होने गाथा १७ मे निर्देश किया है। इस प्रकार के साहित्य के उपलब्ध होने के पक्ष मे यह प्रमाण दिया जा सकता है कि स्वय कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार म 'प्रतिक्रमण सूत्र' नामक रचना का उल्लेख करते हुए उसमे वर्णित प्रतिक्रमण को जानकर उसकी भावना करने का निर्देश किया है।[३२] विभिन्न पर्यायो के अनुरूप परिणमन करते हुए आत्मा से पुद्गल कर्मों का सयोग होता है। व्यवहारनय की अपेक्षा से ही आत्मा पुद्गल कर्मो का कर्त्ता भोक्ता कहलाता है तथा अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से कर्मजनित भाव का कर्त्ता भोक्ता कहलाता है। विषयवस्तु को स्पष्ट करने हेतु कुन्दकुन्दाचार्य ने यहाँ पर नय की अपेक्षा से कथन प्रस्तुत किया है जिसका तात्पर्य यह है कि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म का कर्त्ता और उसके सुख-दुख रूप फल का भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा कर्मजनित राग-द्वेष आदि भाव कर्म का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से औदारिक शरीरादि नो-कर्म का कर्त्ता है, तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यह आत्मा घट-पटादि पदार्थों का कर्त्ता है। यह अशुद्ध जीव का कथन है। जीव की उपर्युक्त पर्यायो का कथन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है। द्रव्यार्थिक नय से जीव पूर्व-कथित पर्यायो से व्यतिरिक्त जीव द्रव्य मात्र ही है।[३३] इस प्रसङ्ग मे व्यवहारनय तथा निश्चयनय का कथन भी तत्त्वार्थों के स्वभाव-विभाव-स्पष्टीकरण के लिए है। तत्त्वार्थ के स्वभाव का निरूपण जो नय करता है वही निश्चय नय है तथा तत्त्वार्थ के विभाव का निरूपण व्यवहार नय से किया जाता है।

जीवादि पदार्थों के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार की अस्पष्टता आगम साहित्य में रही हो यह मेरा मतव्य नहीं है तथापि जीवादि के स्वरूप का इस प्रकार स्वभाव विभाव दृष्टि से निरूपण कर आगम कथित 'वत्थु सहावो धम्मो' का सही एप्लीकेशन कुन्द-कुन्दाचार्य ने प्रथम बार किया।

'चतुग्गदि णिवारणं सणिव्वाणं ·····समयमिणं'

—पञ्चास्तिकाय गाथा २

ऐसा समय का निरूपण करके स्वसमय और परसमय को स्पष्ट किया—

जीवो चरित्तदसणणाणट्ठिदो त हि 'ससमयं' जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिय च तं जाण 'परसमयं'॥

—समयसार गाथा २

अनेकश स्वभाव-विभाव द्वारा विषयवस्तु को स्पष्ट किया—

णोकम्मकम्मरहिय 'विहाव' गुणपज्जएहिं वदिरित्त।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयण होदि॥

—नियमसार गाथा १०७

परदव्वं ते अक्खा णेव 'सहावो' त्ति अप्पाणो भणिदा।

—प्रवचनसार गाथा १/५७

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाण जाणग 'सहावेण'।
त सुयकेवलिमिसिणो भणति लोयप्पदीवयरा॥

—प्रवचनसार गाथा १/३३, आदि- आदि

अजीव

अजीव का लक्षण चेतना का अभाव है अर्थात् अजीव-तत्त्व चेतना के अभाव वाला है। छ द्रव्यो में जीव द्रव्य को छोडकर शेष पाँच द्रव्य अजीव-तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। इन पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल पाँचो द्रव्यो मे पुद्गल का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पुद्गल द्रव्य मे ही विभाव-परिणमन पाया जाता है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल मे नही। नियमसार के एकमात्र सस्कृत टीकाकार पद्मप्रभ पुद्गल को श्लोक द्वारा परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार पुद्गल पदार्थ गलन द्वारा अर्थात् भिन्न हो जाने से परमाणु कहलाता है तथा पूरण द्वारा अर्थात् सयुक्त होने से स्कन्ध नाम को प्राप्त होता है। इस पदार्थ के बिना लोक-यात्रा नही हो सकती।[३४] पुष्पदत्त व भूतबलि कृत षट्खण्डागम पर टीका धवला ग्रन्थ मे भी 'छव्विह सठाण बहुविहि देहेहि पूरिदित्ति गलदित्ति पोग्गला' उल्लेख मिलता है। अन्यत्र भी पुद्गल को इसी रूप मे स्पष्ट किया गया है।[३५] इस प्रकार पुद्गल के पुद और गल इन दो अवयवो से क्रमश पूरा होना (मिलना) एव गलना (मिटना) का बोध होता है अत पुद्गल ऐसा द्रव्य है जो प्रतिसमय मिलता-गलता, बनता-बिगडता व टूटता-जुडता रहता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पुद्गल के विषय अथवा पुद्गल के क्षेत्र के अन्तर्गत पाँचो इन्द्रियो के उपभोग्य विषय, पाँच इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म तथा अन्य मूर्त द्रव्यो को सम्मिलित किया है।[36] रूप-रस-गन्ध-स्पर्श वाला होने से पुद्गल मूर्त कहलाता है; पुद्गल को ही रूपी द्रव्य भी कहते हैं।[37]

पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं—(१) स्वभाव-पुद्गल एव (२) विभावपुद्गल। परमाणु अवस्था में पुद्गल स्वभावपुद्गल कहलाता है तथा स्कन्ध अवस्था में वह विभाव पुद्गल कहलाता है।[38] पुद्गल का परमाणु व स्कन्ध के रूप मे यह वर्गीकरण अन्यत्र भी द्रष्टव्य है।[39]

नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वभावपुद्गल रूप परमाणु की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—"स्वयं ही जिसका आदि है, स्वय ही जिसका मध्य है और स्वय जिसका अन्त है अर्थात् जिसके आदि, मध्य एव अन्त में अपना निज का स्वरूप ही है, जो इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, अविभागी है उसे परमाणु द्रव्य जानना चाहिए।[40]

स्वभाव पुद्गल के कार्य परमाणु तथा कारण परमाणु रूप से दो भेद होते हैं। 'भेदादणु'[41] सिद्धातानुसार स्कन्धो के भेद (पृथक्करण) से उत्पन्न होने वाले वे परमाणु कार्य परमाणु हुए किन्तु द्व्यणुक से पृथ्वी पर्यन्त स्कन्धो के निर्माता होने से परमाणु 'कारण परमाणु' सज्ञा से अभिहित होते हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध बनते है, जब उनमे स्निग्धता और रूक्ष गुणो का ह्रास होता है तब विघटन होता है। जो परमाणु स्कन्ध से विघटित होकर एक प्रदेशी स्थिति को प्राप्त हुआ है उसमे खट्टा, मीठा, कडवा, कषैला एव चरपरा इन पाँच रसो में से एक रस होता है, श्वेत, नील, पीत, रक्त और कृष्ण इन पाँच वर्णो म से कोई एक वर्ण होता है, सुगन्ध दुगन्ध इन गधो मे से कोई एक गध होती है, शीत-उष्ण मे कोई एक तथा स्निग्ध-रूक्ष मे से कोई एक इस प्रकार दो स्पर्श होते हैं। कर्कश, मृदु, गुरु और लघु ये चार स्पर्श आपेक्षिक होने से परमाणु मे विवक्षित नही हैं। उपर्युक्त पाँच गुणो से युक्त परमाणु स्वभावगुण वाला कहलाता है किन्तु जब यही परमाणु स्कन्धदशा मे अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गध और अनेक स्पर्शों से युक्त होता है तब विभावगुण वाला कहलाता है। विभाव पुद्गल रूप स्कन्ध मे आठ स्पर्शों मे से केवल चार प्रकार के स्पर्श पाये जाते हैं—स्निग्ध और रूक्ष मे मे कोई एक, मृदु-कठोर मे से कोई एक, शीत-उष्ण मे से कोई एक तथा लघु-गुरु मे से कोई एक। स्वभाव पुद्गलरूपपरमाणु पुद्गल का सूक्ष्मतम अश है अत उसमे सापेक्षता बोधक मृदु-कठोर तथा लघु-गुरु स्पर्श नही पाये जाते, परमाणु मे केवल दो ही स्पर्श, स्निग्ध-रूक्ष मे से कोई एक तथा शीत-उष्ण में से कोई एक—पाये जाते हैं।

पुद्गल द्रव्य का परमाणु रूप परिणमन अन्य परमाणुओ से निरपेक्ष रहने के कारण (पुद्गल की) स्वभावपर्याय है तथा स्कन्धरूपपरिणमन अन्य परमाणुओं से सापेक्ष रहने के कारण (पुद्गल की) विभाव पर्याय है। निश्चयनय से परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहा जाता है तथा व्यवहार से 'स्कन्ध पुद्गल द्रव्य है' ऐसा व्यपदेश होता है द्रव्य से पर्याय अभिन्न होता है, इस दृष्टि से स्कन्ध मे पुद्गल द्रव्य का व्यवहार होता है। स्कन्ध

छ प्रकार का होता है—

(क)	अतिस्थूल स्थूल	(पृथ्वी आदि)
(ख)	स्थूल	(जल आदि)
(ग)	स्थूल सूक्ष्म	(छाया आदि)
(घ)	सूक्ष्म स्थूल	(चक्षु के विषय के अतिरिक्त चार इन्द्रियो के विषयभूत स्कन्ध)
(ङ)	सूक्ष्म	(कर्मवर्गणा के योग्य स्कन्ध)
(च)	अतिसूक्ष्म	(कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कन्ध)

सूक्ष्म पुद्गल से अभिप्राय शुभाशुभ परिणाम द्वारा आने वाले शुभाशुभ कर्मों के योग्य स्कन्धो से है। इन्द्रिय ज्ञान के अगोचर जो कर्मवर्गणा रूप स्कन्ध हैं वे स्कन्ध सूक्ष्म हैं। इनसे विपरीत अर्थात् कर्मों के अयोग्य, कर्मवर्गणाओ से सूक्ष्म (कर्मवर्गणातीत) जो अत्यन्त सूक्ष्म द्व्यणुक पर्यन्त स्कन्ध हैं वे स्कन्ध अतिसूक्ष्म कहे जाते हैं। विभाव पुद्गल रूप स्कन्ध की भेद-निरूपक गाथा[४२] मे स्थूल से उत्तरोत्तर सूक्ष्म की ओर स्कन्धो का विभाजन किया गया है, जिसका प्रारम्भ 'अइथूलथूल' से होता है तथा समापन अइसुहुम में होता है। प्रस्तुत प्रसग मे स्थूलतम स्कन्ध के लिए 'अइथूलथूल' अव्यय का प्रयोग किया गया है जबकि सूक्ष्मतम स्कन्ध के लिए 'अइसुहुम' का प्रयोग किया गया है, इसमे स्पष्ट विसगति दृष्टिगोचर होती है। यदि स्थूलतम स्कन्ध को 'अइथूलथूल' अव्यय से निरूपित किया गया तो उसके अनुरूप सूक्ष्मतम स्कन्ध को 'अइसुहुमसुहुम' पद द्वारा निरूपित किया जाना चाहिए था। वस्तुत स्थूलतम स्कन्ध हेतु 'थूलथूल' तथा सूक्ष्मतम स्कन्ध हेतु "सुहुमसुहुम' का प्रयोग ही उपयुक्त रहता है जैसाकि अमृतचन्द्र[४३] तथा जयसेन[४४] ने पञ्चास्तिकाय गाथा १/७६ की टीका मे तथा मार्गप्रकाशादि ग्रन्थों मे पुद्गल के छः प्रकारों का निरूपण किया गया है।[४५] सम्भवत छन्दोभग की दृष्टि से इन भेदो का परम्परागत रूप मे प्रयोग न करके 'अइथूलथूल' तथा 'अइसुहुम का प्रयोग किया हो ऐसी शङ्का की जा सकती है। इस प्रयोग मे केवल मात्र इतना ही दोष है कि अइथूलथूल स्थूलता के जिस स्तर का परिचय देता है, 'अइसुहुम' सूक्ष्मता के वैसे ही स्तर का परिचय नही देता। ऐसा प्रतीत होता है जैसे अइसुहुम से भी सूक्ष्म स्कन्ध 'अइसुहुमसुहुम' की भी सत्ता सम्भव है।

स्कन्ध भेद वर्णन के सम्पूर्ण प्रसग पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि 'अइथूलथूल' तथा 'अइसुहुम' का प्रयोग गाथा २१ में छन्दोभग की दृष्टि से किया गया हो, ऐसा नहीं है क्योकि गाथा २२ मे तथा गाथा २४ मे इन स्कन्ध भेदो के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इन्हीं पदो का पुन प्रयोग किया है।[४६] इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने ये प्रयोग छन्दोभग होने की दृष्टि से न करके किसी विशेष प्रयोजन से किये हैं। उनका यह प्रयोजन कदाचित् 'अइथूलथूलं' के स्थान पर 'थूलथूल' तथा 'अइसुहुम' के स्थान पर 'सुहुमसुहुम के प्रयोग द्वारा सिद्ध नही हो पाता। थूलथूल तथा सुहुमसुहुम प्रयोगो द्वारा यह अभिप्राय होता है कि एक ओर स्थूलता की पराकाष्ठा का निर्देश किया जा रहा है

तथा दूसरी ओर सूक्ष्मता की पराकाष्ठा का। सामान्यत हम इस प्रयोग को उचित भी समझते क्योंकि इससे हमे स्कन्धो की क्रमिक स्थूलता तथा सूक्ष्मता का बोध हो ही जाता, वस्तुत कुन्दकुन्दाचार्य का अभिप्राय इतना मात्र ही नही था। वे स्थूलता तथा सूक्ष्मता के मापदण्ड पर स्कन्धो के इन छहो भेदो का सापेक्ष निरूपण करना चाहते थे। इस मापनी का वह छोर जो स्थूलता की ओर अग्रसर होता है, यदि अइथूलथूल पर समाप्त होता है तो दूसरा छोर, जो सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता है, स्वाभाविक रूप से अइसुहुम पर जाकर समाप्त होगा। स्कन्ध को किसी भी प्रकार से अइसुहुमसुहुम कहा ही नही जा सकता क्योंकि उसका सूक्ष्मतम रूप द्व्यणुकपर्यन्त होगा, जो अतिसूक्ष्म तो है किन्तु सूक्ष्म-तमनहीं। द्व्यणुक स्कन्ध के विभाजन से प्राप्त होने वाला परमाणु, जिसे अन्य सूक्ष्म (छोटे विभागो) मे विभाजित नही किया जा सकता है, वही सूक्ष्मतम (पुद्गल) कहलाने का अधिकारी है। मेरे विचार म इसी दृष्टि से स्कन्ध भेद निरूपण प्रसग मे कुन्दकुन्दाचार्य ने अइसुहुमसुहुम का प्रयोग नही किया है, जिससे स्कन्ध के भेदो के साथ-साथ ही स्वभाव पुद्गल तथा विभाव पुद्गल मे अन्तर को अपनी दृष्टि में रखा जा सके। स्थूल-सूक्ष्म की इस मापनी पर पुद्गल का सम्यक् निरूपण सम्भव है। अइथूलथूल से लेकर अइसुहुम तक विभाव पुद्गल जानना चाहिए तथा अइसुहुमसुहुम द्वारा स्वभाव पुदगल अर्थात् परमाणु का बोध होना चाहिए। इस कथन की पुष्टि कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा, पञ्चास्तिकाय मे पुदगल निरूपण से होती है, जहाँ पर वे स्पष्ट निर्देश करते हैं कि समस्त स्कन्धो का जो अन्तिम भेद है उसे परमाणु जानना चाहिए।[४७] नियमसार मे भी स्पष्ट निर्देश है।[४८] इस प्रसङ्ग मे इस प्रश्न को अवकाश नहीं है कि परमाणु से भी सूक्ष्म कुछ और विशेष होना चाहिए जो अन्त्य और नित्यद्रव्यवृत्ति हो[४६] क्योंकि परमाणु स्वय ही आदि, मध्य और अन्त रूप अविभागी अनिन्द्रियग्राह्य है—

> **अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं।**
> **अविभागी जं दव्वं परमाणू त वियाणाहि॥**
>
> —नियमसार गाथा २६

'अविभाज्य परमाणु'[५०], 'नाणो'[५१] मे भी परमाणु के अन्त्य होने का समर्थन किया है। स्कन्ध के छ भेदो का वर्णन करते हुए पञ्चास्तिकाय मे भी कुन्दकुन्दाचार्य ने यह निर्देश किया है कि बादर (स्थूल) और सूक्ष्म परिणमन को प्राप्त हुए स्कन्धो का 'पुद्गल' शब्द से व्यवहार होता है। वह स्कन्ध छ प्रकार का है, इन्ही स्कन्धो से तीन लोकों की रचना हुई।[५२] इन स्कधो के अन्तिम को परमाणु जानना चाहिए।[५३] यहाँ पर भी कुन्दकुन्दाचार्य का निर्देश द्रष्टव्य है कि पुद्गल की सूक्ष्मतम परिणति परमाणु ही है समस्त स्कन्धो का स्थान परमाणु की अपेक्षा स्थूलतर है। यदि परमाणु (सूक्ष्मतम पुद्गल) अतिसूक्ष्मसूक्ष्म है तो सूक्ष्मतम स्कध 'अइसुहुम' ही हो सकता है। पुद्गल का उपर्युक्त निरूपण पुद्गल की स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय को समझने के लिए कुञ्जी है तथा कुन्दकुन्दाचार्य की स्वात्मोपलब्ध दृष्टि का द्योतक है। निश्चयनय से परमाणु पुद्गल द्रव्य है और व्यवहार-नय से स्कन्ध पुद्गल हैं।

पोग्गलदव्वं उच्चई परमाणू णिच्छएण इदरेण ।
पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ।।

—नियमसार गाथा २९

पुद्गल द्रव्य का परमाणु रूप परिणमन अन्य परमाणु निरपेक्ष होने से स्वभाव पर्याय है तथा स्कधरूपपरिणमन अन्य परमाणु तथा अन्य स्कन्ध सापेक्ष होने से विभाव पर्याय है—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सा सहावपज्जाओ ।
खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ।।

—नियमसार गाथा २८

इस प्रसङ्ग मे ध्यातव्य है कि पुद्गल, पुद्गल के साथ सयुक्त होकर विभाव को प्राप्त करता है किन्तु जीव, जीव-भिन्न द्रव्य पुद्गल के साथ सयुक्त हुआ विभाव को प्राप्त करता है—

फासेहि पुग्गलाणं बधो जीवस्स रागमादीहि ।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ।।

—प्रवचनसार गाथा २/८५

कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव एव अजीव द्रव्यो का वर्णन इस अपेक्षा से किया है कि भव्य जीवात्मा का परिणमन परद्रव्य पुदगल मे नही माने। **सासारिक दृष्टि से जीव के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्यो मे से पुद्गल द्रव्य स्थूल होने के कारण दृष्टिगोचर होता है और ससारी जीव पुद्गल द्रव्य की उपस्थिति को ज्ञान की प्रच्छन्नावस्था मे भी प्रतिसमय अनुभव करते हैं।** ऐसा परद्रव्य जो आत्मा के सम्पर्क मे सर्वाधिक आता है, अवश्य ही छद्मस्थ जीवो को इस प्रकार भ्रमित करने मे सक्षम है कि वह उनसे अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध है, उनका ही एक अविभाज्य अश है। ससारी जीव इस प्रकार भ्रमित होकर ही विभिन्न गतियो मे भ्रमण करते हैं। इस आवागमन चक्र को पूर्णतया छिन्न-भिन्न करने हेतु ही कुन्दकुन्दाचार्य भव्य जीवो को स्पष्ट निर्देश करते हैं कि निजस्वरूप प्रतीत होने से समस्त पुद्गल परद्रव्य है, अचेचतन हैं तथा ज्ञानोपयोगमय जीवद्रव्य से सर्वथा भिन्न व हेय है। जब यह जडात्मक पुद्गल भी अपने ही चतुष्टय मे परिणमन करता है एव किंचित् मात्र भी जीव-द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे परिणमन नही करता तो फिर सर्वथा ज्ञान रहित पुद्गल द्रव्य की तुलना मे ज्ञान-युक्त एव चेतन जीव-द्रव्य को निज-परिणति पुदगलरूपी परद्रव्य म किस अपेक्षा से स्वीकार करनी चाहिए ? अर्थात् कदापि स्वीकार नही करनी चाहिए। कुन्दकुन्दाचार्य के इस मन्तव्य को टीकाकार पद्मप्रभमलधारि देव ने श्लोक के माध्यम से ससारी जीवो को हृदयगम कराने का सफल प्रयास करते हुए सिद्ध जीव का स्वरूप स्पष्ट कर दिया है।[२४]

धर्म-अधर्म द्रव्य

जो जीव और पुद्गलो के गमन का निमित्त है वह धर्म द्रव्य है। धर्म द्रव्य के गुण और पर्याय सदा स्वभावरूप रहते है उनमे विभावरूपता नहीं पाई जाती। बहुप्रदेशी होने

के कारण धर्म अस्तिकाय कहलाता है।

अधर्मास्तिकाय को जीव व पुद्गलो की स्थिति का निमित्त तथा स्वभाव-गुण पर्याययुक्त निरूपित किया गया है। नियमसार मे प्रसगवश ही धर्म तथा अधर्म द्रव्यो का सक्षिप्त वर्णन किया गया है।[५५] इनका विशद वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य के अन्य ग्रथो जैसे पचास्तिकायादि मे मिलता है।[५६]

आकाश द्रव्य

जो जीवादि समस्त द्रव्यो के अवगाहन का निमित्त है वह आकाश द्रव्य है। बहु-प्रदेशी होने के कारण यह भी अस्तिकाय है तथा गुण और पर्याय की दृष्टि से सदा स्वभाव रूप ही रहता है।[५७]

काल द्रव्य

एक आकाश प्रदेश मे जो परमाणु स्थित हो, उसे दूसरा परमाणु मन्दगति से लाघे उतना काल—'समय' रूप व्यवहार काल है।

ऐसे असख्य समयो का एक 'निमिष' होता है, आठ निमिष की एक 'काष्ठा' होती है, सोलह काष्ठा की एक 'कला', बत्तीस कला की एक 'घडी', साठ घडी का एक 'अहोरात्र' तीस अहोरात्र का एक 'मास', दो मास की 'ऋतु', तीन ऋतु का 'अयन' तथा दो अयन का 'वर्ष' होता है—ऐसा आवलि आदि व्यवहार काल का क्रम है। इस प्रकार व्यवहार काल, समय व आवलिभेद से दो प्रकार का है अथवा अतीत, अनागत व वर्तमान भेद से तीन प्रकार का है।[५८] पचास्तिकाय मे भी कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहार-काल का वर्णन इसी प्रकार किया है।[५९] यह व्यवहार-काल सूर्योदय-सूर्यास्त आदि पर-पदार्थों के निमित्त स अनुभव मे आता है अत पराधीन है। टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव व्यवहारकाल के मिथ्यात्व का निरूपण करके उसे हेय प्रमाणित करते है क्योकि निजात्म तत्त्व के अतिरिक्त वास्तविक फल की प्राप्ति कालादि द्रव्यो से नही होती।[६०]

अजीव-तत्त्व के अन्तर्गत उपर्युक्त द्रव्यो मे से पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं तथा शेष द्रव्य अमूर्त हैं।

नियम-निरूपण

जड एव चेतन द्रव्य की परिणति अपने-अपने चतुष्टय मे होती रहती है किन्तु मन की मिथ्या वृत्ति के कारण ही ससारी जीवो को जड-पदार्थ अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वपर-विवेक उत्पन्न करने हेतु ही जीव तथा अजीव द्रव्यो का विशद निरूपण प्रस्तुत किया है। इसे बोध-गम्य करने के पश्चात् ही समस्त परद्रव्यो से भिन्न निजद्रव्य के प्रति सम्यक् श्रद्धान तथा उसके सम्यक् स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही सम्यग्चारित्र की प्राप्ति सम्भव है तथा एक साथ इस रत्नत्रय की उपलब्धि हो जाने के पश्चात् ही जीव सिद्धा-वस्था प्राप्त कर सकता है।[६१] कुन्दकुन्दाचार्य ने रत्नत्रयरूपी नियम का इसी अपेक्षा से निरूपण किया है।

सम्यग्दर्शन

आप्त, आगम एव तत्त्वों मे सच्चा एव दृढ विश्वास ही व्यवहार सम्यग्दर्शन है, मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव मे ही सम्यग्दर्शन सम्भव है। अर्थ, पदार्थ व तत्त्वार्थ मे सम्यक श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, कुन्दकुन्दाचार्य ने 'विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है' ऐसा सम्यग्दर्शन का लक्षण किया है।[१२] चल, मलिन और अगाढत्व दोष मे रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।[१३] सम्यग्दर्शन व ज्ञान की उत्पत्ति के कारण का उल्लेख कुन्कुन्दाचार्य ने इस प्रकार किया है—सम्यक्त्व का बाह्य निमित्त दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय आदि है। केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल वीर्य स्वभाव ही आत्मा का निज-भाव है शेष पर-भाव है।[१४] सम्यग्दर्शन विरहित ज्ञान एव चारित्र मोक्ष मार्गफल हेतु साधन नही बनते हैं। रत्नत्रय युगपत् ही 'नियम' कहलाता है। उमास्वामि ने मोक्ष-मार्ग का निरूपण करते हुए सर्वप्रथम स्थान सम्यग्दर्शन को दिया है क्योकि सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान व चारित्र मे सम्यक्त्व असम्भव है।[१५]

सम्यग्ज्ञान

सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित अर्थ, पदार्थ और तत्त्वार्थ का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। हेयोपादेय तत्त्वो का ज्ञान होना ही सम्यग्ज्ञान है।[१६] इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञ आप्त मुखोद्गत वचन, सब पदार्थों को बतलाने मे समर्थ द्रव्य-श्रुतरूप ही तत्त्व-ज्ञान है क्योकि यह उपचार से पदार्थों के निर्णय का कारण है। आत्म-तत्त्व के ज्ञान रूप अतरग मे होने वाला परमबोध ही निश्चय-से सम्यक् ज्ञान है।

सम्यग्चारित्र

राग द्वेष तथा अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर समताभाव धारण करना ही सम्यक् चारित्र है। मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आवश्यक हैं ही, उनके साथ ही साथ सम्यक् चारित्र भी आवश्यक है। सम्यग्चारित्र हेतु सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान पूर्वावश्यकताएँ हैं, इसी दृष्टि से नियमसार के प्रथम तीन अधिकारो मे मूलत सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

नियमसार मे सम्यग्चारित्र का कथन भी व्यवहार और निश्चय दोनों अपेक्षाओ से किया गया है। नियमसार के चतुर्थ 'व्यवहारचारित्राधिकार' के अन्तर्गत व्यवहार चारित्र का वर्णन निश्चय की ओर अग्रसर कराने हेतु किया गया है। इसके पश्चात् निश्चयचारित्र का शेष अधिकारो मे विविध रूप से कथन है। इस प्रकार सम्यक् चारित्र का कथन व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो नयो की अपेक्षा से आवश्यक है। व्यवहार-नय से व्यवहार चारित्र और तप होता है, निश्चयनय से निश्चय चारित्र और तप होता है।[१७] जो परमयोगी मुनि, प्रथम ही पाप क्रियाओ से हटाने वाले, व्यवहारनय से जानने योग्य व्यवहार चारित्र मे स्थित होते हैं (अथवा व्यवहारचारित्र का आचरण करते हैं), उनके व्यवहारनय से जानने योग्य व्यवहार रूप तपश्चरण भी होता है, बाद मे निश्चय

रत्नत्रय की प्राप्ति के अवसर मे निश्चय तप होता है। निश्चय नय के आश्रित परमात्मा मे प्रतपन अथवा दृढ़ता से तन्मय हो जाना ही निश्चय तप है। इस तप के द्वारा ही स्व-आत्मा के स्वरूप मे निश्चल स्थिति रूप स्वाभाविक निश्चयचारित्र होता है। यही भाव एकत्वसप्तति ग्रन्थ मे निरूपित है—

> 'दर्शन निश्चय पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
> स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योग शिवाश्रय ॥'[६८]

अर्थात् अपने आत्म-स्वरूप मे निश्चय सम्यग्दर्शन है, अपने आत्म-स्वरूप का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा अपने स्वरूप मे स्थिति ही सम्यक्चारित्र है; यही तीनों की योग रूप अवस्था मोक्ष-पद का कारण है।

व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत कुन्दकुन्दाचार्य ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—पच महाव्रतो, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण व प्रतिष्ठापन—पच समितियो एव मनोगुप्ति, वचनगुप्ति व कायगुप्ति इन तीन गुप्तियो के अनुसार चारित्र-पालन का निर्देश किया है। व्यवहार चारित्र का यह निर्देश शुद्धोपयोग की ओर उन्मुख है एव निश्चय चारित्र का पूर्वसोपान है। मनोगुप्ति को मन की रागादि परिणमन अवस्था से निवृत्ति, वचनगुप्ति को असत्यादि से निवृत्ति अथवा मौन धारण करना, कायगुप्ति को शरीर सम्बन्धी हिंसादि पाप क्रियाओं का त्याग करना अथवा कायोत्सर्ग करना निर्दिष्ट किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य का यह निर्देश चारित्र के विशुद्ध रूप के अत्यन्त निकट है क्योकि समस्त रागादि परिणमन से निवृत्ति, मौन धारण एव समस्त शारीरिक क्रियाओ का परित्याग शुद्धोपयोग के अन्तर्गत आते है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य का व्यवहारनयकथन भी निश्चय की ओर ले जाने वाला है तथा अनेक स्थलो पर व्यवहार तथा निश्चय की इन परस्पर विरोधी धाराओ का सगम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसका प्रमाण नियमसार के व्यवहारचारित्राधिकार मे त्रिगुप्ति का उपर्युक्त निरूपण है।[६९]

पच परमेष्ठी का स्मरण तथा उनके स्वरूप का चिन्तन मुमुक्षुओ को आत्मा के क्रमिक उत्थान एव धर्म प्रभावना के स्वरूप का बोध कराता है। एव रूपेण पचपरमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन भी कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा व्यवहारचारित्र के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

चार घातिया कर्मरहित, केवलज्ञानादि परमगुणो से सहित तथा चौंतीस अतिशयो से अलकृत 'अरिहत' होते हैं, अष्टकर्मबन्ध नष्ट करने वाले, अष्टमहागुणसहित उत्कृष्ट, लोकाग्र भाग मे स्थित तथा नित्य 'सिद्ध' परमेष्ठी है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य इन पचाचारो से परिपूर्ण, इन्द्रियजित्, धीर एव गुणगम्भीर 'आचार्य' होते हैं, रत्नत्रयसयुक्त, जिनेन्द्रकथित पदार्थों के उपदेशक, परीषह सहने मे समर्थ, शूरवीर तथा निष्काङ्क्षभाव सहित 'उपाध्याय' होते हैं तथा व्यवहारशून्य, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की आराधना मे तत्पर परिग्रह रहित, निर्मोह साधु होते हैं।[७०] इन पचपरमेष्ठी के उक्त स्वरूप मे भावना करने से व्यवहार चारित्र होता है।

व्यवहार-चारित्र द्वारा एक सुदृढ़ आधार प्राप्त करने के उपरान्त निश्चय चारित्र पर आचरण करना सुगम हो जाता है—इसी अपेक्षा से कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारचारित्राधिकार के पश्चात् नियमसार मे निश्चयचारित्रबोधक अधिकारो का समावेश किया। मुमुक्षुओ की प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, निश्चय प्रायश्चित्त, समाधि, भक्ति आदि क्रियाएँ निश्चय चारित्र के ही विविध रूप हैं। ऐसे निश्चय चारित्र को धारण करने वाले श्रमण समस्त बाह्य प्रभावो से मुक्त होते हैं तथा अन्य (पर) के वश न होने की अपेक्षा से 'अवश' कहलाते हैं। ऐसे अवश भव्यजीवो के कर्मों की कुन्दकुन्दाचार्य ने 'आवश्यक' रूप नितान्त मौलिक निरुक्ति की है। इसी का विशद वर्णन निश्चय परमावश्यकाधिकार मे किया गया है। सम्यग्चारित्र की प्राप्ति शुद्धोपयोग द्वारा ही सम्भव है इसी दृष्टि से नियमसार मे शुद्धोपयोगाधिकार का समावेश अन्तिम अधिकार के रूप में किया गया है।

रत्नत्रय के सन्दर्भ में उपयोग समीक्षा

जीव का लक्षण चेतना है। चेतना की अभिव्यक्ति उपयोग है। उपयोग के दो भेद—(क) शुद्धोपयोग एव (ख) अशुद्धोपयोग हैं। शुद्धोपयोग द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है एवं अशुद्धोपयोग ससार मे भ्रमण का कारण है। अशुद्धोपयोग के दो भेद हैं—(क) शुभोपयोग एव (ख) अशुभोपयोग। शुभोपयोग द्वारा पुण्यफलदायक शुभ कर्मों का बन्ध होता है एव अशुभोपयोग द्वारा पाप रूप अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। रत्नत्रय के सन्दर्भ मे उपयोग के तीन मुख्य भेद किए जा सकते हैं—(क) दर्शनोपयोग (ख) ज्ञानोपयोग तथा (ग) चारित्रोपयोग।

दर्शनोपयोग से अभिप्राय ससारी जीव के मन, वचन व कर्म त्रिविध उपयोगो को सम्यग्दर्शन मे केन्द्रित करना है। **ज्ञानोपयोग** से प्रयोजन जीव के उपयोग को तीन प्रकार के मिथ्याज्ञान—(क) मति अज्ञान (ख) श्रुत अज्ञान (ग) विभग ज्ञान से विरत रखना है तथा यथार्थ ज्ञान के उत्तरोत्तर पाँच सोपानो—(क) मतिज्ञान (ख) श्रुतज्ञान (ग) अवधिज्ञान (घ) मन पर्ययज्ञान (ङ) केवलज्ञान से ससारी जीव के मन, वचन व काय के उपयोगो को सम्यग्ज्ञान मे केन्द्रित करना है। **चारित्रोपयोग** से तात्पर्य—ससारी जीव के मन, वचन व काय त्रिविध उपयोग को सम्यक्चारित्र मे केन्द्रित करना है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र मे अपने त्रिविध उपयोग को केन्द्रित करने वाला जीव ही शुद्धोपयोगी हो सकता है, अन्य नही। इस प्रकार जीव का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप परिणमन ही मोक्ष का मार्ग है।

भेद-विज्ञान-निरूपण

विशुद्ध आत्मतत्त्व को समझने के लिए स्वपरविवेक आवश्यक है तथा स्वपरविवेक की लब्धि सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान के अभाव मे सम्भव नही। स्व का वास्तविक स्वरूप जानने हेतु उसका पर से भेद स्पष्टत जानना आवश्यक है, यही भेद-विज्ञान है। इसी अपेक्षा से जीव तथा जीव से भिन्न अन्य समस्त पदार्थों अर्थात् अजीव का कथन

नियमसार के जीवाधिकार एव अजीवाधिकार मे किया गया है। सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञानहेतु शुद्धभाव अपेक्षित हैं अत शुद्धभावाधिकार मे सम्बद्ध विषय का निरूपण करने के साथ ही इस बात पर बल दिया गया है कि विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है तथा सम्यग्ज्ञान—सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान हैं।"[1]

बाह्यतत्त्व हेय हैं तथा कर्मरूप उपाधि से उत्पन्न होने वाले गुण व पर्यायो से रहित आत्मा ही आत्मा के लिए उपादेय है, यही भेद-विज्ञान का मूल मन्त्र है। निश्चय से जीव निर्विकल्पक है—उसके स्थितिबन्धस्थान, प्रकृतिबन्धस्थान, प्रदेशबन्धस्थान, अनुभागबन्धस्थान तथा उदयस्थान नहीं होते; निश्चय से जीव के क्षायिक भावक के स्थान, क्षायोपशमिकस्वभाव के स्थान, औदयिकभाव के स्थान तथा औपशमिक स्वभाव के स्थान नहीं हैं, जीव के चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं हैं, निश्चय दृष्टि से आत्मा निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल (अशरीरी), निरालम्ब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ, निर्भय, निर्ग्रन्थ, नि शल्य, निष्क्रोध, निष्काम, निर्मान, तथा निर्मद है, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुसकादि पर्याय, सस्थान और सहनन ये सभी जीव के नही हैं। यद्यपि ससारी जीव की वर्तमान पर्याय दूषित है, तथापि उसे द्रव्य की अपेक्षा सिद्ध भगवान् के समान कहा गया है।"[2] पूर्वोक्त स्थितिबन्धादि समस्त भाव परद्रव्य हैं तथा परस्वभाव हैं अत एव हेय हैं तथा आत्मा स्वभाव तथा स्वद्रव्य है अत उपादेय है, यह ज्ञान ही भेद-विज्ञान है।

परमार्थ प्रतिक्रमणाधिकार मे जीवद्रव्य को पर्याय, मार्गस्थान, गुणस्थान, जीवस्थान राग-द्वेष एव कषायो से भिन्न निरूपित किया है, साथ ही जीव द्वारा इन सबकी कृत, कारित व अनुमोदना का भी खण्डन किया गया है। इस सबका प्रयोजन स्वय कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्ट करते हुए कहा है—"इस प्रकार भेद ज्ञान का अभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ होता है और उस मध्यस्थभाव से चारित्र होता है, उसी चारित्र मे दृढता के लिए प्रतिक्रमण आदि को कहूँगा।"[3]

षडावश्यक-निरूपण

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि (सामायिक) तथा परमभक्ति (योग)—षडावश्यक निश्चय से कर्मविनाश मे योग्य, सम्यक्चारित्र रूप तथा मोक्ष के मार्ग हैं।

प्रतिक्रमण किसके होता है ? इस विषय मे कुन्दकुन्दाचार्य ने जिन लक्षणो का वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं—वचनो की रचना छोडकर तथा रागादि भावो का निवारण कर आत्मा का ध्यान करना, विराधना को छोडकर आराधना मे प्रवृत्त होना, अनाचार को छोडकर सदाचार मे स्थित होना, उन्मार्ग को छोडकर जिनमार्ग मे स्थित होना, शल्यभाव को त्यागकर नि शल्यभाव मे परिणमन करना; अगुप्तिभाव का त्याग कर तीन गुप्तियो से गुप्त अर्थात् सुरक्षित रहना; आर्त-रौद्र ध्यान का त्यागकर धर्म्य-शुक्ल ध्यान मे रहना, मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र का सम्पूर्णतया परित्याग

करके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र की भावना करना, आत्मा का ध्यान करना आदि। ध्यान मे विलीन साधु सर्वदोषो का परित्याग करता है अत निश्चय से ध्यान ही सर्व अतिचारो—समस्त दोषो का प्रतिक्रमण है।[७४]

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने भेद-विज्ञान के माध्यम से प्रत्याख्यान का सुन्दर निरूपण किया है। आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है? इसका निर्देश करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है—"ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख ही मेरे स्वभाव हैं, अन्य भाव विभाव है इस प्रकार ज्ञानी जीव ध्यान करते हैं।"[७५]

कुन्दकुन्दाचार्य ने भेद-विज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया है—"जो निजभाव को नही छोडता है, परभाव को कुछ भी ग्रहण नही करता, सबको जानता देखता मात्र है वह मैं हूँ। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धो से रहित जो आत्मा है वही मैं हूँ। मैं ममत्व का त्याग करता हूँ और निर्ममत्व मे स्थिर होता हूँ। मेरा आलम्बन आत्मा है और मैं शेष सबका परित्याग करता हूँ।"

गुण-गुणी मे अभेद की दृष्टि से ही आत्मा को ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र, प्रत्याख्यान, सवर तथा शुद्धोपयोग रूप कहा जाता है। जीव अकेला ही मरता है और अकेला ही स्वय जन्म लेता है। ज्ञान, दर्शन लक्षण वाला, शाश्वत एक आत्मा ही मेरा है सयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।[७६]

आत्मगत दोषो से छूटने हेतु जीव को अपने अन्यथा प्रवर्तन का मन, वचन व काय से परित्याग करना चाहिए तथा सामायिक, छेदोपस्थापना एव परिहार-विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार के चरित्र को निर्विकल्प होकर करना चाहिए। समस्त जीवो मे साम्यभाव रखना चाहिए। आशाओ के परित्याग द्वारा ही समाधि सम्भव है। जो जीव कषाय से रहित है इन्द्रियो का दमन करने वाला है, समस्त परीषहो को सहन करने मे शूरवीर है, उद्यमशील है तथा ससार चक्र के भय से त्रस्त है वही सुखमय निश्चय प्रत्याख्यान का अधिकारी है। निरन्तर जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करने वाला सयत साधु नियम है प्रत्याख्यान धारण करने को समर्थ है।[७७] नो कर्म और कर्म से रहित तथा विभाव गुण पर्यायो से भिन्न आत्मा का ध्यान करने वाला श्रमण ही आलोचना का अधिकारी है। कुन्दकुन्दाचार्य ने आलोचना के चार लक्षणो का उल्लेख किया है—(१) आलोचना (२) आलुंछन (३) अविकृतिकरण और (४) भावशुद्धि।

आलोचना के अन्तर्गत जीव अपने परिणाम को समभाव मे स्थित कर वीतराग स्वभाव का चिन्तन करता है, कर्मवृक्ष मूलोच्छेद करन से समर्थ, स्वाधीन समभाव रूप निज परिणाम आलुछन कहलाता है, मध्यस्थ भावना मे कर्म से भिन्न तथा निर्मल गुणो के निवासस्वरूप आत्मा की भावना करना अविकृतिकरण है, आलोचना करने से भावशुद्धि होती है, भव्य जीवो का मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भावशुद्धि है।[७८]

निश्चय प्रायश्चित्त का स्वरूप कुन्दकुन्दाचार्य ने इस प्रकार निरूपित किया है—"व्रत समितिशील और संयम रूप परिणाम तथा इन्द्रिय निग्रह रूप जो भाव हैं वह प्रायश्चित्त है। क्रोधादि स्वकीय विभाव भावों के क्षय उपशम आदि की भावना मे निमग्न

रहना तथा निजगुणो का चिन्तन करना निश्चय से प्रायश्चित्त कहलाता है।[७९]

कर्मबन्ध का प्रमुख कारण कषाय है क्योकि इन कषायो से विभाव परिणति होती है और विभाव परिणति ही कर्मबन्ध का कारण है। कुन्दकुन्दाचार्य इन कषायो पर विजय प्राप्त करने का उपाय बताते हुए क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को सन्तोष द्वारा विजित करने का निर्देश करते हैं।[८०] निश्चय प्रायश्चित्त का अधिकारी वही श्रमण हो सकता है जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान अथवा चिन्तन को निरन्तर धारण करता हो। महर्षियो का उत्कृष्ट तपश्चरण ही अनेक कर्मों को क्षय करने वाला प्रायश्चित्त कहलाता है क्योकि अनन्तानन्त भावो के द्वारा उपार्जित शुभाशुभ कर्मसमूह तपश्चरण द्वारा नष्ट हो जाते हैं।[८१] तपश्चरण की सार्थकता विभाव भावो के निराकरण तथा स्वभाव मे परिणमन पर ही आधारित है, इसी तथ्य को लक्ष्य मे रखते हुए कुन्दकुन्दाचार्य तपश्चरण की चरम परिणति आत्म ध्यान को मानते हैं। ध्यान समस्त विभाव भावो का निराकरण करने मे समर्थ है। शुभाशुभ वचनो तथा रागादि भावो का परित्याग कर जो आत्मा का ध्यान करता है वह नियमपूर्वक रत्नत्रय को प्राप्त करता है।

जो जीव शारीरिक परद्रव्य मे ममत्व त्यागकर निर्विकल्प रूप से आत्मा का चिन्तन करता है उसके कायोत्सर्ग होता है। ध्यान एव कायोत्सर्ग परमसमाधि मे सहायक हैं। वचनोच्चारण की क्रिया का त्याग कर वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करने वाले जीव को अर्थात् सयम, नियम और तप मे तथा धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान द्वारा आत्मा का ध्यान करने वाले जीव को परम समाधि होती है। परम समाधि की सार्थकता समता को धारण करने मे ही है। समताभाव से रहित वनवास, कायक्लेश, उपवास, अध्ययन और मौनादि निरर्थक ही है।

कुन्दकुन्दाचाय स्थायी सामायिक व्रतधारी मुमुक्षुओ के लक्षण निरूपित करते हुए कहते है –"जो समस्त सावद्य – पाप सहित कर्मो से विरत है, तीन गुप्तियो का धारक है, इन्द्रियजित् है, स्थावर अथवा त्रस सब जीवो से समभाव रखता है, सयम—नियम तथा तप मे सन्निहित है, राग-द्वेष जिसमे विकार उत्पन्न नही कर सकते, आर्त-रौद्र ध्यान से रहित है, पाप-पुण्य का त्यागी है, हास्य, रति, शोक, अरति, जुगुप्सा, भय व वेदत्रय का जिसने परित्याग कर दिया है, तथा जो निरन्तर धर्म्य एव शुक्ल ध्यान धारण करता है—उसके ही स्थायी सामायिक होता है।"[८२]

भेद-विज्ञानी साधक के ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, निश्चय प्राय-श्चित्त, समाधि, सामायिक, भक्ति योग आदि होते हैं। निश्चय चारित्र के अन्तर्गत भक्ति एव योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नियमसार के परमभक्त्यधिकार मे व्यवहार एव निश्चयनय दोनो की अपेक्षा से भक्ति तथा योग का वर्णन किया है। रत्नत्रय मे भक्ति रखने वाले श्रावक अथवा मुनि को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषो की गुणभेद को जानकर, उनमे भक्ति रखना व्यवहारनय की अपेक्षा से मोक्ष का मार्ग कहा गया है मोक्षमार्ग मे निज को स्थापित कर पर की अपेक्षा से पूर्णतया रहित अर्थात् स्वापेक्ष गुणो से युक्त निजात्मा की प्राप्ति की जा सकती है।

श्रम के लिऐ योग का स्वरूप बताते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने योगभक्ति के अन्तर्गत आत्मा द्वारा रागादिक के परित्याग एव समस्त विकल्पो के अभाव को उपादेय बताया है एक पारिभाषिक गाथा द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य योग को निम्न प्रकारेण परिभाषित करते हैं—"विपरीत अभिप्राय का परित्याग कर जो जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्त्वो मे स्वय को लगाता है उसका वह निजभाव ही योग है।"[८३]

स्पष्ट है कि भेद-विज्ञान ही साधक को निश्चय चारित्र के पद पर आसीन करके मुक्ति दिलाता है। निश्चयचारित्र का मार्ग कठोर आत्मसाधना का मार्ग है तथा समस्त विभाव परिणमन पर नियन्त्रण रखने मे सचेष्ट श्रेष्ठ श्रमण ही इस मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

आत्मा के शुभाशुभ परिणाम कर्मबन्धन के कारण हैं और बन्धन पराधीनता का द्योतक हैं अत ऐसा पराधीन श्रमण अन्य कर्मों के वशीभूत जाना जाता है। इसके विपरीत समता-भावधारी तथा शुद्धोपयोग मे रत श्रमण अन्य वशीभूत नही हैं तथा वे 'अवश' कहलाते हैं उनके कर्म इसी अपेक्षा से आवश्यक जाने जाते हैं।[८४] षडावश्यक ही निश्चयनय से चारित्र है।

अन्यवश तथा आत्मवश के बीच अन्तर का निर्देश इस प्रकार किया है—जो श्रमण द्रव्य-गुण और पर्यायो मे आसक्त हैं अर्थात् उनके विकल्प मे पड़े हुए हैं वे अन्यवश हैं तथा जो परपदार्थ का परित्यागकर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा का ध्यान करता है वही आत्मवश है। आवश्यक मे रहित साधक चरित्र से भ्रष्ट है तथा बहिरात्मा जाने जाते हैं। आवश्यक कर्म से युक्त श्रमण अन्तरात्मा कहलाते हैं। जो साधु अन्त एव बाह्य जल्प मे प्रवृत्त है वह बहिरात्मा है तथा जो किसी भी प्रकार के जल्पो मे प्रवृत्त नही है वह अन्तरात्मा कहलाता है। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान मे परिणत साधु अन्तरात्मा है तथा ध्यानहीन साधु बहिरात्मा। जो साधु प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त परमसमाधि तथा परमभक्ति इन आवश्यक क्रियाओ को करता रहता है वही निश्चयचारित्रधारी है तथा उस निश्चय चारित्र द्वारा ही श्रमण वीतराग चरित्र मे स्थित होता है। समर्थ श्रमणो को ध्यान मे प्रतिक्रमणादि करना चाहिए तथा शक्ति से रहित श्रमणो को श्रद्धान ही करना चाहिए। समस्त पुराण पुरुष इस प्रकार आवश्यक कर्म करके अप्रमत्तादि गुण स्थानो को प्राप्त हुए हैं और तदनन्तर केवली हुए हैं।

केवली-स्वरूप-निरूपण

नियमसार के अन्तिम शुद्धोपयोगाधिकार मे निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा से केवलज्ञान-केवलदर्शन, प्रत्यक्षज्ञान-परोक्षज्ञान तथा केवलज्ञानी के लक्षणो का वर्णन करते हुए मोक्ष की स्थिति का निरूपण किया है। छद्मस्थ जीवो का पहले दर्शन होता है उसके पश्चात् ज्ञान परन्तु केवली भगवान् के दर्शन और ज्ञान युगपत् होते हैं।

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है इसलिए दर्शन परप्रकाशक है। केवली का ज्ञान निर्मल एव समस्त आवरणों से पूर्णतया रहित है, विशुद्ध है, त्रिलोक तथा त्रिकाल मे स्थित समस्त पर्याये उसमे प्रकाशित होती हैं—व्यवहारनय की इस अपेक्षा से ही केवल

ज्ञान परप्रकाशक है। भेद-विज्ञान द्वारा आत्मद्रव्य एवं परद्रव्य मे स्पष्ट भेद के ज्ञाता केवल ज्ञानी को आत्मद्रव्य से भिन्न 'समस्त द्रव्य पर द्रव्य हैं' इस तथ्य का श्रद्धान होता है, इसी कारण से केवल ज्ञानी का दर्शन व्यवहारनय की अपेक्षा से ही परप्रकाशक है। विशुद्ध आत्मा के सम्यग्ज्ञान का अनुभव करने वाले केवलज्ञानी को स्वानुभव ही उपादेय है उसके ज्ञान की निर्मलता के कारण यदि उसके ज्ञान मे परपदार्थ प्रतिबिम्बित भी होते हैं तो इसकी केवलज्ञानी को अपेक्षा नही है। वह तो स्वभाव मे ही लीन है और निश्चय नय की अपेक्षा से केवल स्व का ज्ञाता है, पर का ज्ञाता नही, अत निश्चयनय की दृष्टि से केवलज्ञान स्वप्रकाशक है। भेद-विज्ञान द्वारा स्व-पर का विवेक प्राप्त होने के कारण केवलज्ञानी निज आत्म द्रव्य से भिन्न अन्य समस्त द्रव्यो को पूर्वापर ही स्व से भिन्न तथा हेय मानता है किन्तु निजद्रव्य की अपेक्षा से वह स्व के प्रति ही श्रद्धान रखता है, पर के प्रति नही। इस दृष्टि से उसका दर्शन स्वप्रकाशक है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने परस्पर विरोधी इन दोनो दृष्टिकोणो अर्थात् व्यवहार और निश्चय का समन्वय प्रस्तुत करते हुए ज्ञान तथा दर्शन दोनो को स्वपरप्रकाशक कहा है।[८५]

केवलज्ञानी का ज्ञान अत्यन्त विलक्षण है तथा आत्मा द्वारा निरपेक्ष ही जाना जाने के कारण प्रत्यक्ष है, उसके लिए आत्मा को किसी बाह्य इन्द्रिय मन आदि माध्यम की अपेक्षा नही है। जो ज्ञान पुद्गल द्रव्य निर्मित इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होता है उसका अनुभव आत्मा को सीधे ही नही होता अत ऐसा ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। समस्त घातियाँ कर्मों का क्षय करने वाले केवलज्ञानी को ऐसे हेय परोक्षज्ञान से क्या प्रयोजन ? वह तो निर्बाध रूप से विशुद्ध आत्म-ज्ञान मे ही तल्लीन रहता है। अघातियो कर्मों के कारण उसके वाणी जैसे व्यापार भी किसी इच्छा द्वारा उद्भूत नही होते अत वे केवल-ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारण नही। कमबन्ध का मूल कारण तो इच्छा (मूर्च्छा) है जिसका केवलज्ञानी मे पूर्ण अभाव रहता है। समवशरण मे अरिहन्त भगवान् द्वारा धर्म की प्रभावना स्वत ही होती है किसी इच्छा की अपेक्षा से नही। केवली भगवान् तो शुद्धोप-योग से किंचित् मात्र भी विचलित नही होते उनम शुभोपयोग की कल्पना करना मात्र भी मिथ्यात्व है। आत्मा के परम शत्रु चार घातियाँ कर्मों पर विजय प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी तो केवल चार अघातियाँ कर्मों के क्षय हो जाने तक ही मनुष्य पर्याय के धारक होते हैं। आयु के क्षय से उनकी शेष समस्त प्रवृत्तियो का क्षय हो जाता है। तत्पश्चात् वे समय[८६] मात्र मे लोकाग्र भाग मे स्थित सिद्धशिला पर विराजमान हो जाते हैं। उनका ऊर्ध्वगमन लोकाग्रपर्यन्त धर्मास्तिकाय की उपस्थिति की अपेक्षा से ही है क्योकि अलो-काकाश मे धर्मास्तिकाय का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार केवल ज्ञानी निर्वाण प्राप्त करता है।

निर्वाण-स्वरूप

कुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्टत नियमसार के शुद्धोपयोगाधिकार मे इस बात का निर्देश किया है कि निर्वाण कहाँ होता है ?—"जहाँ न दुःख है, न सांसारिक सुख है, न

पीड़ा है, न बन्धन है, न बाधा है, न जन्म है, न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निन्द्रा है, न तृष्णा है, न क्षुधा है, न कर्म है, न नो कर्म हैं, न चिन्ता है, न आर्त-रौद्र ध्यान है और न धर्म्य-शुक्ल ध्यान है—वही निर्वाण होता है।"[८७]

ऐसी स्थितियो वाले निर्वाण को प्राप्त करने वाले सिद्ध भगवान् केवल ज्ञान, केवल सुख, केवल वीर्य और केवल के धारी है एव अमूर्तिक हैं।

निर्वाण ही सिद्ध हैं और सिद्ध ही निर्वाण है[८८] इस कथन से कुन्दकुन्दाचार्य स्पष्ट करना चाहते हैं कि व्यवहार से कर्मविमुक्त सिद्धात्मा लोकाग्रपर्यन्त सिद्ध क्षेत्र मे स्थित हैं तथा निश्चय से सिद्ध भगवान् स्वरूप मे ही विराजते हैं। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार नय की अपेक्षा कथन करके निर्वाण और सिद्धो का एकत्व प्रतिपादित किया है।

नियमसार मे रत्नत्रय के सन्दर्भ मे व्यवहारनय तथा निश्चयनय का समन्वय-निश्चयोन्मुखी व्यवहारनय

नियमसार मे सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान के वर्णन के साथ ही सम्यग्चारित्र का विशद वर्णन किया गया है। वस्तुत सम्यक्चारित्र के अभाव मे रत्नत्रय के मार्ग का मार्ग-फल प्राप्त होना असम्भव है। यदि सम्यग्दर्शन मार्ग के प्रति श्रद्धान का परिचायक है और सम्यग्ज्ञान मार्ग के समुचित ज्ञान का परिचायक है, तो सम्यक्चारित्र उस मार्ग पर गमन के अभाव मे गन्तव्य की प्राप्ति असम्भव है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान विद्यमान होने पर भी सम्यग्चारित्र के अभाव मे रत्नत्रयरूपी मार्ग के मार्गफल की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष या निर्वाण असम्भव है।

व्यवहार सम्यक् चारित्र मोक्ष-मार्ग का प्रथम सोपान है और निश्चय-सम्यक्-चारित्र अन्तिम। अन्तर्वर्ती सोपान व्यवहार से उत्तरोत्तर निश्चय की ओर उन्मुख होने वाले है। अन्तिम सोपान तक पहुँचने हेतु प्रथम सोपान पर पहुँचकर उसे पार करना पूर्वावश्यकता है, इसी प्रकार व्यवहार चारित्र द्वारा ही निश्चय चारित्र तक पहुँचा जा सकता है। अन्तिम सोपान पर पहुँचते ही जिस प्रकार प्रथम तथा अन्तवर्ती सोपान लक्ष्य प्राप्ति की दृष्टि से महत्त्वहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार निश्चयसम्यक्चारित्र प्राप्ति करते ही व्यावहार सम्यक् चारित्र लक्ष्य की दृष्टि से स्वत ही हेय हो जाता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय तथा निश्चयनय की परस्पर विरोधी दृष्टियो में भी समन्वय उपस्थित किया है तथा व्यवहारनय की उपादेयता को उस सीमा तक प्रति-पादित किया है, जिस सीमा पर वह मुमुक्षुओ को निश्चय तक पहुँचा दे। व्यवहारनय से कथन करते समय भी एक समय मात्र के लिए भी निश्चयात्मक दृष्टिकोण कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि से ओझल नही हुआ। व्यवहारनय को ही उपादेय न मान लिया जाए इस बात की ओर कुन्दकुन्दाचार्य ने पूरा ध्यान दिया है। सम्यग्दर्शन के स्वरूप का व्यवहारनय की अपेक्षा से कथन करते समय भी कुन्दकुन्दाचार्य आप्त के ऐसे स्वरूप की ओर इंगित करते हैं जो वस्तुत निश्चय के अनुरूप ही है।[८९]

दर्शन और ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से इन दोनो के ही दो-दो भेद वर्णित किये गए हैं। स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से के

भेद व्यवहारनय की दृष्टि से ही है, निश्चयनय मे तो विभाव परिणति का कोई स्थान ही नही। इसी प्रकार व्यवहारनय की अपेक्षा मे ही आत्मा की विभाव पर्याय और स्वभाव-पर्यायरूप द्विविध भेद का विवरण किया गया है, निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा की केवल एक ही पर्याय है और वह है—कर्मरूप उपाधि से रहित पर्याय।[६०]

आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सन्दर्भ मे भी कुन्दकुन्दाचार्य ने एक ही गाथा मे व्यवहार और निश्चय दोनो नयो की अपेक्षा मे कथन किया है।[६१]

जीवाधिकार का समापन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य स्याद्वाद की शैली द्वारा जीव का स्वरूप पुन स्पष्ट करते है—द्रव्यार्थिक नय मे जीव की भिन्नता तथा पर्यायार्थिकनय से जीव की अभिन्नता का वर्णन किया गया है।[६२] व्यवहारनय से आत्मा सवज्ञ है तथा निश्चयनय से आत्मा आत्मज्ञ है।[६३] उपर्युक्त वर्णन के सम्यक अध्ययन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने विरोध का परिहार करते हुए व्यवहारनय व निश्चयनय का यथार्थ समन्वय प्रस्तुत किया है और इसमे भी विशेषता यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य का व्यवहार निरूपण निश्चय की ओर उन्मुख कराने वाला है।

नियमसार मे कुन्दकुन्दाचाय द्वारा प्रतिपादित मौलिक दृष्टि

(१) आत्मत्रय-निरूपण

रत्नत्रय रूप नियम से निर्वाण प्राप्ति के लिए शुद्धोपयोग ही उपादेय है। आत्मा द्वारा निज आत्मा मे रमण करते रहना अथवा निजात्मस्वरूपोपलब्धि ही शुद्धोपयोग है। निजात्मा के स्वरूप का स्पष्टत ज्ञान हो सके इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य ने परमात्मा, अन्तरात्मा एव बहिरात्मा इस प्रकार के भेद-निरूपण द्वारा आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

अन्तरात्मा द्वारा परमात्मा उपादेय है तथा बहिरात्मा हेय है यही भेद दृष्टि इस आत्म-निरूपण मे मुख्य है। ज्ञानावरणादिघातिया कर्मों (आत्मस्वभाव की हानि करने वाले कर्म घातिया कर्म कहलाते हैं) का नाश करने से समस्त दोषो से रहित जो केवल ज्ञानादि वैभव मे युक्त हैं, वे परमात्मा है।[६४] परमात्मा मे ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणकर्म क्षय से अनतदर्शन, अन्तराय कर्म के क्षय से अनत वीर्य तथा मोहनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख इन गुणो का आविर्भाव होता है। पच-परमेष्ठी मे अरिहन्त एव सिद्ध परमात्मा हैं।[६५] केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् शेष चार अघातिया कर्मों का भी नाश हो जाने से वे अरिहन्त ही अष्टमहागुणसयुक्त हो, लोकाग्रभाग मे स्थित, नित्य, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं। यह सिद्ध स्वरूप ही उपादेय है।

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि (सामायिक), परम भक्ति (योग) रूप षडावश्यक कर्मों मे तत्पर श्रमण ही अन्तरात्मा है, जो श्रमण अन्त· एव बाह्य वचनादि जल्पों मे प्रवृत्त नही है वह अन्तरात्मा कहलाता है, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मे परिणत साधु अन्तरात्मा है।[६६] ऐसा अन्तरात्मा ही निश्चयचारित्रधारी है तथा उस निश्चयचारित्र द्वारा ही श्रमण वीतराग चारित्र रूप परमात्मभाव मे स्थित होता है। पच-परमेष्ठी में आचार्य, उपाध्याय और साधु अन्तरात्मा है[६७] जो कि अपने

आवश्यक कर्मों मे सलग्न रहते हुए, भेद विज्ञान हो जाने से अविलम्ब ही परमात्मपद को प्राप्त करते है।

प्रतिक्रमणादि आवश्यक कर्म न करने वाले मुनि चारित्र-भ्रष्ट हैं तथा बहिरात्मा जाने जाते हैं, बहिरात्मा मुनि मिथ्या दृष्टि है, जो साधु अन्त एव बाह्य जल्प मे प्रवृत्ति करता है, किन्तु निजात्मस्वरूप का चिन्तन नही करता वह बहिरात्मा है, धर्म्य आदि ध्यान न करने वाला साधु बहिरात्मा कहलाता है।[९८] इस प्रकार बाह्य विकल्पो को आत्मा समझकर उनमे रमण करने वाला, भेद-विज्ञान शून्य, मिथ्यात्व सयुक्त बहिरात्मा निश्चय ही हेय है—यह प्रतिपादन करने हेतु ही कुन्दकुन्दाचार्य ने परमात्मा एव अतरात्मा के निरूपण के साथ-साथ बहिरात्मा के स्वरूप को भी प्रदर्शित किया है।

कुन्दकुन्दाचाय द्वारा मोक्ष प्राभृत म भी आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा रूप से भेदत्रय तथा उनका स्वरूप निरूपण किया गया है।[९९]

निष्कर्षत बहिरात्मा को हेय जानते हुए अन्तरात्मा रूप साधन से परमात्मा रूप साध्य की प्राप्ति ही आत्मत्रय निरूपण का प्रयोजन है।

(२) 'नियम' सज्ञा

मोक्ष के मार्ग सम्यग्दशन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय को 'नियम' सज्ञा कुन्दकुन्दाचार्य की मौलिक देन है। 'णियमेण य ज कज्ज तण्णियम'[१००] इस प्रकार से नियम पद की निरुक्ति निश्चय ही सार्थक है क्योकि मुमुक्षु साधक के लिए तो नियम से किया जाने योग्य रत्नत्रय ही है, रत्नत्रय ही निर्वाण रूप लक्ष्य पर पहुँचाने का उपाय है।

नियमसार मे प्रयुक्त 'सार' पद की स्थिति का कारण भी प्रस्तुत किया गया है कि विपरीत-परिहार के लिए अर्थात् नियम रूप रत्नत्रय से विपरीत मिथ्यादशनादि के परिहारार्थ ही नियम के साथ 'सार' पद का प्रयोग किया है।

(३) जीव की विभाव पर्याय

कुन्दकुन्दाचार्य ने नर, नारक, तिर्यंच तथा सुर ये चार जीव की विभाव पर्याय कही हैं।[१०१] जीव की विभाव पर्याय का यह क्रम विशेष अपेक्षा मे रखा गया प्रतीत होता है। मेरी दृष्टि मे इस क्रम का प्रयोजन इस प्रकार है कि—मोक्ष प्राप्ति ही जीव का चरम लक्ष्य है, और मोक्ष-प्राप्ति मनुष्य पर्याय से ही सम्भव है अतएव सर्वप्रथम नर पर्याय का कथन किया, मोक्ष मे सहायक सम्यक्त्व की उत्पत्ति नारक जीवो मे सम्भव है अतएव नर पर्याय के उपरान्त नारक का कथन, शीत उष्ण आदि द्वन्द्वो को शान्त भाव से सहन करने रूप तप किंवा समभाव पशु पक्षियो मे सम्भव है अत एव जीव की तीसरी विभाव पर्याय तिर्यंच कही, देवताओ मे सयम अथवा तप किंचित् भी सम्भव नहीं और सयम के अभाव मे मोक्ष प्राप्ति असम्भव है, इसी अपेक्षा से जीव की सुर विभाव पर्याय का उल्लेख सबसे अन्त मे किया गया है।

(४) पुद्गल स्वरूप निरूपण[१०२]

आत्मादि, आत्ममध्य तथा आत्म-अन्त स्वरूप वाला, अविभागी तथा इन्द्रियो के

प्रत्यक्ष अयोग्य द्रव्य परमाणु द्रव्य है। परमाणु का यह स्वरूप कथन कुन्दकुन्दाचार्य के पुद्गलस्वरूप विषयक मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करता है।

पुद्गल के दो तथा छ भेदो के निरूपण मे कुन्दकुन्दाचार्य ने पुद्गल को स्वभाव तथा विभाव पर्याय को निरन्तर दृष्टि मे रखने की ओर सकेत किया है। पुद्गल की स्वभाव पर्याय का निरूपण सूक्ष्मता से करने मे जीव की स्वभाव पर्याय से उसे पृथक् व हेय समझना चाहिए, यही दृष्टि रही है। सूक्ष्मतम स्कन्ध के लिए 'अइसुहुम' पद का प्रयोग भी पुद्गल की परमाणु रूप स्वभावपर्याय के सूक्ष्मतम स्वरूप का सकेत करता है।

(५) नियमसार मे[१०३]—व्यवहार नय से आत्मा को सर्वज्ञ तथा निश्चय नय से आत्मज्ञ निरूपित करके कुन्दकुन्दाचार्य ने अध्यात्मक्षेत्र मे नय दृष्टि से आत्म-निरूपण विषयक अपना मौलिक विचार प्रस्तुत किया है।

(६) केवली मे ज्ञान और दर्शन की युगपत् उत्पत्ति का समर्थन सर्वप्रथम कुन्द-कुन्दाचार्य के नियमसार मे मिलता है।[१०४] इस उल्लेख से ही यह ध्वनित होता है कि छद्मस्थ जीव के दर्शन तथा ज्ञान क्रम मे होते है।

(७) कुन्दकुन्दाचार्य विरचित नियमसार मे षडावश्यक का जिस विस्तार एव सूक्ष्मता मे निरूपण है वैसा उनकी अन्य रचनाओ मे उपलब्ध नही होता। निश्चय-चारित्र रूप षडावश्यक मुमुक्षु श्रमण के लिए अपरिहार्य साधन है क्योकि रत्नत्रय युगपत् ही मोक्षमार्ग है, सम्यक्चारित्रविहीन सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्दर्शन से मोक्ष प्राप्ति सम्भव नही, सम्यग्चारित्रयुक्त श्रमण ही निज आत्मा मे परिणमन करता हुआ अजीवादि आत्म-भिन्न पदार्थों के वशीभूत नही होता, इसी भाव से श्रमण के प्रतिक्रमणादि षट् कर्मों को 'आवश्यक' रूप सज्ञा प्रदान कर उसका नितान्त मौलिक निर्वचन प्रस्तुत किया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य स्वय लिखते है—"जो परद्रव्य रूप अन्य के वश मे नही होता उसके कार्य को आवश्यक कहते है।" आवश्यक की निरुक्ति प्रस्तुत करते हैं कि जो अन्य के वश नही वह अवश —'ण वसो अवसो', 'अवसस्स कम्म आवस्सैयति'—अवश का कर्म आवश्यक है। 'जुत्तित्ति उपायति' युक्ति का अर्थ उपाय है अत अवश का मोक्ष उपाय ही आवश्यक है। आवश्यक के दो अर्थ इस प्रकार समझे जा सकते हैं—

(क) 'अवश' आत्माएँ वे हैं जो मोक्ष के सन्निकट हैं, उनके द्वारा किए जाने वाले कार्य आवश्यक हैं।

(ख) ऐसे कार्य, जिन्हे करने से आत्मा का 'अवश' रहना सम्भव हो, वे आवश्यक हैं। इसी अपेक्षा से षडावश्यक निरूपण किया गया।[१०५]

(८) 'णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुदिट्ठा'[१०६] के द्वारा व्यवहार निश्चयनय का आश्रय लेकर निर्वाण और सिद्ध का एकत्वप्रतिपादन कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक मौलिकता लिए हुए है।

नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक दृष्टि के मूल बिन्दु

निष्कर्ष

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य के दार्शनिक दृष्टिकोण को

निष्कर्षत निम्नलिखित मूल बिन्दुओ के अन्तर्गत निरूपित किया जा सकता है—

(क) कुन्दकुन्दाचार्य का नियमसार से प्रयोजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र मे है।[१०७]

आप्त आगम और तत्वो के श्रद्धान मे सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन होता है।

ज्ञान तथा दर्शन की अपेक्षा से उपयोग के दो भेद ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग होते हैं। ज्ञानोपयोग के स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से दो भेद होते हैं। केवलज्ञान स्वभाव ज्ञानोपयोग है, उससे भिन्न ज्ञानोपयोग विभावज्ञानोपयोग है। विभावज्ञानोपयोग के सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के रूप मे दो भेद हैं। दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते हैं। पर्याय के 'पर की अपेक्षा से रहित' एव 'पर की अपेक्षा से सहित' दो भेद होते है।

(ख) कुन्दकुन्दाचार्य ने दो नयो का निर्देश किया है। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है तथा पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।[१०८]

व्यवहारनय से आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता और भोक्ता है तथा अशुद्ध निश्चय-नय से कर्मजनित रागादिभावो का कर्त्ता है।

पुद्गल के स्वभाव और विभाव रूप से दो भेद हैं। परमाणुरूप पुद्गल स्वभाव पुद्गल है तथा स्कन्ध रूप पुद्गल विभावपुद्गल हैं। परमाणु पुद्गल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप है शेष समस्त स्कन्ध रूप पुद्गल परमाणु से स्थूलतर है। पुद्गल के स्वरूप का कथन इस दृष्टि से किया गया है कि मुमुक्षु जीव पुद्गल को निजात्मद्रव्य से भिन्न परपदार्थ जान सके।

धर्म-अधर्म आकाश और काल इन चार द्रव्यो का परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य मे शुद्ध और अशुद्ध दोनो प्रकार का परिणमन पाया जाता है।

जीवादि बाह्य तत्त्व ज्ञेय हैं, स्वकीय शुद्धात्मा उपादेय है तथा आत्मा का विभाव परिणमन हेय है।

जैनागम तथा उसके ज्ञाता सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त हैं और दर्शनमोह का क्षय अन्तरग निमित्त के होने से कार्य नियम से होता है परन्तु बहिरग निमित्त के होने पर कार्य उत्पत्ति हो ही, ऐसा नियम नही है।

व्यवहारनय की अपेक्षा से प्रतिक्रमण का अर्थ है—पूर्वापर किए गए दोषो के लिए पश्चात्ताप, आलोचना से प्रयोजन है—वर्तमान मे विद्यमान दोषो का निराकरण, तथा प्रत्याख्यान का अर्थ है भविष्य के लिए सभी दोषो का परित्याग। इन सबकी सार्थ-कता तभी सम्भव है जबकि निश्चयनय सम्बन्धी प्रतिक्रमण आलोचना व प्रात्याख्यान प्राप्त हो जावें।

व्रत, समिति, गुप्ति रूप आचरण व्यवहार चारित्र है तथा रागादिभावो को छोडकर आत्मा का ध्यान निश्चयप्रतिक्रमण, रत्नत्रय मे स्थित आत्मा ही स्वभाव है, अन्य ममत्वादि परभाव हैं ऐसा भेद-विज्ञानपूर्वक इन्द्रियदमनादि रूप निश्चय प्रत्याख्यान

तथा आलोचन, आलुछन, अविकृतिकरण तथा भावशुद्धि रूप निश्चय आलोचना करने वाले के निश्चय चारित्र होता है।

आत्मीय स्वाभाविक गुणों के द्वारा विकारी भावो पर विजय प्राप्त करना निश्चय प्रायश्चित्त है, आत्मध्यान के द्वारा आत्मा के परिणामो का स्वरूप मे सुस्थिर होना परमसमाधि है, परम समाधि ही स्थायी सामायिक है, रत्नत्रय की उपासना निर्वृतिभक्ति है तथा रागादि विकारी भावो पर विजय योगभक्ति है। प्रतिक्रमणादि षट् कर्म आवश्यक कहे जाते हैं।

जो अन्य के वश नही है वह 'अवश' है ऐसा स्वाधीन रहने वाला श्रमण ही मोक्ष का पात्र होता है। अवश का कार्य आवश्यक है। समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग ये छ आवश्यक कहलाते हैं। इनका सम्यक् रूप से पालन करने वाला मुनि ही यथार्थ श्रमण होता है।

केवलज्ञानी के दर्शन और ज्ञान युगपत् होते हैं तथा छद्मस्थ के क्रमशः होते हैं। केवलज्ञानी व्यवहारनय की अपेक्षा से समस्त पदार्थों का ज्ञाता एव द्रष्टा है किन्तु निश्चय-नय से केवल आत्मद्रव्य का ही ज्ञाता एव द्रष्टा।

सन्दर्भ

१ नियमसार के उपलब्ध सस्करण

(क) नियमसार, पद्मप्रभमलधारिदेव की सस्कृत टीका सहित तथा शीतलप्रसाद कृत हिन्दी व्याख्या सहित, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१६, (पादटिप्पण मे नियमसार, सम्बन्धित पृष्ठ सख्या इसी सस्करण की अंकित है)

(ख) नियमसार, अग्रेजी अनुवाद आदि सहित उग्गरसेन द्वारा सम्पादित, एस० बी० जे० वॉल्यूम ९, लखनऊ, १९३१

(ग) नियमसार, हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद के हिन्दी रूपातरण कर्त्ता मगनलाल जैन द्वारा सम्पादित, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, वीर स० २४९२

२ 'वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसज्ञिकाम्'—नियमसार, पृ० १ टीकाकार मगलाचरण

३. 'नियमसाराभिधान परमागम वक्ष्यामीति शिष्टेष्टदेवतास्तवनानन्तर सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिज्ञातम्' —नियमसार, पृ० ३

४. 'Padmaprabha Maldhari' by Desai, P B, The Indian Historical Quarterly, vol XXVIII, No 1, march 1952, p 182

५. 'PadmaPrabha and his commentary on Niyamasāra' by Upādhye, A N, Journal of University of Bombay, Vol XI, Sep. 1942, part 2, p 100 etc

६ (क) 'एव पणमिय सिद्धे · · ' प्रवचनसार (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन०, श्रीमद्-राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९६४, पृ० २४६,

(ख) 'अभिवदिऊण सिरसा· · ··' पञ्चास्तिकाय (सम्पादक) मनोहरलाल, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९०४, पृ० १६६,

(ग) समयसार (सम्पा०) मनोहरलाल, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९१९ मे आस्रव, कर्म, निर्जरा, बध, मोक्षादि विषयो का निर्देश क्रमश गाथा स० ६९, १४५, १९३, २४१ तथा २८८ से २९२ तक पृष्ठ सख्या—क्रमश ११५, २१३, २७३, ३३२ तथा ३८३ से ३८७ पर किया गया है।

७ (क) नियमसार गाथा १०२, पृ० ८४ भावपाहुड की गाथा ५९, पृ० १६५ से तुलनीय तथा नियमसार गाथा ४६ पृ० ४१ भावपाहुड की गाथा ६४, पृ० ४१ भावपाहुड की गाथा ६४, पृ० १६७ से तुलनीय,

(ख) 'मूलाचार की कुन्दकुन्द के अन्य ग्रन्थो के साथ समता'—प० हीरालाल शास्त्री, अनेकान्त वर्ष १२ किरन १२, मई १९५४, पृ० ३६२ आदि।

८ (क) जैन, हीरालाल, भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९६२, पृ० ९८

(ख) प्रवचनसार, पृ० ४० (प्रस्तावना)

९ नियमसार, गाथा ३, पृ० ४

१० वही, गाथा २, पृ० ३

११ 'सम्मत्त सण्णाण विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरण।
ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरण पवक्खामि ॥'
—वही, गाथा ५४, पृ० ४५

१२ वही, गाथा १२०, पृ० १०३

१३ 'णियभावणाणिमित्त मए कद णियमसारणामसुदु' —वही, गाथा १८६, पृ० १५८

१४. वही, गाथा ३८-४२, पृ० ३२-३६

१५ वही, गाथा ४३-४६, पृ० ३८-४१

१६ वही, गाथा ५०, पृ० ४४

१७ वही, गाथा १३९, पृ० ११८

१८ 'णियम णियमस्स फल णिद्दिट्ठ पवयणस्सभत्तीए' —वही, गाथा १८४, पृ० १५७

१९ (क) एको मे सासदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥ —वही, गाथा १०२, पृ० ८४

(ख) एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥
—भावपाहुड, गाथा ५९ अष्टपाहुड, पृ० १६५

२०. भावपाहुड, गाथा ६०, अष्टपाहुड, पृ० १६५

२१. (क) अरसमरूवगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द।
जाण मलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥ —नियमसार, गाथा ४६, पृ० ४१

(ख) अरसमरूवमगंध अव्वत्त चेयणागुणमसद्द।
आणमलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ।।

भावपाहुड गाथा, ६४, अष्टपाहुड पृ० १६७

२२. नियमसार, गाथा ५४, पृ० ४५

२३ 'जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयास।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं सजुत्ता ।।'
—कुन्दकुन्दाचार्य, नियमसार (सम्पादक) शीतलप्रसाद, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाबा, बम्बई १६१६, गाथा ६, पृ० ६

२४ पञ्चास्तिकाय, गाथा १०

२५ कुन्दकुन्दाचार्य—नियमसार, गाथा १०, पृ० १०

२६ 'णाणुवओगो दुविहो सहावणाण विहावणाण त्ति ।।' —वही

२७ 'केवल इदियरहिय असहाय त सहावमिदि भणिद ।। —नियमसार गाथा ११

२८ नियमसार गाथा १२

२९ 'एदेसिं वित्थार लोयविभागेसु णादव्वम्' —वही, गाथा १७, पृ० ६

३० 'लोयविभागेसु' पद किसी विशेष ग्रन्थ से सम्बद्ध नही है ऐसा उल्लेख अन्यत्र भी सुलभ है—

(क) प्रवचनसार (स्व) उपाध्ये, ए० एन० श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १६६४, प्रस्तावना, पृ० ४०

(ख) मुख्तार, जुगलकिशोर—अनेकान्त, वर्ष २, किरन १, पृ० ११

३१ सिंहसूरर्षि लोकविभाग (सम्पादक) बालचन्द्रशास्त्री, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, १६६२, प्रस्तावना, पृ० २८ से भी इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है।

३२ 'पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिद पडिक्कमण ·· '
—नियमसार, गाथा ९४, पृ० ७६

३३. वही, गाथा १८, १९, पृ० १७, १९

३४ (क) गलनादणुरित्युक्त पूरणात्स्कन्धनामभाक्।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ।।
—नियमसार (पद्मप्रभ विरचित तात्पर्य टीका सहित), (स्व०) शीतलप्रसाद जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, १६१६, गाथा टीका २०, पृ० २०,

(ख) 'गलनपूरणस्वभावसनाथ पुद्गल' —नियमसार, गाथा टीका ९, पृ० ९

३५ (क) 'पूरणगलनान्वर्थसज्ञत्वात् पुद्गला' आ० अकलक देव—तत्त्वार्थ राजवार्तिकालकार, भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशनी सस्था, कलकत्ता अ० ५ सूत्र १, वार्तिक २४, पृ० १७

(ख) वर्णगन्धरसस्पर्शे पूरण गलन चयत्।
कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गला परमाणव ।।
—आचार्य जिनसेन, हरिवशपुराण, सर्ग ७, श्लोक ३६

(ग) 'पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला' भणी, सिद्धसेन —तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, जीवनचन्द सकेरचन्द जवेरी, बम्बई १९३०

३६ उवभोज्जमिदियेहिं य इंदिय काया मणो य कम्माणि ।
ज हवदि मुत्तमण्ण त सव्व पुग्गल जाणे ।।
—पञ्चास्तिकाय, गाथा ८२, पृ० १३९

३७ (क) पञ्चास्तिकाय, गाथा ७८, ८१, ९१, क्रमश पृ० २३२, १३८, १५५
(ख) 'रूपिण पुद्गला' —तत्त्वार्थसूत्र V/५
(ग) रूप मूर्ति रूपादिसस्थानपरिणामो मूर्ति ।।
रूपमेषामस्ति इति रूपिण ।
—पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि, कल्लापा भरमप्पानिटवे, कोल्हापुर, शक सवत् १८३९, अ० ५, सूत्र ५, पृ० १५५

३८ नियमसार, गाथा २८, पृ० २४

३९ (अ) 'अणव स्कन्धाश्च' —तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र २५
(ब) 'एगत्तण पुहुत्तेण खधा य परमाणु य' —उत्तराध्ययन, सूत्र ३६

४० (क) 'अत्तादि अत्तमज्झ अत्तत नेव इंदिए गेज्झ ।
अविभागी ज दव्व परमाणू त वियाणाहि ।।'
—नियमसार, गाथा २६, पृ० २३
(ख) 'नाणो' —तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ११
(ग) 'अविभाज्य परमाणु' —जैनसिद्धान्त दीपिका, प्रकाश १, सूत्र १४

४१ तत्त्वार्थसूत्र, ५।२७

४२ अइथूलथूल थूल, थूलसुहुम च सुहुमथूल च ।
सुहुम अइसुहुम इदि, धरादिय होदि छब्भेय ।।
—नियमसार, गाथा २१, पृ० २१

४३ अमृतचन्द्राचार्य पञ्चास्तिकाय गाथा १/७६—के 'बादरसुहुमगदाण खधाण' अश की टीका—बादरबादरा, बादरा, बादरसूक्ष्मा, सूक्ष्मबादरा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मसूक्ष्मा करते हैं।

४४. जयसेन पञ्चास्तिकाय गाथा १/७६ के 'बादरसुहुमगदाण खधाण' अश की टीका—स्थूलस्थूला, स्थूला, स्थूलसूक्ष्मा, सूक्ष्मस्थूला, सूक्ष्मा, सूक्ष्मसूक्ष्मा करते हैं। (*नोट :—अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेन के समक्ष कुन्दकुन्दाचार्य कृत नियमसार न होने से वे कुन्दकुन्दाचार्य की नियमसार मे वर्णित ईप्सित दृष्टि नही समझ सके।*)

४५ स्थूलस्थूलास्तत स्थूला स्थूलसूक्ष्मास्तत परे ।
सूक्ष्मस्थूलास्तत सूक्ष्मा सूक्ष्मसूक्ष्मास्तत परे ।।
—नियमसार, गाथा टीका २४, पृ० २२ पर टीकाकार पद्मप्रभ द्वारा उद्धृत ।

४६. (क) 'भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खधा'
—नियमसार, गाथा २२, पृ० २१

(ख) 'तव्विवरीया खधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि' —वही, गाथा २४, पृ० २१

४७ 'सव्वेसिं खधाण जो अतो त वियाण परमाणू'

—पञ्चास्तिकाय, (सम्पादक) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १६०४, गाथा १।७७, पृ० १३१

४८ अण्ण निरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ।
खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ॥ —नियमसार, गाथा २८

४६. 'अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिविशेष परिकीर्तित'

—विश्वनाथ न्यायसिद्धान्त मुक्तावली कारिका १०

५०. जैन सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश १ सूत्र १४

५१ तत्त्वार्थसूत्र ५/११

५२ वादरसुहुमगदाण खधाण पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्क जेहिं णिप्पण्ण॥

—पञ्चास्तिकाय, गाथा १।७६, पृ० १२६

५३ पञ्चास्तिकाय, गाथा १।७७

५४ 'अप्यात्मनि स्थिति बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मन।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठति स्वस्वरूपे चिदात्मनि॥

—नियमसार, गा० टीका २६, पृ० २३

५५ वही, गा० ३० तथा ३३, पृ० २६ तथा २६

५६ पञ्चास्तिकाय, गा० ८३-८६, पृ० १४०-१४८

५७ नियमसार, गा० ३०, ३३ तथा ३४, पृ० २६, २६

५८. वही, गा० ३१, पृ० २७

५६ पञ्चास्तिकाय, गा० २५, पृ० ५२

६०. नियमसार, गा० टीका ३१, पृ० २८

६१. [अ] (क) पञ्चास्तिकाय, गा० २।१०६, पृ० १६८,
(ख) वही, गा० ३।१६०, पृ० २३०,
(ग) कुन्दकुन्दाचार्य—प्रवचनसार, (सम्पा०) डॉ० ए० एन० उपाध्ये, गा० ३।३७, पृ० २६८,
(घ) प्रवचनसार, गा० ३।४२, पृ० ३०५

[ब] 'अत्तागमतच्चाण सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त' —नियमसार, गा० ५, पृ० ५

६२. 'विवरीयाभिणिवेस—विवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त' —वही, गा० ५१, पृ० ४५

६३. 'चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त' —वही, गा० ५२, पृ० ४५

६४. नियमसार, गा० ६६, पृ० ७८

६५. 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' —तत्त्वार्थ सूत्र, १।२

६६ 'संसयविमोहविब्भमविवज्जिय होदि सण्णाण।' —नियमसार, गा० ५१, पृ० ४५
'अधिगमभावे णाण हेयोपादेयतच्चाण।' —वही

६७. नियमसार, गा० ५५, पृ० ४५
६८ वही, गा० टीका ५५, पृ० ४७ पर टीकाकार पद्मप्रभ द्वारा उद्धृत
६९ वही, गा० ६८-७०, पृ० ५६-५७
७०. वही
७१ वही, गा० ५१, पृ० ४५
७२. वही, गा० ३९-४६, पृ० ३२-४३
७३. एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्त ।
त दिढकरणणिमित्त पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥
—नियमसार, गा० ८२, पृ० ६६
७४. वही, गा० ८३-९४, पृ० ६७-७६
७५ वही, गा० ९६, पृ० ७८
७६ वही, गा० ९७-१०२, पृ० ७९-८४
७७. वही, गा० १०५-६, पृ० ८६-८७
७८ वही, गा० ११२, पृ० ९५
७९. वही, गा० ११३-१४, पृ० ९८
८० कोहृ खमया माण समद्दवेणज्जवेण माय च ।
संतोसेण य लोहृ जयदि खु ए चहुविह कसाए ॥
—नियमसार, गा० ११५, पृ० ९८
८१ वही, गा० ११७, पृ० १००
८२ वही, गा० १२५-३३, पृ० १०८-१३
८३ 'जो जुजदि अप्पाण णियभावे सो हवे जोगो' —वही, गा० १३९, पृ० ११८
८४ 'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयति बोधव्वा ।'
—वही, गा० १४२, पृ० १२१
८५ अप्पाण विणु णाण णाण विणु अप्पगो ण सन्देहो ।
तम्हा सपरपयास णाण तह दसण होदि ॥
—वही, गा० १७०, शुद्धोपयोगाधिकार, पृ० १४७
८६ 'एकस्मिन्नम' —वही, पृ० २७, गा० टीका ३१
८७ वही, गा० १७६-८०, पृ० १५१-५४
८८ 'णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुदिट्ठा ।' —वही, गा० १८२, पृ० १५६
८९. वही, गा० ५, पृ० ५
९०. वही, गा० १५, पृ० १५
९१ वही, गा० १८, पृ० १७
९२. वही, गा० १९, पृ० १९
९३. वही, गा० १५८, पृ० १३६
९४. वही, गा० ७, पृ० ७

९५ वही, गा० ७१-७२, पृ० ५८-५९
९६ वही, गा० १४९-५१, पृ० १२८-१२९
९७. वही, गा० ७३-७५, पृ० ६०-६१
९८. वही, गा० १४९-५१, पृ० १२८-२९
९९. मोक्षपाहुड, गा० ४-७, अष्टपाहुड, पृ० २३५-३७
१००. नियमसार, गा० ३, पृ० ४
१०१. वही, गा० १५, पृ० १५
१०२ वही, गा० २६, पृ० २३
१०३. वही, गा० १५८, पृ० १३६
१०४. 'जो ण हवदि अण्णवसो तस्स कम्म भणति आवास'
—नियमसार, गा० १५९, पृ० १३७
१०५ 'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयति बोधव्वा।'
—वही, गा० १४१-४२, पृ० १२०-२१
१०६. नियमसार, गाथा १८२, पृ० १५६
१०७ 'नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु वर्तते, नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रय-स्वरूपमुक्तम्' —नियमसार गा० टीका १, पृ० २
१०८. पद्मप्रभ तात्पर्यवृत्ति, गा० टीका १९, पृ० १९

षष्ठ अध्याय

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे आत्म-निरूपण

(क) जीव की सिद्धि
(ख) निश्चयनय और व्यवहारनय से आत्मा का स्वरूप
(ग) जीव का विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण
(घ) कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियाँ आत्म-निरूपण प्रधान
(ङ) कुन्दकुन्दाचार्य—प्रतिपादित आत्म-निरूपण मे निश्चय दृष्टि
(च) आत्मा की सर्वज्ञता

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों में आत्म-निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य की गणना उन शीर्षस्थ जैनाचार्यों में की जाती है जिन्होने आत्मा को केन्द्र-बिन्दु मानकर अपनी समस्त कृतियों का सृजन किया। कुन्दकुन्दाचार्य ने विभिन्न दृष्टिकोणो से आत्मा के स्वरूप पर विचार किया और उन्ही के अनुरूप आत्मा के स्वरूप का निरूपण भी किया। एक ओर कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ मे ससारी आत्मा के स्वरूप का वर्णन मिलता है, दूसरी ओर शुद्ध आत्मा के स्वरूप का वर्णन मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अनादिकाल से कर्मों से सयुक्त आत्मा को ससारी आत्मा की सज्ञा प्रदान की और मोक्ष का मार्ग प्रदर्शित किया जिसके द्वारा ससारी आत्मा समस्त कर्म-फल से रहित हो शुद्धात्मा की निर्मल स्थिति को प्राप्त कर सकता है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा वर्णित आत्मशुद्धि की इस प्रक्रिया को एक सरल लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—दीर्घकाल से मल से सयुक्त होने के कारण कृष्ण वर्ण को प्राप्त हुआ श्वेत वस्त्र जिस प्रकार बार-बार धोया जाने पर अपने पूर्वकालीन स्वच्छस्वरूप को प्राप्त होता है उसी प्रकार अनादिकाल से कर्मों से सयुक्त हुआ ससारी आत्मा अनेकानेक भवो में कर्मरूपी मल को आत्मा से दूर करने के प्रयत्न करता हुआ अन्तत शुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। जिस प्रकार मलिन वस्त्र मे स्वच्छता बाहर से आरोपित नही की गई अपितु मल रहित हो जाने पर स्वत ही व्यक्त हो गई उसी प्रकार अनन्तानन्त गुणो मे सयुक्त आत्मा की शुद्धावस्था किसी बाह्य साधन द्वारा आत्मा पर आरोपित नही की गई अपितु समस्त कर्मों की निर्जरा होने पर स्वत. ही प्रकट हुई।

कुन्दकुन्दाचार्य ससारी आत्माओ का वर्गीकरण मोक्ष प्राप्ति की सम्भावना की दृष्टि से दो वर्गों मे करते हैं—भव्य आत्मा एव अभव्य आत्मा।[1] भव्य आत्माएँ वे हैं जिनमे ये क्षमता है कि वे समस्त कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त कर सके।[2] इसके विपरीत अभव्य आत्माएँ वे हैं जो किसी भी देशकाल मे सिद्धावस्था को प्राप्त नही कर सकें। अभव्य जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रणीत व्रत, समिति, गुप्ति, शील तथा तप को करता हुआ भी अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही रहता है। मोक्ष तत्त्व पर श्रद्धान न रखने वाला अभव्य जो अध्ययन करता है उससे उसे कुछ भी गुण लाभ नही होता क्योंकि उसके ज्ञान का आधारभूत सम्यक्श्रद्धान नही है। अभव्य जीव शुभोपयोग रूप ऐसे धर्म का ही श्रद्धान कर सकता है जो कि सासारिक भोगो का कारण है, वह कर्मक्षय के कारणभूत शुद्धोपयोग रूप धर्म मे श्रद्धान नहीं करता यही कारण है कि उसका ससार मे आवागमन चक्र बना ही रहता है।[3] अभव्य जीव जिन तथा उससे सम्बन्धित उपदेशों का

श्रवण करके भी मिथ्यात्व प्रधान अपने स्वभाव को नही त्यागता है और उसका यह व्यवहार ठीक वैसा ही है जैसा कि गुड मिश्रित दूध का सेवन करने वाले सर्प का विष रहित नही होना है।[४] अभव्य आत्मा के व्यवहार से पूर्णत विपरीत भव्य आत्मा भली भाँति जिन भावना से युक्त होकर दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को क्षीण करता है। इन चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा के स्वाभाविक गुण अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त सुख प्रकट होते हैं और यह आत्मा लोकालोक को प्रकाशित करने लगती है। कर्मों से विमुक्त होने पर यह आत्मा स्पष्ट ही परमात्मा हो जाता है और ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु चतुर्मुख तथा बुद्ध आदि संज्ञाओ से सम्बोधित किया जाता है। केवल ज्ञान से युक्त होने के कारण आत्मा ज्ञानी कहलाता है, शुद्धात्मा का स्वरूप कल्याणरूप है अत उसे शिव कहते हैं, शुद्धात्मा परम-पद को प्राप्त होने के कारण परमेष्ठी कहलाता है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है अत उसे सर्वज्ञ कहते हैं, अनन्त ज्ञान के माध्यम से वह समस्त लोकालोक मे व्याप्त है। इस विशेषता के कारण उसे विष्णु कहते हैं, चारो ओर स्थित समस्त पदार्थों का द्रष्टा होने के कारण वह चतुर्मुख कहलाता है तथा लोकालोक त्रिकाल मे स्थित पदार्थों का ज्ञाता होने के कारण बुद्ध कहलाता है।[५]

भव्य-अभव्य रूप से जीव का यह द्विविध विभाजन कुछ ही जीवों को मोक्ष प्राप्ति के योग्य सिद्ध करता हैं, सभी को नही।[६] इस प्रतिपादन से ससार कभी जीवो से शून्य नहीं होगा ऐसा सकेत प्राप्त होता है।

सामान्यत जीव का लक्षण उसके द्वारा सम्पन्न विभिन्न क्रियाएँ तथा उनके कारणभूत प्राण हैं। व्यवहार नय से जीव इन्द्रिय-प्राण, बल-प्राण, आयु-प्राण और श्वा-सोच्छ्वास-प्राण द्वारा अपनी समस्त क्रियाओ को सम्पन्न करता है परन्तु निश्चय से आत्मा या जीवद्रव्य का लक्षण चेतना व उपयोग है। उपर्युक्त चारों प्राण व्यवहार की अपेक्षा से ही जीव के बताए गए हैं क्योंकि निश्चय से शुद्धावस्था मे जीव इन प्राणो द्वारा जीवित नहीं रहता किन्तु फिर भी उसमे जीवद्रव्य का असद्भाव नही रहता।[७] जीव शब्द की निर्युक्ति कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत की गई है—जो बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास इन चार प्राणो से वर्तमान मे जीवित है, भविष्य मे जीवित होगा, और पहले जीवित था वह जीव है।[८] इस लक्षण से स्पष्ट है कि जीव अथवा आत्मा आत्मद्रव्य अनादि तथा अन्त रहित हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पहले जीवित था' ऐसा कथन मुक्तावस्था को दृष्टि मे रखते हुए किया है। मुक्तावस्था से पूर्व जीव इन चारो प्राणो द्वारा जीवित था इस दृष्टि से उसे जीव कहा जाता है, मुक्तावस्था मे जीव के आयु आदि नही होते।

कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे जीव तथा आत्मा पदों (terms) का प्रयोग प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। विभिन्न स्थलों पर जीव तथा आत्मा के लक्षण, स्वरूप एवं भेदो पर प्रकाश डाला गया है—इस विवेचन के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि जीव तथा आत्मा पर्यायवाची व्यजक हैं और इनके द्वारा एक ही द्रव्य की अभिव्यंजना की गई है। पर्यायवाची होने पर भी इन पदों का प्रयोग कुछ स्थलो पर निश्चित सन्दर्भों

मे रूढ़ हो गया प्रतीत होता है, जैसे—जीवो के इन्द्रियो की सख्या के आधार पर भेद करते समय कुन्दकुन्दाचार्य समस्त ग्रन्थो मे एकेन्द्रिय-जीव, द्वीन्द्रिय-जीव, त्रीन्द्रिय-जीव, चतुरिन्द्रिय-जीव, पचेन्द्रिय-जीव जैसे पदो का उल्लेख करते हैं। एक भी स्थल पर एकेन्द्रिय-आत्मा, द्वीन्द्रिय-आत्मा, त्रीन्द्रिय-आत्मा आदि रूप से कथन नही मिलता है। इसी प्रकार जैनागम मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि अपना उपयोग आत्मा मे केन्द्रित करो किन्तु ऐसा निर्देश कही नही मिलता कि उपयोग जीव मे केन्द्रित करो।[६] इसी प्रकार आत्मसाधना और आत्मचिन्तन के तुल्य जीवसाधना और जीव-चिन्तन जैसे व्यजक का प्रयोग भी दृष्टिगोचर नही होता।

कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा को लक्ष्य (साध्य) के रूप मे प्रस्तुत किया है तथा मुमुक्षु जीव की समस्त शुभ और शुद्ध चेष्टाएँ इस लक्ष्य की प्राप्ति मे साधनभूत हैं। जीव को बार-बार सम्बोधा जाता है कि अपना उपयोग आत्मा म केन्द्रित करो, परसमय का त्यागकर स्वसमय का चिन्तन करो। निश्चयनय से आत्मा और जीव मे कोई अन्तर नही है किन्तु व्यवहार से ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा उस सर्वोच्च स्थिति का परिचायक है, जिस तक पहुँचना जीव को अभीष्ट है।

जीव की सिद्धि

आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे कुन्दकुन्दाचार्य का मत है कि वह स्वत सिद्ध है। अपने अस्तित्व का ज्ञान प्रत्येक जीव को सदैव रहता है।

'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो ते पाणा पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥'[१०]

जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणो से जीता है, जीएगा, जीता था वह जीवद्रव्य है और चारो प्राण पुद्गलद्रव्य से निर्मित हैं।

पूज्यपाद ने स्वार्थसिद्धि मे आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है।[११] जिस प्रकार यन्त्रप्रतिमा की चेष्टाएँ अपने प्रयोक्ता के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं तथैव प्राण आदि रूप कार्य भी क्रियावान् आत्मा के साधक हैं।

जीव सबको जानता हैं, देखता है, सुख को चाहता है, दु ख से डरता है, शुभाचार अथवा अशुभाचार को करता है और उन शुभ-अशुभ क्रियाओ के फल को भोगता है।[१२] इस प्रकार जीव स्वत सिद्ध है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रकारान्तर से आत्मा को अह प्रतीति द्वारा ग्राह्य कहा है—"जो चैतन्य आत्मा है, निश्चय से वह 'अह' मैं हूँ इस प्रकार प्रज्ञा द्वारा ग्रहण करने योग्य है और अवशेष समस्त भाव मुझसे परे हैं ऐसा जानना चाहिए।"[१३] जीव चेतनामय तथा उपयोगमय है।[१४] आत्मा का चेतना रूप परिणमन तीन प्रकार का है। जीव शुद्ध दशा मे हो अथवा अशुद्ध दशा मे, प्रत्येक दशा मे उसका चेतना रूप परिणमन होता है। चेतना के तीन भेद निम्नोक्त हैं—

(१) ज्ञान चेतना (२) कर्म चेतना (३) कर्मफल चेतना[१५]

पदार्थ का स्वपरभेद लिये हुए जीवाजीवादि पदार्थों का तत्तदाकार से जानना ज्ञान है और आत्मा का जो ज्ञान भाव रूप परिणाम है उसे **ज्ञानचेतना** कहते हैं। जीव के द्वारा समारब्धभाव कर्म कहलाते हैं। और जीव पुद्गल कर्म के निमित्त से प्रत्येक समय जो शुभ अशुभ आदि अनेक भेदो वाले भावकर्म रूप परिणमन करता है उसे **कर्मचेतना** कहते हैं। सुख अथवा दु ख कर्म का फल है, इस प्रकार अपने कर्मबन्ध के अनुरूप जो सुख दु खादि फलो का अनुभव है उसे **कर्मफलचेतना** कहते हैं।[१६] कर्मफल चेतना को एक स्थूल उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है--यदि हमारा हाथ किसी उष्ण वस्तु के सम्पर्क मे आता है तो तत्काल हाथ को हटाने की क्रिया होती है। वस्तुत हाथ को हटाना उष्ण वस्तु को स्पर्श करने के कर्म के फल का परिचायक है। स्पष्टत यह जीव तथा अजीव मे भेद करने के लिये पर्याप्त है क्योकि चेतना से रहित कोई भी द्रव्य कर्मफलचेतना से युक्त जीव द्रव्य के समान प्रतिक्रिया नही दर्शाता है। इस प्रकार कर्मफलचेतना बाह्य रूप से भी आत्मा के अस्तित्व की परिचायक है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ बहिरात्मा के रूप मे आत्मा की उपस्थिति की परिचायक हैं उसी प्रकार कर्मफलचेतना द्वारा भी आत्मा की उपस्थिति का बोध होता है।

कर्म दो प्रकार का हो सकता है—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म की अनुपस्थिति मे यह सकल्प उत्पन्न होना ही सम्भव नही है कि शरीर और इन्द्रियो से भिन्न मन के द्वारा देखने और जानने वाला यह 'मैं आत्मा हू'। यह सकल्प भावरूप होने के कारण इन्द्रियो की तुलना मे सूक्ष्म और अन्तरग है तथा इस भाव रूप आत्मा का अनुभव करते समय आत्मा तथा शरीर मे भेद स्थापित हो जाता है। भाव कर्मरूप चेतना स्वसवेदनगोचर सकल्परूपी अन्तरात्मा के बहुत निकट प्रतीत होती है, इस स्वसवेदनगोचर सकल्प से भी आत्मा की सत्ता का बोध होता है।

अपनी शुद्धावस्था मे आत्मा द्रव्य कर्मों और भाव कर्मों से पूर्णत रहित है और केवल ज्ञान रूप से परिणमन करने के कारण ही उसे परमात्मा कहा जाता है। इस दृष्टि से ज्ञानचेतना रूप से परिणमन करने वाले जीव को परमात्मा कहा जा सकता है।[१७]

चेतना लक्षण के साथ आत्मा को उपयोगमय कहा गया है। आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।[१८] तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप जानने के लिये जीव का जो भाव प्रवृत्त होता है उसे उपयोग कहते हैं। उपयोग परिणमन (१) ज्ञान (२) दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है।[१९] सामान्य चेतना के परिणाम को दर्शनोपयोग कहते हैं। आत्मा का यह उपयोग स्वय मे शुद्ध होता है परन्तु मोह का उदय उसे मलिन करता है। जिस उपयोग के साथ मोह का उदय मिश्रित रहता है वह अशुद्धोपयोग कहलाता है और जो उपयोग मोह के उदय से अमिश्रित रहता है वह शुद्धोपयोग कहलाता है। मोह का उदय असख्य प्रकार का होता है किन्तु सक्षेप मे उसके (१) शुभ और (२) अशुभ दो भेद माने जाते हैं। शुद्धोपयोग कर्मबध का कारण नही है किन्तु शुभ-अशुभ भेद से विभाजित अशुद्धोपयोग कर्मबन्ध का कारण माना गया है। इस प्रकार आत्मा के परद्रव्य के साथ होने वाले सयोग मे अशुद्धोपयोग ही कारण हैं।

जो जीव कर्मबन्धन से युक्त है तथा शरीरधारी है वह **संसारी जीव** कहलाता है,

इसके विपरीत जो जीव कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त है तथा जिसने अपनी सहज शुद्धता प्राप्त कर ली है वह ससार चक्र से मुक्त सिद्ध-जीव है। जीव का इन दो वर्गों मे विभाजन जैन दर्शन मे केन्द्रिय स्थान रखता है। इस मुख्य विभाजन के अन्तर्गत ही जीव को अन्य वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ससारी जीव चार वर्गों या गतियो मे विभक्त हैं—

(१) देव गति
(२) मनुष्य गति
(३) तिर्यंच गति और
(४) नरक गति

देवगति के जीव ऊर्ध्वलोक अथवा देवलोक मे निवास करते हैं, मनुष्य तथा तिर्यंच गति के जीव मध्यमलोक में निवास करते हैं और नरक गति के जीव नरक अथवा अधोलोक मे निवास करते हैं। इन चारो गतियो के जीव ससारचक्र मे भ्रमण करते हैं। प्रत्येक संसारी जीव एक स्थूल शरीर को धारण करता है और उस शरीर मे रहते हुए पर्याय दृष्टि से क्रमश वृद्धावस्था प्राप्त कर मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्यु के समय जीव एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करता है, जिसका निर्धारण जीव द्वारा किए गये कर्मों के आधार पर होता है। ससारी जीव का भावी गति का बन्ध वर्तमान पर्याय को छोडने से पूर्व ही हो जाता है। वर्तमान पर्याय की आयु का क्षय होने पर ससारी जीव तेजस और कार्माण शरीरो सहित अन्तर्मुहूर्त मात्र मे दूसरी पयाय अथवा दूसरी गति मे गमन करता है। इस प्रकार एक ही जीव अनेकानेक पर्यायो को त्यागता तथा ग्रहण करता है, पर्यायो के इम उत्पाद व्यय के साथ ही जीव द्रव्य का ध्रौव्य बना रहता है।

आत्मा का ससारभ्रमण अनादिकाल से चला आ रहा है, जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार जीव को अनादि अनन्त माना गया है। जीव को अनादि न मानकर किसी कारण से उत्पन्न मानने पर अनवस्था दोष होगा तथा अनन्त न मानने पर द्रव्य का ध्रौव्य नष्ट हो जाएगा।

ससारी और मुक्त जीव मे द्रव्य की दृष्टि से कोई अन्तर नही है किन्तु पर्याय दृष्टि से प्रथम अशुद्ध पर्यायधारी है तथा द्वितीय शुद्ध पर्यायधारी। अद्वैतवेदान्तियो के अनुसार जीव और ब्रह्म मे अल्पज्ञत्व और सर्वज्ञत्व की अपेक्षा से ही भेद है पारमार्थिक दृष्टि से दोनो एक हैं—'जीवो ब्रह्मैव नापर'।[२०]

प्रत्येक जीव के विकास क्रम मे अपने स्तर के अनुरूप स्वय अपना ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता होता है। विकास के स्तर के अनुरूप ज्ञान अधिक अथवा कम व्यक्त हो सकता है। एकेन्द्रिय कृमि मे चेतना का विकास द्वीन्द्रिय आदि जीवो की तुलना मे कम होगा तथा पचेन्द्रिय जीव मे चेतना की अभिव्यक्ति शेष चार इन्द्रिय वाले जीवो की अपेक्षा अधिक होगी। अत उनका ज्ञान भी अधिक व्यक्त होगा। इस प्रकार ज्ञान का विकास प्रत्येक जीव के आत्मिक विकास द्वारा नियन्त्रित होगा। यही कारण है कि एक गति के विभिन्न जीवो मे ज्ञान तरतमभाव से व्यक्त होता है।

सांख्यदर्शन मे वर्णित पुरुष जैन-दर्शन मे निरूपित जीव से समानता रखता है परन्तु दोनो मे इतना भेद है कि सांख्यदर्शन पुरुष को ज्ञाता और भोक्ता मात्र मानता है

कर्ता नही,[21] पच भौतिक ससार को समस्त गतिविधियाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति द्वारा सम्पादित हैं। सांख्यदर्शन मान्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति जैनदर्शन के पुद्गलस्वरूप के निकट है। सांख्य के अनुसार चेतन पुरुष किसी भी क्रिया का कर्ता नहीं है तथा समस्त क्रियाओ का निष्पादन प्रकृति द्वारा किया जाता है, इसके विपरीत कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव को ज्ञाता, भोक्ता के साथ कर्ता भी माना है। सांख्यदर्शन सम्मत पुरुष का भोक्तृत्व उसे कर्ता माने बिना स्वीकार करना असगति है क्योकि कर्ता ही भोक्ता है अन्यथा कृत कर्मों की फल प्राप्ति का अभाव तथा अकृत कर्मों के फलोत्पाद का प्रसग उपस्थित हो जाएगा, जो युक्तियुक्त नही है।

मीमासको तथा वैशेषिको का यह दृष्टिकोण जैन दर्शन के प्रतिकूल है कि आत्मा में ज्ञान गुण समवाय-सम्बन्ध से रहता है,[22] तथा उत्पत्ति के प्रथम क्षण मे द्रव्य निर्गुण रहता है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार गुण और द्रव्य का पृथकत्व क्षण मात्र के लिए भी सम्भव नही है। द्रव्य के अभाव मे गुण का तथा गुण के अभाव मे द्रव्य का अस्तित्व असम्भव है। आत्मा में ज्ञान सहजात माना गया है समवाय सम्बन्ध से नही।

जीव उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण वाला, ससारी, सिद्ध तथा ऊर्ध्वगति स्वभाव वाला है।[23]

'प्राणो से जीने वाला जीव है' यह कथन जीव के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाले चार्वाकमत का खण्डन करता है। ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग लक्षण पद से नैयायिक वैशेषिक मत का परिहार किया है क्योकि वे उपयोग को जीव का स्वरूप नही मानते। 'अमूर्त' विशेषण द्वारा जीव को मूर्त मानने वाले भट्ट व चार्वाक मत का खण्डन किया गया है। साख्य जीव को कर्मों का कर्ता नही मानता अत कर्तापद से साख्य मत का परिहार किया गया है। नैयायिक, मीमासक व सांख्य जीव को सर्वव्यापक मानते हैं जिसके खण्डनार्थ 'स्वदेहपरिमाण' विशेषण दिया गया। कर्म के कर्त्ता और भोक्ता को पृथक् मानने वाले बौद्धो के प्रति कर्मफल का 'भोक्ता' यह विशेषण दिया गया। सदाशिव-मतानुसार जीव को सदामुक्त मानते हैं अत 'ससारस्य' विशेषण से उस मान्यता का निराकरण किया गया है। भट्ट तथा चार्वाक जीव का मुक्त होना ही नहीं मानते हैं उनके निराकरण के लिये 'सिद्धपद' दिया है। माण्डलिक मतावलम्बी जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव नही मानते उनके परिहार के लिये 'ऊर्ध्वगति' विशेषण दिया है।

ससारी जीवो द्वारा इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है तथा यह सिद्धात्मा के अनन्त ज्ञान की तुलना मे सीमित होता है। इन्द्रियो की अपेक्षा न रखने वाला आत्मा के द्वारा ही होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। सिद्धात्मा के ज्ञान मे त्रिकालवर्ती पदार्थ अपनी समस्त पदार्थों सहित ज्ञात होते हैं। अतः सिद्धात्मा के ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' सज्ञा सार्थक है और उसके ज्ञान के सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सिद्धात्मा को सर्वज्ञ कहा जाता है।

निश्चय और व्यवहारनय आत्मा का स्वरूप

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा विशुद्ध जीवद्रव्य है, वह समस्त परद्रव्यों के

बन्धनों से पूर्णत मुक्त, स्वचतुष्टय मे स्थित एक स्वतन्त्र सत्ता है। अपनी शुद्धावस्था मे आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, समस्त प्रकार की कामनाओ से रहित होने के कारण वह किसी भी कर्मफल का भोक्ता नही रह जाता। अपनी इस स्थिति मे आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीय आदि गुणो को निर्बाध रूप से व्यक्त करता है। लोकाग्रभाग मे स्थित आलस्य आत्मा विभाव परिणति से पूर्णत रहित तथा स्वभाव परिणमन मे रत रहता है। निश्चय दृष्टि ससारी आत्मा तथा मुक्तात्मा मे कोई भेद स्वीकार नही करती, दोनो का वैभव तथा महत्ता समान मानती है अन्तर केवल यह है कि मुक्त आत्मा मे कोई भेद स्वीकार नही करती, दोनो का वैभव तथा महत्ता समान मानती है अन्तर केवल यह है कि मुक्त आत्मा मे ये गुण पूर्णत व्यक्त हैं जबकि ससारी आत्मा मे अनावरण के कारण अत्यन्त सीमित रूप मे व्यक्त हैं।

पुद्गलादि समस्त परद्रव्य, जिनका जीव से सयोग-सम्बन्ध होता है, तादात्म्य सम्बन्ध नही, वे जीव से सर्वथा भिन्न होते हैं और उनका जीव से एकत्व मानना मिथ्यात्व है।

व्यवहारदृष्टि ससारी आत्मा तथा मुक्त आत्मा मे विकास की दृष्टि से अन्तर स्वीकार करती है। मुक्तात्मा का विकास अपनी चरम परिणति पर पहुँच चुका होता है तथा ससारी आत्मा को विकास की प्रक्रिया मे ऊर्ध्वमुखी होना अवशिष्ट रहता है। ससारी आत्मा को रत्नत्रय के मार्ग द्वारा सवर तथा निर्जरा के माध्यम से मोक्ष प्राप्त होता है। ससारी जीव का उपयोग विकास के क्रम मे अशुभ तथा शुभ से शुद्ध की ओर विकसित होता है। इस स्थिति मे वह वीतरागी होता है, ससारी आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय होते ही उसमे और मुक्त आत्मा मे कोई अन्तर नही रह जाता।

जीव का विभिन्न वर्गों मे वर्गीकरण

कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा के विभिन्न वर्गीकरणो द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप निरूपण रूप प्रयोजन से आत्मा को समस्त पुद्गलात्मक परद्रव्यो से भिन्न निर्दिष्ट किया है। कुन्दकुन्दाचार्य की विभिन्न रचनाओ मे भिन्न-भिन्न दृष्टियो से आत्मा को अनेक वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है। मोक्ष प्राप्ति की अपेक्षा से जीव को भव्य एव अभव्य दो प्रकार का तथा शुद्धावस्था को दृष्टि से मुक्त एव ससारी निर्दिष्ट किया गया है। जीव का लक्षण प्राण है अत इस लक्षण की पुष्टि से प्राणों की अपेक्षा दस भेद निरूपित किये गये हैं। जीवद्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म एव अमूर्त है, वह जिस पर्याय को धारण करता है उस पर्याय की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद भी व्यवहार दृष्टि से वर्णित किये गये हैं। ससार मे नित्यप्रति जीवो को उनके बाह्य लक्षण रूप इन्द्रियो द्वारा जाना एव पहचाना जाता है, इन इन्द्रियो की अपेक्षा से जीव के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय पाँच भेद निरूपित किये गये हैं। गमन करने की क्षमता के आधार पर जीव के त्रस एव स्थावर भेद होते हैं। पृथ्वीकायादि की अपेक्षा से छ भेदो का वर्णन मिलता है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा एव परमात्मा त्रिविध वर्गीकरण भी कुन्दकुन्दाचार्य ने हेयोपादेय दृष्टि से किया है। जीव चेतनामय है एव उपयोग उसका लक्षण है। जीव का

उपयोग शुभ अशुभ एव शुद्ध भाव रूप हो सकता है—इस अपेक्षा से भी अशुभोपयोगी, शुभोपयोगी एव शुद्धोपयोगी जीवो का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा इस समस्त वर्गीकरण मे व्यवहारनय का कथन जीव के वास्तविक स्वरूप को बोधगम्य कराने हेतु किया गया प्रतीत होता है। निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के दो ही भेद होते हैं। मुक्त एव ससारी, व्यवहारनय से किये गये उपर्युक्त सभी भेदो का अन्तर्भाव मुक्त एव ससारी दो भेदो मे हो जाता है। मुक्तावस्था मे आत्मा की स्वभाव पर्याय होती है तथा ससारी अवस्था मे अनन्तानन्त विभावपर्यायो मे से कोई भी हो सकती है।

कुन्दकुन्दाचार्य का प्रयोजन ससारी जीवो के सम्मुख आत्मा के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत करना था जिसके द्वारा ससारी जीव अनन्तगुणात्मक विशुद्धात्मा के स्वरूप को जान सकें।

आत्मा अपनी शुद्धावस्था मे अनन्त गुणो से युक्त है इस प्रकार आत्मा के समस्त गुणो का कथन असम्भव है। ससारी जीव सिद्धात्मा के अनन्त गुणो के वास्तविक स्वरूप को भी नही जानता फिर उसका कथन किस प्रकार कर सकता है, इस दृष्टि से आत्मा के स्वरूप को अनिर्वचनीय कहा है। ससारी आत्मा अन्य गुणो की कल्पना करने की तुलना मे अपने सीमित ज्ञान द्वारा कुछ अवगुणो एव दोषो को अपेक्षाकृत सुगमतापूर्वक सूचिबद्ध कर सकता है, क्योकि ये सभी दोष वह नित्य प्रति ससारी जीवो के व्यवहार मे देखता ही है। शुद्धात्मा का स्वभाव स्पष्टत ससारी आत्मा के स्वभाव से भिन्न होता है। शुद्धात्मा के स्वरूप को निरूपित करने के लिये दो दृष्टिकोण हो सकते है—(१) शुद्ध आत्मा के अनन्तगुणो का वर्णन किया जाय, यह विकल्प ससारी जीवो के लिये सम्भव नही है क्योकि सिद्धात्मा के अनन्तानन्त गुणो के वास्तविक स्वरूप को जानने वाला आत्मा स्वय भी सिद्धात्मा होना चाहिये। (२) दूसरा विकल्प यह है कि शुद्धात्मा का निरूपण इस प्रकार किया जाय जिससे यह बोध हो कि वह किन-किन दोषो से रहित है। छिद्रान्वेषी ससारी जीव के लिए द्वितीय विकल्प ही अधिक सुगम तथा उपयुक्त है। इसी दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते समय अपनी समस्त कृतियो मे आत्मा को निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व आदि नेति नेति रूपेण प्रस्तुत किया है। परमात्मा का इसी प्रकार निर्वचन जैनेतर दर्शनो मे भी दृष्टिगोचर होता है जहाँ पर नेति नेति द्वारा उसकी अनिर्वचनीयता को स्वीकार किया गया है तथा केवल उन दोषो का उल्लेख किया गया है जो ससारी जीव की अपेक्षा परमात्मा मे विद्यमान नही है।

कुन्दकुन्दाचार्य का कृतियाँ आत्मनिरूपण प्रधान

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी विभिन्न कृतियो मे जैन दार्शनिक दृष्टि से जिन तत्त्व-अर्थ-पदार्थों का निरूपण किया है उन सभी का ज्ञान आत्मा को शेष द्रव्यो से भिन्न एक विलक्षण चेतन द्रव्य के रूप मे जानने मे सहायक है। इस प्रकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रति सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है। कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे चरित्र निरूपण मे प्रधानता प्रदान की गई है क्योकि सम्यक् चारित्र के अभाव मे मोक्ष प्राप्ति अथवा आत्मलाभ असम्भव है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा अपनी रचनाओं में

किया गया प्रत्येक वर्णन आत्मा के वास्तविक स्वरूप की ओर उन्मुख कराने की दृष्टि से किया गया है। उनकी समस्त रचनाओ का एक मात्र उद्देश्य आत्म-लाभ है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो को आत्मनिरूपण प्रधान कहा जा सकता है।

आत्म-निरूपण

(१) षट्द्रव्यों मे जीव व पुद्गल प्रमुख, इनका स्वचतुष्टय मे परिणमन, जीव को निजस्वभाव मे परिणमन द्वारा आत्मलाभ करने की प्रेरणा देता है।

(२) जीवादि पचास्तिकाय के वर्णन मे भेद-दृष्टि द्वारा आत्मलाभ।

(३) सप्ततत्त्वों मे प्रमुख जीव और अजीव का आस्रव के कारण बन्ध होता है। सवर द्वारा कर्मास्रव रोककर, निर्जरा के माध्यम मे मोक्ष-प्राप्ति रूपी आत्मलाभ।

(४) नवपदार्थों मे पुण्य और पाप क्रमश स्वर्ण और लोहे की बेडीवत् कर्म-बन्धन के कारण। दोनो को हेय मानकर वीतराग भावपूर्वक कर्मक्षय द्वारा निजानन्द स्वरूप आत्मलाभ।

(५) कर्मसिद्धान्त के ज्ञान द्वारा कर्मों की आवरणीय प्रकृति, क्षयोपशमादि जीव के भावो, प्रकृतिबन्धादि कर्मबन्ध के भेदो का सम्यक् स्वरूप ज्ञात होता है। कर्म-निर्जरा द्वारा शुद्धात्मलाभ।

(६) आत्मत्रय—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा मे प्रथम हेय, द्वितीय की सहायता से परमात्मा की प्राप्ति।

(७) उपयोगत्रय—अशुभोपयोग, शुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग मे प्रथम दो हेय और अन्तिम से आत्मलाभ।

(८) पच महाव्रत, पच समिति, त्रिगुप्ति, षडावश्यक आदि निश्चयोन्मुखी व्यवहारचारित्र द्वारा आत्मलाभ।

(९) रत्नत्रय—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से आत्मलाभ।

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियाँ आत्म-निरूपण प्रधान

कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ मे षट्द्रव्य, पचास्तिय, सप्त तत्त्व, नवपदार्थ, आत्मत्रय, उपयोगत्रय, तथा द्विविध चारित्र का निरूपण मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य का उद्देश्य इन सभी के माध्यम से ससारी जीव को विशुद्ध आत्मा के स्वरूप से अवगत कराना था।

किसी भी ज्ञेय का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व उसकी सत्ता के प्रति वास्तविक श्रद्धान आवश्यक है, जब तक ज्ञेय की सत्ता के प्रति सन्देह की स्थिति बनी रहेगी उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है जब तक एक ज्ञेय को दूसरे ज्ञेय के रूप से स्पष्टत भिन्न नही माना जायेगा तब तक उसे दूसरे ज्ञेय से भिन्न नही जाना जा सकता। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही सम्यग्ज्ञान की जिज्ञासा होती है। ससारी जीव को सम्यग्ज्ञान प्रदान करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी रचनाओ मे निम्नलिखित का निरूपण किया है—

(क) षद्द्रव्यनिरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने लोक मे स्थित समस्त पदार्थों को द्रव्यानुसार छ वर्गों मे विभाजित किया है—जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन षट्द्रव्यो मे से प्रत्येक द्रव्य शेष से पूर्णत भिन्न है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता है ' द्रव्य की सत्ता का परिचायक उसका चतुष्टय है और यह चतुष्टय ही उसकी सत्ता की सीमा निर्धारित करता है। स्वक्षेत्र से परे यदि किसी द्रव्य की सत्ता है तो वह परद्रव्य है जो स्वद्रव्य से नितान्त भिन्न है। इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य द्रव्य काल और भाव की अपेक्षा से भी एकद्रव्य की सत्ता को दूसरे द्रव्य की सत्ता से भिन्न निर्दिष्ट करते हैं। उनका यह निर्देश ही भेद-विज्ञान का जनक है। जो स्व नही है वह निश्चय से पर है तथा जो पर नही है वह निश्चय से स्व है।

(ख) पचास्तिकाय निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने समस्त द्रव्यो को बहुप्रदेशी अस्तित्व वाले अथवा एकप्रदेशी अस्तित्व वाले द्रव्यो मे वर्गीकृत किया है। बहुप्रदेशी द्रव्यो को प्रदेशप्रचय होने के कारण ही कायवत् काय कहा जाता है। जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य कायवत् अस्तित्व के कारण पचास्तिकाय कहलाते हैं। इन पाँच द्रव्यो से भिन्न कालद्रव्य एक-प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय नही है। समस्त लाक का निर्माण पचास्तिकायो द्वारा होने के कारण कुन्दकुन्दाचार्य ने इन्हे 'समय' कहा है और पचास्तिकाय की समापन गाथा मे पचास्तिकाय सग्रह को 'प्रवचनसार' कहा गया है।[३४] पचास्तिकाय के लिए कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा समय तथा प्रवचनसार का प्रयोग इस बात का परिचायक है कि पचास्तिकाय के प्रति सम्यक श्रद्धान से विशुद्ध आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा विशुद्ध आत्मा अथवा समयसार ही लोक मे सारभूत है।

पचास्तिकायो का निरूपण करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने इन अस्तिकायो के स्वरूप तथा लक्षण का वर्णन किया है। इस प्रकार उन्होने एक अस्तिकाय का शेष चार अस्ति-कायो से भेद प्रतिपादित किया है। जीवास्तिकाय का लक्षण चेतना और उपयोग होने के कारण वह शेष अस्तिकायो से नितान्त विलक्षण है तथा मोक्ष प्राप्त कर सकने मे सक्षम है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य जीवास्तिकाय तथा शेष अस्तिकायो मे भेद प्रतिपादित करते हुए ससारी जीव के सम्मुख उसके सम्यक् स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। उनका यह प्रस्तुतीकरण प्रदेश सख्याभेद से प्रारभ होता हुआ मुमुक्षु को जीवास्तिकाय की विलक्षणता तक पहुँचाता है। इसका प्रमाण यह है कि एकप्रदेशी कालद्रव्य को अस्ति-कायो से भिन्न निर्दिष्ट करने के साथ ही उसे परिणमन मे निमित्त मात्र कहकर गौण सिद्ध किया है। पचास्तिकायो मे भी चेतना की अपेक्षा से जीव और अजीव दो भेद किये गए है, अजीव के अन्तर्गत पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाश रूप वर्गीकरण किया गया है। पुद्गल आत्मा की अशुद्धावस्था मे राग-द्वेष रूप परिणमन होते ही आत्मा से कर्मों के रूप मे सम्बद्ध हो जाता है। यह पुद्गलास्तिकाय जीव के ससार भ्रमण का निमित्त

कारण है। धर्मास्तिकाय जीव तथा पुद्गल के गति रूप परिणमन का निमित्त कारण है तथा अधर्मास्तिकाय उनके स्थिति रूप परिणमन का निमित्त कारण है। आकाशास्तिकाय समस्त द्रव्यो को अवगाहना प्रदान करता है। परिणमन की अपेक्षा से जीव और पुद्गल पचास्तिकायो मे विशिष्ट स्थान रखते हैं। चेतना से रहित होने के कारण पुद्गल में अनुभूति का अभाव है अत वह विभाव परिणमन की स्थिति में किसी प्रकार के दु ख का अनुभव नही करता तथा स्वभाव परिणमन से उसे किसी प्रकार सुखानुभूति नही होती। इसके विपरीत जीवास्तिकाय की चेतना उसे सुख अथवा दु ख का अनुभव कराती हुई नानाविध सुख अथवा दु ख की अनुभूति कराती है। विभाव परिणमन मे आत्मा कर्म-बन्धन से युक्त होता है और उसके समस्त गुण कर्मावरण के कारण पूर्णत व्यक्त नही हो पाते। निर्बाध सुख की प्राप्ति स्वभाव परिणमन द्वारा ही सम्भव है इसके लिए समस्त परद्रव्यों से पूर्णत भिन्न स्वस्वरूप मे स्थित होना होगा। यही अवस्था मोक्ष कहलाती है।

(ग) सप्ततत्त्व निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी रचनाओ मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का निरूपण किया है। ससारी जीव अनन्त काल से पुद्गल कर्मों के निमित्त से आत्मा राग-द्वेष रूप विभाव परिणमन करता है तथा इस परिणमन के कारण आत्मा मे विक्षोभ उत्पन्न होता है। विक्षोभ जनित परिस्पन्द नवीन पुद्गल-कर्म-वर्गणाओ को आकर्षित करते हैं तथा ये कर्म-वर्गणाएँ आस्रव द्वारा आत्मा के निकट पहुँचकर पूर्व बद्ध कर्मों से बन्ध जाती हैं। इस प्रकार बन्ध की स्थिति तक ये कर्म आत्मा पर आवरणवत् आच्छादित रहते हैं एव आत्मा के सहज गुणो के पूर्णत व्यक्त होने मे बाधा पहुँचाते हैं। बन्ध की अवधि समाप्त होने पर इन कर्मों का विपाक होता है और ये कर्म सुख अथवा दु ख रूप फल देकर निर्जरा को प्राप्त होते हैं। कर्मों की यह निर्जरा सविपाक निर्जरा कहलाती है। तप द्वारा कर्मों के विपाक से पूर्व भी कर्मों की निर्जरा सम्भव है। ससार चक्र से मुक्ति प्राप्त करने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य ने निर्देश दिया है कि नवीन कर्मों का आगमन रोका जाए अर्थात् उनका सवर किया जाए एव पूर्व-बद्ध कर्मों की निर्जरा की जाए, जब समस्त घातिया एव अघातिया कर्मों की निर्जरा हो जाएगी तो आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

सप्त-तत्त्व-निरूपण का उद्देश्य यह है कि ससारी जीव मे यह श्रद्धान उत्पन्न हो कि कर्मबन्ध ही उसके ससार-भ्रमण का कारण है। सवर द्वारा कर्मबन्ध रोककर एवं निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा सप्त-तत्त्वो का निरूपण उनके कर्म सिद्धान्त को विधिवत् समझने मे सहायक है।

(घ) नव पदार्थ निरूपण

सात तत्त्वों के साथ पुण्य एव पाप को लेकर कुन्दकुन्दाचार्य ने नव पदार्थों का

निरूपण किया है। इस निरूपण मे उनकी दार्शनिक दृष्टि इस तथ्य पर केन्द्रित रही है कि पुण्य का बन्ध शुभ कर्मों से एवं पाप का बन्ध अशुभ कर्मों द्वारा होता है। पुण्य एव पाप दोनो ही कर्मबन्ध से सम्बन्धित हैं अत सुख एव दु ख प्रदान करते हैं। ये दोनो ही आत्मा को बन्धन मे रखने वाले हैं। पुण्य यदि स्वर्ण की बेडी के समान है तो पाप लोह की बेडी के सदृश। बन्धन स्वतन्त्रता मे बाधक है अत: मोक्ष प्राप्ति नहीं होने देता। मुमुक्षुओ के लिए पुण्य एव पाप दोनो ही हेय हैं क्योंकि ये दोनों संसार भ्रमण का कारण हैं।

नव पदार्थ निरूपण का प्रयोजन यह है कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला जीव पुण्य द्वारा प्राप्त होने वाले सासारिक वैभव एव सुख की ओर आकृष्ट नही हो तथा उसे पाप के समान ही हेय माने। वस्तुत पुण्य द्वारा प्राप्त चक्रवर्ती की सम्पदा अथवा स्वर्ग सुख आत्मा के उस अनन्त वैभव एव अनन्त सुख के सम्मुख काक-विष्ठावत् तुच्छ एव हेय है। भव्य जीव पाप से निवृत्त होने के साथ ही पुण्य से भी निवृत्ति प्राप्त करने हेतु पुरुषार्थ करते हैं। पाप एव पुण्य रूपी बन्धनो को काटकर ही कर्मों का क्षय किया जा सकता है और सासारिक सुख व दु ख से स्थायी रूप से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

कुन्दकुन्दाचार्य इस प्रकार ससारी जीव मे सम्यक्दर्शन उत्पन्न करते हैं जिससे उसे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो सके।

आत्मा के त्रिविध भेद करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का उल्लेख किया है। जीव को अपना उपयोग बहिरात्मा रूपी इन्द्रियादि हटा कर स्व पर केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रक्रिया में उसे अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मा की प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए। यही चारित्रपालन का सार है।

सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत कुन्दकुन्दाचार्य ने त्रिविध उपयोग का वर्णन किया है। जीव के द्वारा सम्पन्न सभी क्रियाओ को शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगो के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। चेतना के शुभ और अशुभ उपयोग कर्मबन्धन का कारण हैं अत हेय हैं। चेतना का शुद्धोपयोग ही जीव के लिए उपादेय है। शुद्धोपयोग की स्थिति मे पूर्वबद्ध कर्म उदय मे आने पर भी सुख अथवा दु ख रूप फल देने मे समर्थ नहीं हो पाते। इस प्रकार का कर्मफल शुभ अथवा अथवा अशुभ उपयोग की स्थिति मे ही प्राप्त होता है। कर्मों के आतक से मुक्ति प्राप्त करने के लिए जीव का चारित्र शुद्धोपयोगी होना चाहिए। यही चारित्र निश्चय चारित्र है। व्रत, समिति, गुप्ति, षडावश्यक कर्म आदि निश्चयोन्मुखी व्यवहारचारित्र हैं। ऐसे सम्यक् चारित्र द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा के जिस विशुद्ध स्वरूप को मुक्तात्मा कहा है उसे प्राप्त करने के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की युगपत् सिद्धि अनिवार्य है।

कुन्दकुन्दाचार्य प्रतिपादित आत्म-निरूपण में निश्चय दृष्टि

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थो मे शुद्धात्मा के स्वरूप को ही एक मात्र जानने योग्य बताया है तथा जब आत्मा अपने द्वारा, अपने लिए, अपने को जानता है उस स्थिति

मे वह पर से पूर्णतया पृथक् अपने चतुष्टय मे परिणमन करता है व मुक्त आत्मा बन जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार जो एक को जानता है वह सबको जानता है और जो एक को नही जानता वह किसी को नही जानता। कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दर्शाया है। ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता के बिना ज्ञान सम्भव नही है उसी प्रकार ज्ञेय की सत्ता से परिचित हुए बिना ज्ञाता की ज्ञेय को जानने की चेष्टा अधूरी है। तार्किक दृष्टि से कोई यह कह सकता है कि ज्ञेय की सत्ता इसलिए है क्योकि उसे ज्ञाता जानता है लेकिन तात्त्विक दृष्टि से यह बात उपयुक्त प्रतीत नही होती अपितु यह कहना उचित प्रतीत होता है कि ज्ञेय की सत्ता होने के कारण ही ज्ञाता उसे जान पाता है। यदि ज्ञेय की सत्ता की ही असद्भाव हो जावे तो ज्ञाता जानेगा किसे ? इसके अतिरिक्त यदि ज्ञाता ज्ञानावरणीय कर्मों के प्रभाव से ज्ञेय को नही जान पाता तो इसका अभिप्राय यह नही कि ज्ञेय की सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाए। इस सन्दर्भ मे यह तथ्य सम्मुख आता है कि जहाँ कही ज्ञान विद्यमान होगा वहाँ आवश्यक रूप से ज्ञाता और ज्ञेय की सत्ता का सद्भाव होगा। 'मैं जानता हूँ', 'मैं विचार करता हूँ', आदि वाक्य स्पष्टत इगित करते हैं कि विचारने और जानने की प्रक्रिया ज्ञान प्राप्ति हेतु है और कोई न कोई सत्ता अवश्य विद्यमान है जो ज्ञान प्राप्त कर रही है तथा साथ ही दूसरी एक या एकाधिक सत्ताएँ विद्यमान हैं जिनका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। इस प्रकार ज्ञान वह कडी है जो ज्ञेय और ज्ञाता को जोडती है।

किसी भी द्रव्य को हम उसके गुणो द्वारा जानते हैं। यदि गुण न हो तो द्रव्य को जाना ही न जा सके। ये गुण ही एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का अन्तर दर्शाते हैं, अत द्रव्य की सत्ता के साथ गुण का सद्भाव पाया हो जाता है। जहाँ द्रव्य है वहाँ गुण होगे, जहाँ गुण है वहाँ द्रव्य अवश्य होगा। द्रव्य की सत्ता के सन्दर्भ मे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीन महत्त्वपूर्ण पहलू विचारणीय हैं। द्रव्य ससार मे नाना रूप परिणमन करता है। जिस देशकाल मे उसे जिस रूप मे जाना जाता है वह उस देशकाल मे उस द्रव्य की पर्याय कहलाती है। ये पर्याय द्रव्य के परिणमन के अनुरूप बदलती रहती है। एक पर्याय व्यय (नष्ट) होती है तो दूसरी उत्पन्न होती है किन्तु द्रव्य पूर्ववत् अपरिवर्तित ही रहता है। सोने का कगन स्वर्ण के कर्णफूल मे रूपान्तरित किया जा सकता है। स्वर्ण की कगन रूप पर्याय का व्यय हुआ एव कर्णफूल रूप पर्याय का उत्पाद किन्तु तत्त्व की दृष्टि से सोने का द्रव्य (सोना द्रव्य) ध्रौव्य से युक्त रहा। अपने द्रव्य की सत्ता के साथ पर्याय का होना अवश्यम्भावी है। कोई भी द्रव्य किसी भी देश काल मे पर्याय रहित नही हो सकता। द्रव्य जिस पर्याय रूप मे परिणमन करता है उसके अनुरूप ही गुण व्यक्त होते हैं। किसी भी द्रव्य को जानने की प्रक्रिया द्विविध हो सकती है। प्रथमत उसकी पर्याय को जानकर ज्ञान प्राप्त किया जाए, द्वितीयत सीधे ही द्रव्य की दृष्टि से उसका ज्ञान प्राप्त किया जाए। जो व्यक्ति स्वर्ण-द्रव्य से अपरिचित है वह स्वर्ण की कगन, कर्णफूल, मुद्रिका आदि पर्यायो का ज्ञान प्राप्त कर कुछ अशो मे द्रव्य का भी अनुमान लगा पाता है। उसे इन तीनो पर्यायो के पीछे एक पीला चमकदार द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। द्रव्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसे व्यक्ति के लिए कगन, कर्णफूल एव मुद्रिका आदि का ज्ञान

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु स्वर्ण के पारखी स्वर्णकार के लिए पर्याय गौण है और शुद्ध द्रव्य ही महत्त्वपूर्ण है। कुन्दकुन्दाचार्य ने एक अनुभवी व्यक्ति के सदृश आत्मा का ज्ञान कराने हेतु दो दृष्टियाँ प्रदान की। एक वह दृष्टि जो आत्मा की विभिन्न पर्यायो का ज्ञान कराती हुई क्रमिक रूप से विशुद्ध आत्मतत्त्व की ओर उन्मुख होती है और दूसरी वह पारखी दृष्टि है जिसके लिए पर्याय का महत्त्व नहीं रह गया है और जिसका एक मात्र लक्ष्य अर्थात् ज्ञेय विशुद्ध आत्मद्रव्य ही है। पर्याय से सम्बन्धित दृष्टि लौकिक होने के कारण पर्यायार्थिक अथवा लौकिक दृष्टि कहलाती है। इसके विपरीत द्रव्य की विशुद्धता को देखने वाली दृष्टि पारलौकिक होने के कारण द्रव्यार्थिक, पारलौकिक अथवा शुद्ध दृष्टि कहलाती है। लौकिक दृष्टि के साथ व्यवहार जुड़ा हुआ है और विशुद्ध दृष्टि के साथ निश्चय। व्यवहार ही मे सोने की विविध पर्यायो को कगन, कर्णफूल, मुद्रिका इत्यादि (नामो से) कहा जाता है किन्तु पारखी स्वर्णकार के समक्ष समस्त पर्यायो का समापन शुद्ध स्वर्णद्रव्य के निश्चय मे हो जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी आत्मा का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार और निश्चय दोनो नयो का अवलम्बन लिया है किन्तु उनके कृतित्व की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उनके व्यवहारनय के अन्तर्गत आने वाली समस्त विरोधी धाराएँ अन्तत निश्चय की धारा मे एकीभूत होती हैं। कुन्दकुन्दाचार्य का व्यवहारनय वह सोपान है जो क्रमिक रूप से निश्चय की ओर उन्मुख कराता है। जब तक निश्चय का श्रद्धान नहीं हो जाता व्यवहार उपादेय है किन्तु निश्चय का श्रद्धान होते ही व्यवहार स्वत ही पृष्ठभूमि मे रह जाता है। सोपान मे निम्नपद से उच्चपद मे पहुँचने के लिए निम्नपद उपादेय है किन्तु उच्चपद पर पहुँचने के साथ ही निम्न सोपान पृष्ठभूमि मे रह जाता है। वस्तुत कुन्दकुन्दाचार्य की व्यवहारनय उनकी आत्म-तत्त्व-निरूपण शैली है जिसके द्वारा वे ससारी जीवो को भी आत्मा जैसे गूढ विषय को बोधगम्य करा सके। स्वय कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की आवश्यकता के विषय में इगित करते हुए लिखा है कि व्यवहारनय उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार म्लेच्छ को किसी वस्तु का ज्ञान कराने हेतु उस म्लेच्छ की भाषा आवश्यक होती है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने बड़ी कुशलता से व्यवहार और निश्चय नयो का निरूपण करते हुए आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। उनके समक्ष ऐसे ससारी जीव हैं जो मोह से भ्रमित एव स्वपर के वचित हैं। 'मेरा शरीर', 'मेरा घर', 'मेरा परिवार' आदि पर वस्तुओ के प्रति प्रबल राग के वशीभूत वे मैं और मेरा के मध्य भी अन्तर नही कर पाते। उन्हे यह भी निश्चय नही हो पाता कि मैं घर नहीं हूँ, यदि मेरा घर है तो अवश्य ही मुझसे भिन्न है। ऐसे ससारी जीवो के प्रतिबोधनार्थ वे समस्त द्रव्यो, तत्त्वो एव पदार्थों के स्वरूप का वर्णन करते हैं, उनके लक्षण बताते हैं जिससे यह जाना जा सके कि आत्म-तत्त्व से भिन्न लक्षण वाले समस्त तत्त्व पर हैं एव वे आत्मा के लिए उपादेय नहीं हैं।

आत्मा की सर्वज्ञता

आत्मा के केवल ज्ञान रूप परिणमन करते ही समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें प्रत्यक्ष हो जाती हैं वह उन्हें अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के क्रम से नहीं जानता

है। स्वय सदा के लिए इन्द्रियातीत ज्ञानरूप हो जाने के कारण और इन्द्रियो द्वारा रूप, रस, आदि जानने की विशेषता से भी अनन्तगुनी स्वानुभाव रूप विशेषता का साक्षात्कार करने के कारण किंचित् मात्र भी वस्तु उसके परोक्ष नहीं रहती है।[२५]

विशुद्ध आत्मा की सर्वज्ञता के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार आत्मा ज्ञान-रूप है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है तथा ज्ञेय लोकालोक है। अत निजज्ञान रूप से आत्मा लोकालोक व्यापी है अर्थात् ज्ञान आत्मा है तथा जितना आत्मा है उतना ही ज्ञान है अतएव जितना ज्ञान का विस्तार है उतना ही आत्मा का विस्तार है क्योंकि ज्ञान आत्मा के बिना नही रह सकता और आत्मा ज्ञान के बिना रह सकता है।[२६]

ज्ञेय निज स्थान पर रहते हुए ज्ञेय रूप परिणमन करता है और ज्ञान ज्ञानरूप परिणमन करता है। इस प्रकार ज्ञान अशेष जगत् को अतीन्द्रिय रूप से जानता है। जिस प्रकार दूध में रखा हुआ नीलम अपनी किरणो से दूध को नीला बना देता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय पदार्थों में रहता है। यथार्थत दूध स्वस्वरूप मे परिणमन करता तथा नीलम स्वस्वरूप मे किन्तु उपाधिवश ही दूध मे नील रूप की प्रतीति होती है।

जो ज्ञान अप्रदेशी सप्रदेशी को, मूर्त-अमूर्त को जानता है वह अतीन्द्रिय केवल ज्ञान कहलाता है।[२७] वर्तमान, अतीत, अनागत, विचित्र, विषम समस्त पदार्थों को एक साथ जानने वाला ज्ञान क्षायिक कहलाता है।[२८] जो ज्ञान तीनो लोको में स्थित त्रिकाल-वर्ती पदार्थों को युगपत् नही जानता वह समस्त पर्याय सहित एक द्रव्य को भी नही जान सकता। इसी प्रकार जो अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्य को नही जानता वह समस्त अन्य द्रव्यों को भी नही जानता।[२९]

सत् का विनाश नही होता और असत् का उत्पाद नही होता यह वस्तुनियम है। द्रव्य-दृष्टि से अतीत व अनागत पर्यायें भी सत् हैं अत वे सब ज्ञेय हैं तथा पूर्णदर्शी सर्वज्ञ के ज्ञान के विषय हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार मे निर्देश किया है कि निश्चयनय से केवली निजात्मा का ज्ञाता द्रष्टा है तथा व्यहारनय से अन्य पर पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा।[३०] अत आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है।

सन्दर्भ

१. पञ्चास्तिकाय, गा० १२०, पृ० १८३
२ वही, गा० १०६, पृ० १६८
३. समयसार, गा० २७३-७५, पृ० ३६५-६७
४ भावपाहुड, गा० १३८, पृ० २१३
५. वही, गा० १५१, अष्टपाहुड, पृ० २२१
६. 'अत कतिपये एव ससारिणो मोक्षमार्गार्हा न सर्वे एवेति।'
—पञ्चास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका, गा० टीका, १६३, पृ० २३६
७ तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।४।७, पृ० १०६
८ प्रवचनसार, गा० २।५५, पृ० १८९

९ (क) सुत्तपाहुड, गा० १५-१६, अष्टपाहुड, पृ० ५१-५२
(ख) प्रवचनसार, गा० २।१०८, पृ० २४२
१० वही, गा० २।५५, पृ० १८६
११. 'अत एवात्मास्तित्वसिद्धि । यथा यन्त्रप्रतिमाचेष्टित प्रयोक्तुरस्तित्वं गमयति, तथा प्राणापानादिकर्मापि क्रियावन्तमात्मान साधयति ।'
—सर्वार्थसिद्धि, ५।१९, पृ० १६६
१२ पञ्चास्तिकाय, गा० १२२, पृ० १८५
१३. 'पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परोत्ति णायव्वा ।।'
—समयसार, गा० २९७, पृ० ३९३
१४. प्रवचनसार, गा० २।३५, पृ० १६२
१५. वही, गा० २।३१, पृ० १५७
१६ (अ) वही, गा० २।३२, पृ० १५७
(ब) पञ्चास्तिकाय, गा० ३८-३९, पृ० ७८-७९
१७ वही
१८ 'उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोग '
—सर्वार्थसिद्धि २।८, पृ० ८९
१९ पञ्चास्तिकाय, गा० ४०, पृ० ८०
२० (क) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' —मुण्डक०, ३।२।९
(ख) 'जीवब्रह्मैक्य शुद्धचैतन्य प्रमेय तत्रैव वेदान्ताना तात्पर्यात्'
—वेदान्तसार, पृ० ३२
(ग) 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुत ' —श्रीमद्भागवत, ११।११।१
२१ साख्यकारिका १९, पृ० ४७
२२ विश्वनाथ न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, का० ४७
२३ द्रव्यसग्रह, गा० २
२४. पञ्चास्तिकाय, गा० १७३, पृ० २५२
२५. प्रवचनसार, गा० २० से २२, पृ० २५ से २८
२६ वही, गा० २४, २५, पृ० ३०
२७ वही, गा० १।४१, पृ० ४८
२८ वही, गा० १।४७, पृ० ५४
२९ वही, गा० १।४८, ४९, पृ० ५५-५६
३० नियमसार, गा० १५८, पृ० १३६

सप्तम अध्याय

दार्शनिक सिद्धान्त

(क) स्याद्वाद-निरूपण

(ख) कर्म-सिद्धान्त

(१) कर्म का स्वरूप

(२) कर्म के भेद प्रभेद

(३) [अ] कर्म बन्धन तथा कर्म सिद्धान्त की उपादेयता

[ब] कर्म बन्ध मे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

(४) कर्म बन्ध सिद्धान्त का वैशिष्ट्य

(५) जीव का उपयोग तथा कर्म बन्धन

(६) निष्कर्ष

(ग) कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों मे नय-निरूपण

(१) विभिन्न सन्दर्भों में व्यवहारनय का प्रयोग

(२) जीव के त्रिविध उपयोग की व्यहारनय से व्याख्या

(३) व्यवहारनय की उपयोगिता और सीमाएं

(४) अशुद्धनिश्चयनय का समावेश

(५) शुद्धनय और निश्चयनय

(६) नयदृष्टि से आचार-मीमांसा

दार्शनिक-सिद्धान्त

स्याद्वाद-निरूपण

लोकाकाश मे षड्द्रव्यो का सद्भाव है तथा द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है अत इन द्रव्यो की पर्यायो मे निरन्तर उत्पाद तथा व्यय की प्रक्रिया होती रहती है। यह प्रक्रिया काल सापेक्ष है अत त्रिकाल मे एक ही द्रव्य की अनन्तानन्त पर्यायें सम्भव हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वभाव पर्याय को उपादेय तथा विभाव पर्यायो को हेय कहा है तथा स्वभाव पर्याय के ज्ञान के लिए भेद विज्ञान का निर्देश किया है। भेद-विज्ञान की प्राप्ति हेतु स्व-पर विवेक आवश्यक है तथा स्व को पर से भिन्न जानने हेतु स्व की अपेक्षा समस्त पर पदार्थों का वैभिन्न्य भी जानना आवश्यक है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भव्य जीवो के सम्मुख असख्य ज्ञेय हैं तथा इन ज्ञेयो की प्रतिसमय परिवर्तित होती असख्य पर्यायें हैं। सीमित ज्ञान द्वारा असख्य ज्ञेयो को जानना सम्भव नही है। असख्य ज्ञेयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विलक्षण ज्ञान की आवश्यकता है। सामान्य ज्ञान एक समय मे सीमित सख्या मे ही ज्ञेयों को जान सकता है जबकि अनन्त विशुद्ध ज्ञान अनतानन्त ज्ञेयो को उनकी समस्त पर्यायो सहित युगपत् जानता है। ससारी जीव के सम्मुख ज्ञेय की जो पर्याय विद्यमान होती है वह उसे ही जानता है, ज्ञेय की भूत एव भविष्यत् पर्यायो का ज्ञान उसे प्राप्त नही हो सकता। ज्ञान आत्मा मे ही है, अन्तर केवल इतना है कि वह अशो मे व्यक्त है अथवा अधिक। जब तक ज्ञान आंशिक है उसके द्वारा अनन्तानन्त ज्ञेयो का सम्यक् स्वरूप जानना सम्भव नही है। जिस समय आत्मा का अनन्त-ज्ञान पूर्णत व्यक्त हो जाता है उस समय आत्मा केवल ज्ञानमय कहलाता है, केवल ज्ञानी समस्त ज्ञेयो को उनकी समस्त पर्यायो सहित अपने ज्ञान मे युगपत् देखता एव जानता है, किन्तु वह अनन्त गुणधर्मा ज्ञेय का सम्यक् ज्ञान उन जीवो को नही करा सकता जिनका ज्ञान अभी तक आंशिक रूपेण ही व्यक्त हुआ है। एक ओर ज्ञेय और उनकी पर्यायो का अनन्त विस्तार है तो दूसरी ओर ससारी आत्मा की सीमित व्यक्त ज्ञान है। अनन्तगुण धर्मा ज्ञेय का सम्यक स्वरूप वाणी द्वारा अभिव्यक्त करना सम्भव नही। यदि सम्भव हो भी तो ससारी जीवो द्वारा उसे बोधगम्य कर पाना सम्भव नही। ससारी जीव ज्ञेय के स्वरूप का अनुमान तभी लगा सकता है जब उसे विभिन्न कथनो द्वारा ज्ञेय के प्रत्येक गुण के विषय में पृथक्-पृथक् निर्देश दिया जाए।

ज्ञाता-ज्ञान तथा ज्ञेय के पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धो पर दृष्टिपात करने से निम्न-लिखित प्रमुख तथ्य सम्मुख आते हैं—ज्ञेय अनन्त हैं, त्रिकाल मे उनकी पर्यायें भी अनन्त

हैं तथा इन अनन्त ज्ञेयो मे से प्रत्येक ज्ञेय अनन्त गुणधर्मा है। आत्मा द्वारा इन सबका ज्ञान उसमे अनन्त विशुद्ध ज्ञान व्यक्त हो जाने पर ही सभव है। यह केवल अरिहन्तावस्था अथवा सिद्धावस्था मे ही सम्भव है। इन अवस्थाओ मे आत्मा 'सर्वज्ञ' सज्ञा से अभिहित होता है। सर्वज्ञ वह है जिसने प्रत्येक ज्ञेय के प्रत्येक धर्म को करामलकवत् अपने ज्ञान मे युगपत् प्रत्यक्ष किया। सर्वज्ञता की स्थिति मे समस्त ज्ञेयो के समस्तगुणधर्मों के ज्ञान का सश्लेषण होता है। जब तक आत्मा किसी ज्ञेय के सीमित गुणो को जानता है तब तक उसका ज्ञान आँशिक कहलाता है, जब विभिन्न गुणो की अपेक्षा से प्राप्त समस्त आँशिक ज्ञानो का सश्लेषण हो जाता है उस समय ही आत्मा अनन्तगुणधर्मा उस ज्ञेय का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है। वह दार्शनिक दृष्टि जो इस प्रकार ज्ञान का सश्लेषण कर उसे अनन्तता की पराकाष्ठा पर पहुँचा देती है, जैन दर्शन मे प्रतिपादन की स्याद्वाद शैली अथवा स्याद्वाद के रूप मे जानी जाती है। स्याद्वाद के अभाव मे सम्यक् दर्शन एव सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान के अभाव मे सम्यग्चारित्र प्राप्त ही नही किया जा सकता। रत्नत्रय की एक साथ उपलब्धि ही मोक्ष का मार्ग है अत उसका आधारभूत स्याद्वाद मुमुक्षुओ के लिए अपरिहार्य है।

कुन्दकुन्दाचार्य के समस्त ग्रन्थो मे विषयवस्तु का निरूपण दो दृष्टियो से किया गया है—निश्चयदृष्टि एव व्यवहार दृष्टि की इन्ही दृष्टियो को द्रव्यार्थिक दृष्टि एव पर्यायार्थिक दृष्टि के रूप मे भी अपनाया गया है वस्तुत इन दृष्टियो के माध्यम से विषय-वस्तु का निरूपण करने का प्रयोजन मुझे यह प्रतीत होता है कि विशुद्धात्मद्रव्य के कथन के साथ-साथ उसके स्वरूप का प्रस्तुतीकरण उस शैली मे किया जाए जिसमे वह ससारी जीवो को बोधगम्य हो सके। कुन्दकुन्दाचार्य के समस्त व्यवहारनय प्रधान कथन ससारी जीवो को आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने की अपेक्षा से किए गए हैं। उनके द्वारा निश्चयनय से किए गए कथन आत्मा का एक ऐसा विशुद्ध स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जिसको जानना ससारी जीवो का लक्ष्य है। यदि ससारी जीव अपने लक्ष्य के विषय मे जान पाएँगे तो वे लक्ष्य प्राप्ति से विचलित नही होगे। उनका व्यवहारनय भी निश्चय की ओर उन्मुख कराने वाला है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने एकांगी दृष्टिकोण न अपनाकर इन दोनो परस्पर विरोधी दृष्टियों मे समन्वय स्थापित किया है।

यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही जैन दर्शन की अनन्य विशेषता है और इसके दर्शन हमें जैन दर्शन के अनेकान्त मे होते हैं। प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। 'अनन्त धर्मात्मक' शब्द मे आत्मा पद से अनन्त पर्यायो मे रहने वाले नित्य द्रव्य का बोध होता है। द्रव्य मे पर्याय की अपेक्षा से असत् की उत्पत्ति को उत्पाद, सत् के विनाश को व्यय तथा द्रव्य का द्रव्यापेक्षा से पूर्ववत् सतत बना रहना ध्रौव्य है। यदि उत्पाद और व्यय के मध्य अन्तराल मे द्रव्य का ध्रौव्य खण्डित होता है तो जिस द्रव्य का उत्पाद हुआ था, उससे भिन्न किसी अन्य द्रव्य का व्यय होने का दोष उत्पन्न हो जाएगा।

उत्पाद और व्यय द्रव्य की पर्यायों में होता है, स्वयं मे नहीं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के दो रूप हैं—(अ) द्रव्य रूप (ब) पर्यायरूप। द्रव्यनय की मुख्यता तथा पर्यायनय

की गौणता से पदार्थ का ज्ञान द्रव्य रूप, पर्याय नय की मुख्यता तथा द्रव्यनय की गौणता से पदार्थ का ज्ञान पर्याय रूप और द्रव्य तथा पर्याय दोनो की प्रधानता से पदार्थ का ज्ञान उभय रूप होता है। पदार्थ की सिद्धि उसे अनन्तधर्मा माने बिना नही हो सकती। जैन दर्शन मे चिन्तन की यह अनन्तधर्मात्मक शैली अनेकात कहलाती है तथा पदार्थ के अनन्त गुणो की पृथक् पृथक् एव सापेक्ष प्रतिपादन की शैली स्याद्वाद कहलाती है।

स्याद्वाद एक वस्तु में सप्रतिपक्ष अनेक धर्मों के स्वरूप का प्रतिपादन करता है—

'एकैकस्मिन् वस्तुनि सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपप्रतिपादनपर. स्याद्वाद.।'[1]

जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि सम्पूर्ण द्रव्यो मे विभिन्न अपेक्षाओ से विभिन्न धर्म रहते हैं, अत एव प्रत्येक वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानना चाहिए। जो वस्तु अनन्तधर्मात्मक नही होती, वह वस्तु सत् भी नही होती।[2] प्रमाण-वाक्य और नय वाक्य मे वस्तु में अनन्त धर्मों की सिद्धि होती है। प्रमाणवाक्य को सकलादेश और नयवाक्य को विकलादेश कहते हैं। पदार्थ के धर्मों का काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द की अपेक्षा अभेदरूपकथन करना सकलादेश, तथा काल, आत्मरूप आदि की भेदविवक्षा से पदार्थों के धर्मों का प्रतिपादन करना विकलादेश है। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्तविध भेद के सकलादेश और विकलादेश प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभगी के साथ सात उपभेदो मे विभक्त हैं।[3]

स्याद्वाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु का स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्तित्व है तथा पर द्रव्य, क्षेत्रकाल, भाव की अपेक्षा नास्तित्व है। जिस अपेक्षा से वस्तु में अस्तित्व है, उसी अपेक्षा से वस्तु मे नास्तित्व नही है। अतएव सप्तभगीनय मे विरोध, वैयधिकरण, अनवस्था, सकर, व्यतिकर, सशय, अप्रतिपति और अभाव नामक दोष नही आ सकते।

अनन्तधर्मात्मक पदार्थ के अनन्त गुणो का निरूपण करने के लिये अनन्त भगो की आवश्यकता होनी चाहिए किन्तु किसी पदार्थ के गुणो का निरूपण करने की सम्भाव्य शैलियो पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि उसका निरूपण सात भगो द्वारा विधिवत् किया जा सकता है। यही सप्तभमगीय है।[4] 'प्रश्नवशात् एकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभगी'[5] अर्थात् पदार्थ के जिस तात्त्विक अर्थ को समझना अपेक्षित हो उसी के आधीन एक ही वस्तु में पाये जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्यमान और अविद्यमान किन्तु विरोध रहित भावों की विधि और प्रतिषेध के रूप मे होने वाली कल्पना को सप्तभगी कहते हैं। जीव आदि पदार्थों में अस्तित्व आदि धर्मों के विषय मे प्रश्न उठने पर, विरोध रहित प्रत्यक्ष आदि से अविरुद्ध, अलग-अलग अथवा सम्मिलित विधि और निषेध धर्मों के विचार पूर्वक स्यात् शब्द से युक्त सात प्रकार की वचन रचना को सप्तभंगी कहते हैं।[6]

भग सख्या सात ही क्यो कही इस विषय में विमलदास ने व्याख्या की है कि प्रतिपाद्य प्रश्न सात प्रकार के हैं अत सप्तभगों का निवेश किया गया। जिज्ञासा के प्रकार सात होने से प्राश्निकनिष्ठजिज्ञासाप्रतिपादकवाक्यरूप प्रश्न सात होते हैं। सप्तविध

सशयोत्पत्ति होने से जिज्ञासा सात ही प्रकार की है तथा सशय के विषयीभूत धर्म कथंचित्सत्व, कथचिदसत्व, क्रमार्पित उभय, अवक्तव्यत्व, कथचित्सत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व, कथचित्, असत्वविशिष्ट अवक्तव्यत्व, क्रम से उभयविशिष्ट अवक्तव्यत्व रूप सात ही होने से सशय सात प्रकार के हैं।[७] इन सातो धर्मों के प्रतिपादक सप्त-वाक्यो को सप्त-भगी' कहते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने सप्त भगो का निरूपण अपनी समस्त कृतियो मे से केवल पञ्चास्तिकाय मे ही किया है—

"सिय अत्थि णत्थि उहय उव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदय।
दव्वं खु सत्तभग आदेशवसेण संभवदि॥"[८]

सप्तभग निम्नलिखित हैं—

(१) स्यादस्ति (५) स्यादस्त्यवक्तव्य
(२) स्यान्नास्ति (६) स्यान्नास्त्यवक्तव्य
(३) स्यादस्तिनास्ति (७) स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य
(४) स्यादवक्तव्य

प्रवचनसार मे भी भग निरूपण किया है।[९] 'सप्ताना भगाना समाहार सप्तभगी' अर्थात् सप्तभगो के समूह को सप्तभगी कहते हैं।

स्यादस्ति जीव—कहने पर किसी अपेक्षा से जीव अस्तिरूप ही है। इस भग में द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता और पर्यायार्थिक नय की गौणता है। 'स्यादस्ति जीव' कहने का अर्थ है जीव के अस्तित्व धर्म की प्रधानता और नास्तित्व धर्म की गौणता। जीव स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से विद्यमान है और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नही।

स्यान्नास्ति जीव.—किसी अपेक्षा से जीव नास्ति रूप ही है। इस भग मे पर्यायार्थिक नय की मुख्यता और द्रव्यार्थिक नय की गौणता है। जीव परसत्ता के अभाव की मुख्यता से नास्ति रूप है तथा स्वसत्ता के भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है किन्तु यह भाव गौण है। यदि पदार्थ मे परसत्ता का अभाव न माना जाए, तो समस्त पदार्थ एक रूप हो जाएँगे अत एव इस भग की उपादेयता है।

स्यादस्ति च नास्ति च जीव—जीव कथचित् अस्ति और नास्तिस्वरूप है। इस भग मे द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनो नयो की प्रधानता है। जिस समय वक्ता की अस्ति और नास्ति दोनो धर्मों को साथ-साथ कथन करने की विवक्षा होती है, उस समय यह तृतीय भग उपयोगी है।

स्यादवक्तव्यः जीवः—जीव कथचित् अवक्तव्य है। इस कथन मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयो की अप्रधानता है। अनन्तधर्मा पदार्थ के अनन्त गुणो का निरूपण कर सकने की अशक्यता इस भग की उपादेयता मे हेतु है।

स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च जीवः—जीव कथचित् अस्तिरूप और अवक्तव्य रूप है। किंचित् द्रव्यार्थ अथवा पर्यायार्थ विशेष के आश्रय से जीव अस्ति स्वरूप है तथा

द्रव्यसामान्य और पर्याय सामान्य अथवा द्रव्य विशेष और पर्याय-विशेष की एक साथ अभिन्न विवक्षा से जीव अवक्तव्य स्वरूप है। यथा—जीवत्व या मनुष्यत्व की अपेक्षा से आत्मा अस्तित्व स्वरूप है तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्य की अपेक्षा वस्तु के भाव और अवस्तु के अभाव इनके एक साथ अभेद की अपेक्षा आत्मा अवक्तव्य है।

स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च जीव.—जीव कथचित् नास्ति और अवक्तव्य रूप है। जीव पर्याय की अपेक्षा से नास्ति रूप है तथा अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मों की एक साथ अभेद विवक्षा से अवक्तव्य स्वरूप है।

स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीवः—जीव कथचित् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य रूप है। जीव द्रव्य की अपेक्षा अस्ति, पर्याय की अपेक्षा नास्ति और द्रव्य-पर्याय दोनो की एक साथ अपेक्षा से अवक्तव्य रूप है। इस भग मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो की प्रधानता और अप्रधानता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार उपर्युक्त सप्त भगो की आवश्यकता सत्य के निकट पहुँचने के लिए है क्योकि प्रत्येक द्रव्य अनन्तात पर्यायो मे रूपान्तरित होता रहता है और ससारी जीव अपनी इन्द्रियो के माध्यम से एक समय मे एक ही पर्याय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अनन्तगुणधर्मात्मक द्रव्य के विभिन्न गुणो का मुख्यता तथा गौणता की दृष्टि से सापेक्ष कथन सप्तभगी द्वारा ही विधिवत् किया जा सकता है। इस कथन की सर्वाधिक विशेषता यह है कि जिस सन्दर्भ मे कथन किया जा रहा है उससे सम्बद्ध गुण को मुख्यता प्रदान की जाती है तथा शेष गुणो को गौणता। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी समस्त रचनाओ मे द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दृष्टि के माध्यम से शुद्ध द्रव्य के रूप मे आत्मा के स्वरूप को तथा विभिन्न पर्यायो को धारण करने वाले ससारी आत्मा के स्वरूप को निरूपित किया है। द्रव्य की दृष्टि से आत्मा जैसा है उस रूप मे उसका वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चयनय के अन्तर्गत किया है तथा अनन्तानन्त पर्याय रूप, जिस प्रकार वह रूपान्तरित होता है उस रूप मे उसका वर्णन उन्होने व्यवहारनय के अन्तर्गत किया है।

अनन्त गुणो से युक्त ज्ञेय के अनन्त गुणो मे से प्रधानता की दृष्टि से किसी भी गुण का कथन नयवाद द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार नय समग्रता के केवल एक अश का ही ज्ञान कराता है। किसी भी द्रव्य मे अनन्तगुण सम्भव हो सकते हैं अत. उनके कथन हेतु अनन्त नयो की आवश्यकता होगी लेकिन उनका वर्गीकरण विभिन्न दार्शनिको ने प्रमुख वर्गों मे किया है जैसे सात नय, दो नय[10] इत्यादि। उमास्वाति ने सात नयो का उल्लेख किया है।[11] उमास्वाति के पश्चात् समन्तभद्र ने नयो का उल्लेख अनेक स्थलो पर किया है किन्तु कहीं पर भी नयो की सख्या सात नही गिनाई है। इनके परवर्ती लेखको सिद्धसेन, अकलक, पूज्यपाद आदि ने तत्त्वार्थसूत्र मे निर्दिष्ट इन नयो का विस्तार से वर्णन किया है।

श्वेताम्बर परम्परा मे अर्द्धमागधी मे लिपिबद्ध आगम ग्रन्थो में दृष्टिकोण अर्थ में नय शब्द का उल्लेख मिलता है, प्रज्ञप्ति मे निश्चयनय और व्यवहारनय का उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओ समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय और बारस अणुवेक्खा मे कुन्दकुन्दाचार्य ने इनका उल्लेख अनेक बार किया

है। कुछ स्थलो पर उन्होंने परमार्थनय तथा शुद्धनय का भी उल्लेख किया है जो कि पूर्वापर सन्दर्भ की अपेक्षा से निश्चयनय के तुल्य प्रतीत होते हैं।

इन विभिन्न दृष्टिकोणो अथवा नयो का सश्लेषण अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसमे प्रत्येक दृष्टिकोण अपने महत्त्व को बनाए रख सकता है। यह कार्य स्याद्वाद द्वारा ही सम्पन्न होता है। स्याद्वाद या सप्तभगी के उल्लेख सम्बन्धी तत्त्व भगवतीसूत्र मे भी मिलते हैं।[१२] ज्ञातृधर्मकथा मे एक ही वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा दो, किसी अपेक्षा से अवक्तव्य आदि कहा है।[१३]

उपाध्ये, ए० एन० ने स्याद्वाद मे नयवाद के महत्त्व को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि स्याद्वाद नयवाद का उपसिद्धान्त है। नयवाद विश्लेषणात्मक है तथा मुख्यत मौखिक होता है। नयवाद तथा स्याद्वाद मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है अत नय सिद्धान्त के अभाव मे स्याद्वाद पगु हो जाएगा। इसी प्रकार स्याद्वाद के अभाव मे नयसिद्धान्त का कोई व्यावहारिक महत्त्व नही रहेगा। स्याद्वाद द्वारा कथन की प्रक्रिया मे पृथक्-पृथक् निरपेक्ष दृष्टिकोणो मे सामजस्य स्थापित किया जाता हैं।[१४]

सक्षेपतः स्याद्वाद उस ज्ञान की ओर उन्मुख कराने वाला है जिसके द्वारा ससारी जीव सत्य तक पहुँचता है। ज्ञेय की विभिन्न पर्यायो का ज्ञान प्राप्त करके ही ज्ञाता उसके विषय मे आंशिक ज्ञान प्राप्त करता है और यह ज्ञान उस समय पूर्णता को प्राप्त करता है जब आत्मा सर्वज्ञ की स्थिति तक पहुंच जाता है। सर्वज्ञता वह स्थिति है जिसमे आत्मा एक द्रव्य की समस्त पर्यायो को जान सकने मे सक्षम होता है अत सर्वज्ञ समस्त द्रव्यो की समस्त पर्यायो को भी जानता है।[१५] कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इस बात पर बल दिया है कि जो एक शुद्ध-आत्म-द्रव्य को जानता है वह अन्तरहित समस्त द्रव्यो के समूह को भी जानता है।[१६]

जैन दर्शन मे सर्वज्ञ के ज्ञान को ससारी जीवो को उपलब्ध कराने का प्रावधान मिलता है। सर्वज्ञ तीर्थंकर जो सत्य का प्रत्यक्ष अवलोकन करते हैं वे ससारी जीवो को उस सम्यग्ज्ञान का परिचय प्रदान करते हैं। ससारी जीव स्याद्वाद के माध्यम से ही उस ज्ञान को ग्रहण कर पाते हैं क्योंकि अनन्तगुणधर्मात्मक द्रव्य मे परस्पर विरोधी गुणो की स्थिति को स्याद्वाद ही समझा जा सकता है।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा के समस्त आवरणीय कर्म पूर्णत नष्ट हो जाते हैं तथा इस प्रकार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर आत्मा का ज्ञान अबाध रूप से व्यक्त होता है। केवल ज्ञान द्वारा जीव अपनी आत्मा की समग्रता को जानता है और उसके अनन्त गुणो का विस्तार उसके लिए अनुमान का विषय न रहकर आत्मानुभव का विषय बन जाता है। केवलज्ञानी आत्मा अपनी आत्मा की अनन्त पर्यायों को उनके अनन्तगुणो सहित युगपत् देखता तथा जानता है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार वह आत्मा जो एक निज तत्त्व को उसकी समग्रता मे जानता है वह अनन्तानन्त ज्ञेयो की विभिन्न पर्यायो को भी जानता है। ज्ञान अनन्त होने के कारण सर्वव्यापी हो जाता है। ज्ञान को सर्वव्यापी इस दृष्टि से कहा जाता है कि जहाँ कहीं भी जो द्रव्य स्थित है वह उस ज्ञान मे झलक जाता है। इस प्रकार यद्यपि न ज्ञान ज्ञेय मे जाता है न ज्ञेय ज्ञान मे आता है तथापि

केवलज्ञान के अनन्त ज्ञेयों को उसी प्रकार जाना जाता है जैसे चक्षु द्वारा सम्मुख वस्तु को जाना जाता है। केवलज्ञान विलक्षण है क्योंकि उसमे समस्त ज्ञेयों की अतीत अनागत तथा वर्तमान पर्यायें युगपत् प्रतिबिम्बित होती हैं। ससारी आत्मा का ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष होने से सीमित होता है, तथापि ऐसे अनेक लौकिक उदाहरण पाए जाते हैं जिनमें साधक ससार में लिप्त रहते हुए भी विशिष्ट साधना द्वारा अतीत अथवा अनागत घटनाओं का अनुमान लगा पाता है। यदि ससारी जीव द्वारा अतीत व अनागत घटनाओं को दृष्टिगत कर सकना सम्भव है तो यह मानने का कोई कारण नहीं है कि केवल ज्ञान में समस्त ज्ञेयो की त्रिकालवर्ती पर्यायें युगपत् प्रतिबिम्बित नहीं हो सकतीं। केवलज्ञान द्वारा आत्मा के अनन्त गुणो का वैभव आत्मा की सिद्धावस्था या अरिहन्तावस्था में ही अनुभव करना सम्भव है, संसारी जीव उसके अंशमात्र का भी अनुभव कर सकने मे असमर्थ रहते हैं। आत्मा अनन्तगुणो से युक्त है अत. उसके समस्त गुणों का कथन वाणी द्वारा सम्भव नही। यदि वाणी आत्मा के गुणो का छोर पा सके तो आत्मा के गुण अनन्त नहीं रह जाएँगे। ससारी जीवो को आत्मा के गुणो से परिचित कराने का केवल मात्र एक ही सम्भव तरीका है कि उसके सम्मुख एक समय मे उतने ही गुणों का वर्णन किया जाए जितने वह बोधगम्य कर ले उसके पश्चात् ही दूसरे गुणो का कथन किया जाए। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस शैली के अनुसार जिस समय आत्मा के किसी एक गुण का कथन किया जाता है उस समय उसके शेष गुणो का लोप नही हो जाता। कथन मे उसी गुण को प्रधानता दी जाती है जिसे ससारी आत्मा को बोधगम्य कराना होता है। यह सत्य है कि इस प्रकार के कथनों मे अलग-अलग गुणो को प्रधानता दी जाती है लेकिन उन गुणो के साथ अन्य सहवर्ती गुणो का निषेध नहीं किया जाता। तत्त्वज्ञान निरूपण की यह शैली स्याद्वाद कहलाती है। इस शैली द्वारा उत्तरोत्तर द्रव्य के विभिन्न गुणो की जानकारी एकत्रित होती रहती है किन्तु ससारी जीव की स्मरण शक्ति एव मस्तिष्क की सीमाएँ निर्धारित होने के कारण यह जानकारी भी एक निश्चित सीमा तक ही सकलित की जा सकती है। स्याद्वाद द्वारा एकत्रित आत्मद्रव्यविषयक विभिन्न गुणो के ज्ञान को अनन्तता तक विस्तीर्ण करने का केवल एक मार्ग है और वह है कर्मों के उत्तरोत्तर क्षय द्वारा तथा नवीन कर्मबन्ध को रोककर ज्ञान पर आच्छादित समस्त आवरणो को दूर कर दिया जाए जिससे वह अपने अनन्त विस्तार के साथ व्यक्त हो सके।

किसी सांसारिक वस्तु के विभिन्न गुणो के सम्बन्ध मे जानकारी एकत्रित करने तथा निर्मल आत्मा के गुणो का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने मे एक मूलभूत अन्तर है। आत्म-विषयक ज्ञान द्वारा आत्मा उत्तरोत्तर निर्मलता की ओर अग्रसर होता है जबकि परविषयक ज्ञान स्वपरविवेक उत्पन्न करता है। स्वपरविवेक द्वारा निजात्म द्रव्य के प्रति यथार्थ श्रद्धान में वृद्धि होती है। इसकी तुलना मे निजात्म द्रव्य सम्बन्धी अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने से निजद्रव्य के यथार्थ ज्ञान मे वृद्धि होती है। ससारी जीव को पर अथवा स्वजीव के प्रति सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान क्रमिक रूप से होता है। किन्तु जिस समय समस्त घातिकर्मों का क्षय हो जाता है उस समय सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान युगपत् होता है अन्तराल से नहीं। इसका कारण यह है कि अब ज्ञान अपने अनन्त विस्तार के

साथ व्यक्त हो चुका हो तो ज्ञेय का ज्ञान आत्मा प्रत्यक्ष ही प्राप्त करता है, विलम्ब उत्पन्न करने वाले किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं रह जाती। सम्यग्दर्शनधारी जीव को तत्काल ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हो यह आवश्यक नही किन्तु जो जीव सम्यग्ज्ञान का धारक होगा उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ सम्यग्दर्शन प्राप्त करना अनिवार्य है। सम्यक् श्रद्धान के अभाव मे कर्मों से मुक्ति सम्भव नही और कर्मों से बद्ध रहते हुए आत्मा द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही। जो जीव सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान से युक्त है उसे भी सम्यग्चारित्र से युक्त हुए बिना केवल ज्ञान प्राप्त नही होता। सम्यग्चारित्र की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन तथा ज्ञान पूर्वापेक्षा हैं अत यह शका पूर्णत निर्मूल है कि सम्यक्चारित्र की कसौटी पर खरा उतरने वाले केवल ज्ञानी को पहले सम्यग्दर्शन होता है अथवा ज्ञान। वास्तविकता तो यह है कि केवल ज्ञान से अव्यवहित क्षण पूर्व केवल ज्ञान के लिए इन दोनो की उपस्थिति आवश्यक है इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने केवल ज्ञानी के दर्शन व ज्ञान युगपत् होने का निदश किया है।[१७] इस प्रकार स्याद्वाद वह मार्ग दर्शाता है जिसके द्वारा आत्मा उत्तरोत्तर निर्मलता की ओर अग्रसर होता है तथा आत्मस्वरूप को अधिकाधिक पहचानता जाता है।

स्याद्वाद के आलोचक स्याद्वाद के कथनो द्वारा प्राप्त ज्ञान को विभिन्न आशिक सत्यों का सकलन मात्र कहते हैं।[१८] उनके अनुसार स्याद्वाद जिज्ञासु को आशिक अथवा अपूर्ण सत्य तक पहुँचाता है पूर्ण सत्य तक नही। किन्तु यह कथन ठीक प्रतीत नही होता। अनन्तगुण धर्मात्मक द्रव्य के अनन्तगुणो का निरूपण स्याद्वाद शैली द्वारा अनन्तकाल तक किया जा सकना सम्भव है किन्तु सीमित आयु वाली पर्याय के धारक जिज्ञासु द्वारा अनादि अनन्त गुणो के कथनो को एक साथ सहेज पाना सम्भव नही है। इसमे दोष स्याद्वाद का नही अपितु ससारी आत्मा द्वारा कर्मबन्धन के कारण निज पर निज के द्वारा आरोपित सीमाओ का है। स्याद्वाद सप्तभगी के द्वारा स्वपरविवेक उत्पन्न कर ससारी आत्मा को यह चुनौती देता है कि वह अपने ज्ञान का उत्तरोत्तर विस्तार करे जिससे स्व-द्रव्य सम्बन्धित अधिकाधिक आशिक सत्यो का उसे ज्ञान प्राप्त हो सके। केवली द्वारा स्वानुभव पर आधारित आत्म-निरूपण की व्याख्या मे स्याद्वाद की उपयोगिता यह है कि वह ससारी जीव को निजद्रव्यविषयक अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करते हुए साथ ही साथ कर्मबन्धन को काटते हुए केवलज्ञान के इतने निकट पहुँचा देता है कि आशिक सत्यो के उस अनन्त पुंज मे अन्तिम आशिक सत्य भी समाहित होता प्रतीत होता है। यही वह अवस्था है जब आत्मा आत्मानुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है और स्याद्वाद कथन शैली तथा नयपक्ष स्वत ही महत्त्वहीन हो पीछे छूट जाते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार को नयपक्षातिक्रात निर्दिष्ट किया है।[१९] मेरे विचार मे ऐसा इस दृष्टि से कहा गया है कि नय की अपेक्षा से कथन एक गुण की मुख्यता तथा शेष की गौणता से किया जाता है। इस प्रकार किसी द्रव्य से सम्बन्धित सभी गुणो से सम्बद्ध कथनो का स्याद्वाद द्वारा सश्लेषण करने पर उस द्रव्य को उसकी यथार्थ सत्ता के काफी निकट तक जाना जा सकता है। समयसार अथवा निर्मल आत्मा अनुभूति का विषय है, उसके वास्तविक स्वरूप को अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है।[२०] विभिन्न

नयो की दृष्टि के संश्लेषण द्वारा आत्मानुभव की स्थिति में नयपक्ष का आग्रह तो स्वत ही छूट जाता है अत समयसार पक्षातिक्रांत है।

कर्म सिद्धान्त

चिरकाल से दार्शनिकों के लिए जिज्ञासा का विषय रहा है कि क्या जीवात्मा को स्वतन्त्रता प्राप्त है अथवा उसे दैव निर्दिष्ट या प्रारब्धानुसार ही जीवन व्यतीत करने हेतु बाध्य होना होगा। कुछ विचारक यह मत रखते हैं कि जीव को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है और उसे ईश्वर अथवा दैव द्वारा निर्दिष्ट सुख या दु ख भोगने होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव अपना मार्ग निर्धारित करने मे स्वतन्त्र है, कोई बाह्य सत्ता उसे सुख अथवा दु ख प्रदान नही करती। वरन् सुख या दु ख की प्राप्ति उसे कर्मों के फल अनुरूप होती है। इस प्रकार जैन दर्शन की विशिष्टता है कि वह आत्मा को किसी स्रष्टा के अधीन न मानकर उसे स्व का कर्ता तथा भोक्ता मानता है। कोई भी आत्मा किसी अन्य द्वारा किये गए कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य नहीं है। विज्ञान में जिस प्रकार क्रिया तथा प्रतिक्रिया का नियम होता है, जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक कर्म का एक निश्चित फल होता है। जिस प्रकार बबूल का बीज बोने पर आम की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार अशुभ कर्मों द्वारा सुख की प्राप्ति असम्भव है।

प्रत्येक आत्मा के समस्त व्यापार एक निश्चित सिद्धान्तानुसार उसे (आत्मा को) कर्मों से आबद्ध करते हैं। जीव के भावी जीवन तथा आगामी भव को भी निर्धारित करने वाला यह सिद्धान्त कर्म का सिद्धात कहलाता है।

सम्पूर्ण जैन दर्शन ही कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है और यह सिद्धांत ही जैन दर्शन की विशेषता है।

कर्म का स्वरूप

कर्म शब्द अनेकार्थक है, इससे कर्मकारक, क्रिया आदि तथा जीव के बधने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध का बोध होता है।[२१] कर्म शब्द कर्ता, कर्म और भाव तीनों अर्थों मे निष्पन्न होता है।[२२]

"जीव परतन्त्रीकुर्वन्ति, परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्या-दर्शनादिपरिणामैं क्रियन्ते इति कर्माणि"[२३] अर्थात् जो जीव को परतन्त्र करते हैं या जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं, अथवा जीव के द्वारा मिथ्या-दर्शनादि परिणामो से उपार्जित होने वाले कर्म हैं।

कर्म के भेद-प्रभेद

कर्मों का विभाजन मुख्यत दो भागों में किया जा सकता है[२४]—

(१) भाव कर्म

(२) द्रव्य कर्म

रागादि रूप परिणति होने पर जीव के प्रदेशो में परिस्पन्द होना और पुद्गल

कर्मवर्गणाओ का आकृष्ट होना भाव कर्म है। जीव से बद्ध होने वाला पुद्गलपिण्ड द्रव्य-कर्म कहलाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की जिस रागादि परिणति के कारण आत्मा और कर्मों का सयोग होता है उसे भाव कर्म कहते हैं तथा कर्मों और जीव से बद्ध होने वाली पुद्गलकर्मवर्गणाएँ द्रव्य कर्म है।[२५]

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय रूप भाव जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं।[२६] अजीव रूप मिथ्यात्व योग, अविरति, अज्ञान पुद्गल कर्म हैं और जीव रूप अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व उपयोग है,[२७] अर्थात् मूर्तपुद्गल कर्म से भिन्न चैतन्यपरिणाम के विकार रूप हैं, वे जीव कर्म हैं।

रागादि परिणतिरूप क्रिया आत्मा से होती है इसलिए इस क्रिया का नाम 'भाव कर्म' है, उसके निमित्त से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप परिणमन करता है इस कारण पुदगल को भी कर्म कहते हैं।[२८]

जीव अपनी चेतना का उपयोग जिस रूप परिणमन करने मे करता है उसकी चेतना उस परिणमन से सम्बद्ध कर्मों के अनुरूप कर्मचेतना की सज्ञा से अभिहित होती है, इसका मूल कारण परिणमन के समय आत्मा की तन्मयता है। इस प्रकार कर्मचेतना और भाव कर्म में अभेद कहा जा सकता है।[२९]

जीव के पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के अनेक प्रभेद हैं। आठ प्रकार के कर्मस्कन्धो के भेद से द्रव्य कर्म कहे जाते हैं[३०]—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म
(२) दर्शनावरणीय कर्म
(३) अन्तराय कर्म
(४) मोहनीय कर्म
(५) वेदनीय कर्म
(६) आयु कर्म
(७) नाम कर्म
(८) गोत्र कर्म

आत्मा की जानने की शक्ति को ज्ञान कहते हैं और इस ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म को ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। आत्मा के दर्शनगुण को आवृत्त करने वाले कर्म को दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव अपनी शक्ति अथवा गुणो का मनोवांछित उपयोग नहीं कर पाता उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। सासारिक पदार्थों मे आत्मा को मोहित कराने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं। इन कर्मों के कारण आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुणो का आच्छादन हो जाने से आत्मा के हित का घात होता है अत इन्हे घाती कर्म कहते हैं। इन चार घाती कर्मों के भी (१) देशघाती और (२) सर्वघाती दो भेद है। जो आत्म गुणो के एक देश के लिए घातक हैं वे कर्म देशघाती हैं तथा जो आत्मगुणों के लिए पूर्णतया घातक हैं उन्हें सर्वघाती कर्म कहते हैं। अन्य चार अघाती कर्म हैं। ये कर्म आत्मगुणो का घात करने में असमर्थ हैं।

सुख और दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म को वेदनीय कर्म कहते हैं। मनुष्य-तिर्यंचादि को किसी एक शरीर में नियत काल तक रोकने वाले कर्म को आयु कर्म कहते हैं। मनुष्य, तिर्यंच आदि के शरीर, अंग, उपांग बनाने वाले कर्म को नाम कर्म कहते हैं। ऊँच-नीच कुलो मे उत्पन्न कराने वाले कर्म गोत्रकर्म कहलाते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्मों की निर्जरा के लिए प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का निर्देश दिया है। प्रतिक्रमण के अन्तर्गत अतीत काल में आत्मा द्वारा किये गए परिणमन के फलस्वरूप बद्ध शुभाशुभ कर्मों की निर्जरा के लिए मुमुक्षु कृतकारित-अनुमोदित और मन-वचन-काया के योग से हुए उक्त कर्मों के निष्फल होने की भावना करता है। प्रत्याख्यान के अन्तर्गत भविष्य मे मन-वचन और काया द्वारा ऐसे कर्मों को स्वय न करने, दूसरो से न करवाने तथा दूसरो द्वारा स्वत. किए जाने पर उनकी अनुमोदना न करने का सकल्प किया जाता है। आलोचना में वर्तमान काल में किए जाने वाले कर्मों के सम्बन्ध में मन वचन-काया द्वारा ऐसे कर्मों को 'न मैं स्वय करता हूँ, न दूसरो से करवाता हूँ और न ही दूसरो द्वारा किए जाने पर अनुमोदन करता हूँ' इस प्रकार चारित्र पालन किया जाता है।

अमृतचन्द्राचार्य ने भूत, वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी इस कर्म निर्जरा के अन्तर्गत क्रमश प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान सम्बन्धी प्रत्येक के ४९ भगो का प्रतिपादन किया है।[31]

आठ मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियो का वर्णन करते हुए समयसार में कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियाँ बताई गई हैं जिनसे ज्ञानावरणीय कर्म की ५, दर्शनावरणीयकर्म की ९, वेदनीयकर्म की ६, मोहनीयकर्म की २८, आयुकर्म की ४, नामकर्म की ९३, गोत्र की २ तथा अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियाँ हैं।[32] इन १४८ कर्म प्रकृतियों की निर्जरा के लिए मुमुक्षु चिन्तन करता है कि इन कर्म प्रकृतियो के अनुरूप बद्ध कर्म फल दिए बिना ही निर्जरा को प्राप्त हो और वह निज चैतन्यात्मा के अचल स्वरूप का अवलम्बन करे तथा उसका ही अनुभव करे।[33]

कर्म की प्रकृति एव उसकी उत्तर प्रकृतियो का ज्ञान संसारी जीव को कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है आत्म चिन्तन में उत्पन्न होने वाले विभिन्न व्यवधानो का कारण उसके सम्मुख स्पष्ट होता जाता है और वह इन व्यवधानो के कारणभूत कर्मों का क्षय करने के लिए अधिकाधिक कृत सकल्प होता है। कर्मों की प्रकृति का ज्ञान उसमे कर्म सिद्धान्त के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करता है। कर्म सिद्धान्त का जैन दर्शन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसका ज्ञान मुमुक्षु जीव को मोक्ष प्राप्ति मे अत्यधिक सहायक होता है।

कर्म बन्धन तथा कर्म सिद्धान्त की उपादेयता

जैन-दर्शन मे कर्म सम्बन्धी मान्यताओं का क्या महत्त्व है ? अथवा कर्म को मानने की आवश्यकता क्या है ? इसका उत्तर जैनागम मे इस प्रकार मिलता है कि तर्क की कसौटी पर जाँचे जाने से ससार का स्रष्टा ईश्वर अथवा कोई इतर सत्ता प्रमाणित नहीं

हो पाती, इसके विपरीत कर्म सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक प्राणी को अपने व्यक्तिगत जगत् का स्रष्टा माना गया है। इस मान्यता के आधार पर जीव अपने शरीर आदि का स्रष्टा स्वय ही है कोई अन्य बाह्य सत्ता उसका स्रष्टा नहीं है। कर्म सिद्धान्त का विवेचन तथा मनन इस सन्दर्भ में उत्पन्न शकाओ का समुचित निराकरण करने मे समर्थ है।

आत्मा की देहादि पर्याय कर्मबन्धनो के कारण ही है। शुद्धावस्था मे आत्मा समस्त कर्मबन्धनों से पूर्णतया मुक्त होता है[३४] और स्वभाव में परिणमन करता है। इसके प्रतिकूल समस्त ससारी आत्माएँ अपनी अशुद्धावस्था मे प्रतिसमय राग द्वेष से युक्त होती हैं जिनके कारण उनमे परिस्पन्द रूप क्रिया होती रहती है। विषय कषायो जनित इस क्रिया के निमित्त से एक प्रकार का बीजभूत अचेतन द्रव्य जिसे पुद्गल कहते हैं आकर्षित होकर आत्मा के प्रदेशो के साथ बन्ध आता है, यह पुद्गल द्रव्य जो आत्मा के राग-द्वेष युक्त परिणामो का निमित्त पाकर आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और आत्मप्रदेशो में लगकर उसे मोहयुक्त करता है, कर्म कहलाता है। परमात्म प्रकाश मे भी कर्म की परिभाषा योगीन्दुदेव निम्न प्रकार से करते हैं—

> विसय कसायहि रंगियहं जे अणुया लग्गंति।
> जीव-पएसहं मोहियहृ ते जिण कम्म भणंति ॥[३५]

कर्मबन्धन की प्रक्रिया को इस प्रकार कहा जा सकता है—राग द्वेष आदि कषायो की तीव्रता के अनुरूप ससारी आत्मा के द्वारा शुभ तथा अशुभ कार्यों का सम्पादन मनसा-वाचा-कर्मणा होता है जिससे आत्मप्रदेशो मे परिस्पन्दन उत्पन्न होता है और पुद्गल कर्म वर्गणाएँ आकर्षित होती हैं,[३६] इन कर्मवर्गणाओ का आत्मप्रदेशो से बन्धन एक निश्चय अवधि के लिए होता है, जिसके पूर्ण होने पर ये कर्म उदय मे आते हैं और तत्पश्चात् ये कर्मफल देकर क्षीण हो जाते हैं।[३७]

कर्म मूर्त्त[३८] एव सूक्ष्म हैं तथा आत्मा अमूर्त्त एवं सूक्ष्म हैं अत चर्मचक्षु द्वारा कर्म-बन्धन की प्रक्रिया को एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है—नीर एव क्षीर मूलत पृथक् होते हुए भी सम्मिश्रित करने पर एक रूप प्रतीत होते हैं उसी प्रकार चेतन द्रव्य जीव (आत्मा), अचेतनद्रव्य पुद्गल कर्मवर्गणाओ से बद्ध प्रतीत होता है। जिस प्रकार मिश्रित नीर-क्षीर को भी पृथक् किया जा सकता है उसी प्रकार आत्मा भी कर्म-बन्धन से मुक्त होकर शुद्धावस्था प्राप्त कर सकता है। मिश्रण मे क्षीर की सत्ता वस्तुत नीर से पूर्णत पृथक् है उसी प्रकार कर्मों से बद्ध आत्मा मे भी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा कर्मों से पूर्णत पृथक् है, आत्मा की कर्मबद्धता पर्याय दृष्टि से ही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी कर्मबन्धन की यह प्रक्रिया समझाई जा सकती है। जब दो भिन्न रासायनिक तत्त्व रासायनिक प्रक्रिया के अनुकूल परिस्थितियों मे परस्पर सयुक्त होते हैं तो उन दोनो तत्त्वो के पृथक्-पृथक् गुणो से पूर्णतया विलक्षण गुण वाले एक रासायनिक यौगिक की उत्पत्ति होती है। यौगिक के कारणभूत रासायनिक तत्त्वो को भौतिक प्रक्रिया द्वारा पृथक् नहीं किया जा सकता तथा उन्हें पुन प्राप्त करने हेतु जटिल रासायनिक क्रियाओ की आवश्यकता होती है।

आत्मा की अशुद्ध पर्याय के कारणभूत दो घटक हैं—पुद्गल एवं जीव। जीव अपनी शुद्धावस्था में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य इत्यादि से पूर्णतया रहित होता है।[39] रागद्वेषादि कषायवृत्ति न तो शुद्धात्मा की हैं न ही पुद्गल की। इसी प्रकार सीमितज्ञान, सुख एव दु:ख की अनुभूति तथा सीमित शक्ति न तो शुद्धात्मा के लक्षण हैं न पुदगल के। ये सभी लक्षण ससारी आत्मा के लक्षण हैं जो कि शुद्धात्मा की कर्मों से बद्ध पर्याय है।[40] लेकिन यहाँ एक बात विचारणीय है कि रासायनिक प्रक्रिया मे रसायनशास्त्री स्वेच्छानुसार दो तत्त्वों को सयुक्त कर यौगिक उत्पन्न कर सकता है किन्तु कोई भी शक्ति शुद्धात्मा को पुदगल कर्मों से युक्त कर संसारी आत्मा में परिणत नहीं कर सकता। ससारी आत्मा के कार्य बन्धन अनादि काल से है। उसकी इस पर्याय का कोई कर्ता नही है। उसकी इस पर्याय को सादि सान्त मानने पर अनेको विसगतियाँ उत्पन्न होती है जैसे—यदि शुद्ध आत्मा को कर्मों के ससर्ग से (बाद मे) ससारी आत्मा के रूप मे परिणत किया गया हो तो शुद्ध आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न नही माना जा सकता और मोक्ष का प्रयोजन ही नही रह जाता शुद्धात्मा को कर्मों से सयुक्त होने की न तो अपेक्षा है और न ही आवश्यकता। वह अपने आप में पूर्ण परम आनन्दमय एक ऐसी सत्ता है जिसका अभीष्ट अश मात्र भी शेष नही रहता।

दूसरी प्रमुख विसंगति यह उत्पन्न होगी कि शुद्ध आत्मा और कर्मों को संयुक्त करने वाली किसी बाह्य सत्ता का अस्तित्व मानना होगा जो और कर्मों के बन्ध का कर्ता हो।

तीसरा प्रश्न यह होगा कि आत्मा व कर्मबन्ध के कर्ता का स्रष्टा कौन था? किस प्रयोजन से शुद्ध आत्मा को उसने कर्मों से आबद्ध किया इत्यादि। यदि इस कर्ता को स्रष्टा की सज्ञा दी जाए और अनादि माना जाए तो भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित रह जाएँगे। इसकी अपेक्षा तो आत्मा व कर्मों का सम्बन्ध ससारी आत्मा के रूप मे अनादि काल से मानना ही अधिक तर्क सगत होगा। वैसे भी प्रकृति मे विभिन्न धातुएं अशुद्ध रूप मे विद्यमान पाई जाती हैं जिन्हे धातुकर्म की विभिन्न क्रियाओ द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। शुद्ध धातु को कोई भी सप्रयोजन अशुद्धियो से युक्त कर पृथ्वी के गर्भ मे अवस्थित करने नही जाता है। वैज्ञानिकों की समस्त चेष्टाएँ उत्खनन द्वारा धातु के अयस्को को प्राप्त करने तथा अयस्को से धातु के निष्कर्षण पर ही केन्द्रित होती है, इसी प्रकार के अनादि काल से जीव शुद्धावस्था की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहा है। उस की सतत अभिलाषा आत्मा से कर्म रूपी मल को दूर करने की रही है।[41] जिस प्रकार से वैज्ञानिको द्वारा किये गए धातुकर्म सम्बन्धी अनुसन्धान धातु निष्कर्षण के क्षेत्र मे प्रामाणिक माने जाते है उसी प्रकार से अरिहन्तो द्वारा निर्दिष्ट आत्मशुद्धि के उपाय मुमुक्षुओ द्वारा प्रामाणिक माने जाते हैं। सम्पूर्ण जैनागम अरिहन्तो के उपदेशो का सकलित रूप है। अरिहन्त अवस्था मे आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र से युक्त होता है तथा वीतराग अवस्था मे होता है। ऐसे वीतरागी अरिहन्त द्वारा लोकहितसम्पादनार्थ आत्ममुक्ति के लिए निर्दिष्ट उपाय निस्सन्देह प्रामाणिक होंगे। उनके द्वारा असत्य तथा उन्मार्ग का प्रतिपादन कल्पना से भी परे है। विज्ञान के क्षेत्र मे बहुधा यह पाया जाता

है कि एक वैज्ञानिक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कालान्तर मे वैज्ञानिको द्वारा अनुपयुक्त एव भ्रान्तियो से युक्त पाया जाता है तथा पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एव परिवर्धन किए जाते हैं इसके विपरीत जैनागम की परम्परा मे अनादि काल से अर्हन्तो द्वारा मोक्ष का एक ही उपाय निर्दिष्ट किया गया है वह है—आत्मा की कृत्स्न कर्मों से विमुक्ति। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि विभिन्न आचार्यों ने मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हुए अनेको बार इस बात का उल्लेख किया है कि मुमुक्षुओ (भव्य जीवों) के सम्मुख केवलीभगवान् द्वारा अनुभूत तथाकथित मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत किया जा रहा है। एक भी स्थल पर पूर्ववर्ती अरिहन्तो के कथन का उत्तरवर्ती अरिहन्तों द्वारा खण्डन नही मिलता है।

अरिहन्तो ने जीव के ससार-भ्रमण का कारण अनादि काल से 'आत्मा की कर्मों से बद्धता' बतलाया है।[४२]

जैन दर्शन मे कर्मबन्धन की इस स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए आत्मा के शुभाशुभ परिणामो की महत्ता को स्वीकार किया है। आत्मा के शुभ परिणमन से शुभ कर्मों का बन्ध होता है तथा अशुभ परिणमन से अशुभ कर्मों का।[४३] शुभ कर्मों का फल पुण्योदय तथा अशुभ कर्मों का फल पापोदय मे होता है, इस प्रकार जीव सुख दुख भोगता है। शुभाशुभ दोनो कर्म आत्मा की विभाव परिणति है अतः आत्मा की स्वतन्त्रता मे बाधक हैं। यदि अशुभ कर्म लोहे की बेडी है तो शुभ कर्म स्वर्ण की बेडी है।[४४] अशुभ कर्म का बन्ध कषाय की तीव्र अवस्था मे होता है और शुभ कर्म का बन्ध कषाय की मन्दावस्था मे होता है। शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मों का बन्ध आत्मा की विभाव परिणति मे होता है, स्वभाव परिणति में आत्मा मे आत्मा के कर्मबन्ध होता ही नहीं है। जीव अपनी आत्मा में ही परिणमन करे यह स्थिति सुगम नही।[४५] ऐसी स्थिति सर्वपरिग्रह का त्याग करने वाले सम्यग्दृष्टि श्रमण के लिए ही सभव है क्योकि जीव का उपयोग जरा भी स्व से विचलित हुआ तो वह पर मे स्थित होगा ही। पर से सम्बद्ध उपयोग शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का हो सकता है।[४६] इस प्रकार सम्यग्दृष्टि-धारी आत्मस्थ मुनिराज ही स्वसमय के आनन्द का अनुभव करते हैं और ऐसा ही भव्यात्मा मोक्ष का अधिकारी है। रत्नत्रय का मार्ग उन्हे मोक्ष प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होता है। इस प्रकार के श्रमणो मे से कुछ श्रमण सम्यक्त्व का पालन करते हुए भी रत्नत्रय के मार्ग पर निरन्तर स्वसमय मे परिणमन नहीं कर पाते। ऐसी भव्यात्माओ के लिए रत्नत्रय का पालन शुभकर्मरूपी पुण्योदय का बन्ध कराता है। इस प्रकार रत्नत्रय वह राजमार्ग है जो मोक्षरूपी राजाप्रसाद की ओर भी अग्रसर कराता है तो पार्श्व मे स्थित स्वर्गरूपी उद्यान तक पहुँचाने मे भी निमित्त है। यह पथिक पर निर्भर करता है कि उसका गन्तव्य क्या है? रत्नत्रय के मार्ग पर अग्रसर होने वाला पथिक जिसका लक्ष्य मोक्ष है, मुक्ति प्राप्त करता है तथा वह पथिक जो पहले पथिक के समान दृढ़प्रतिज्ञ नही है शुद्धोपयोग से विचलित होने के कारण शुभ कर्मों का बन्ध करता है, जिसका परिणाम उसे स्वर्गरूपी उद्यान के विश्रामस्थल के रूप में मिलता है।[४७]

इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोग का उपादेय है, शुभोपयोग व अशुभो-

पयोग दोनों ही हेय हैं। किन्तु मुमुक्षु के निरन्तर शुद्धोपयोग बना रहना सामान्यत. सम्भव नहीं, ऐसी स्थिति में उसके सम्मुख दो ही विकल्प शेष रहते हैं, शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग। शुभोपयोग को अपनाकर वह ऐसी सम्भावनों को पुष्ट करता है जिनके द्वारा आगामी भवो में उसे अविरत शुद्धोपयोग का सुयोग प्राप्त हो सके जो मोक्ष प्राप्ति मे सहायक हो। शुभोपयोग में आत्मा कर्मों से आबद्ध होता रहता है किन्तु ऐसे कर्मों की निर्जरा सुगम होती है। इसके विपरीत अशुभोपयोग मे कषाय की तीव्रता तथा आर्तरौद्र ध्यान की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिससे तीव्र पाप कर्म का बन्ध हो ऐसे अशुभ कर्मों की निर्जरा सुगम नहीं होती। इस प्रकार अशुभोपयोग की तुलना मे शुभोपयोग उपादेय है तथापि आत्मा की मुक्ति इन दोनों प्रकार के कर्मों के बन्धन से पूर्णत छुट जाने पर ही सम्भव है। इस सिद्धावस्था के अनुरूप आत्मा शुद्धोपयोग मे लीन होकर स्वभाव मे परिणमन करता है। अशुद्ध अवस्था में आत्मा अनन्तकाल से कषाय की प्रबलता से होने वाले कर्मबन्ध का भार शरीर रूपी कावड़ मे वहन करता आ रहा है।[४८]

तत्त्वार्थसूत्र मे कषाय को कर्मबन्ध का मुख्य कारण बताते हुए कहा है—'सकषायत्वात् जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्ध।'[४९] महाभारत मे कर्म उसे कहा है जिसके द्वारा जीव बन्धयुक्त होता है।[५०] पतजलि ने योग सूत्र मे सस्काररूप कर्मों को क्लेशमूलक कहा है तथा ससारी जीवो के शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्णमिश्रित कर्म बताए हैं जबकि योगी के कर्मों को अशुक्ल तथा अकृष्ण कहा गया है।[५१]

कर्मों का अनावरण ज्ञानमय आत्मा को आवृत्त कर लेता है। इस प्रकार मूढात्मा स्वहित का विचार किये बिना नाना प्रकार की सासारिक चेष्टाएँ करता हैं। उसकी चेष्टाएँ उसी प्रकार की होती हैं जिस प्रकार सपेरे के सगीत से मुग्ध सर्प हिताहित का विचार किये बिना सपेरे का ही अनुगमन करता है। बौद्धग्रन्थ मिलिन्दप्रश्न में भिक्षु नागसेन मिलिन्दनरेश को कर्म का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि जीव नाना योनियो मे कर्मों के अनुसार जन्म लेते हैं और कर्म के प्रभाव से ही ऊँचे नीचे माने जाते हैं—'कम्म-परिसरणा कम्म सत्ते विभजदि यदिद हीनप्पणीततायीति।'[५२]

कर्मबन्ध प्रक्रिया के विश्लेषण से पूर्व विश्व का विश्लेषण करने से दो प्रमुख तत्त्व सचेतन और अचेतन के रूप मे प्राप्त होते हैं। चैतन्य अथवा ज्ञानदर्शन गुणयुक्त जीवद्रव्य है तथा आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म और पुद्गल ये पाँच अचेतन द्रव्य हैं।[५३] इन छहो द्रव्यो का समुदाय ही विश्व है। इन द्रव्यो मे से आकाश, काल, धर्म और अधर्म निष्क्रिय द्रव्य हैं, इनमें प्रदेशसचलनरूप क्रिया का अभाव है,[५४] अगुरुलघु गुण के कारण षड्गुणीहानिवृद्धि रूप परिणमन मात्र पाया जाता है अन्यथा द्रव्य मे कूटस्थता की आपत्ति आ जाएगी। जीव तथा पुद्गल में परिस्पन्दात्मक क्रिया होती है।

जीव औद पुद्गल भाववान् तथा क्रियावान् होते हैं, धर्म, अधर्म, आकाश, काल जीव और पुद्गल इन सभी मे भाववान् शक्ति उपलब्ध होती है। प्रदेशो मे सचलन रूप परिस्पन्द क्रिया कहलाती है, एक वस्तु मे जो धाराबाही परिणमन पाया जाता है, उसे भाव कहते हैं।[५५]

विभाव नामक विशिष्ट शक्ति के कारण जीव और पुद्गल सयुक्त होते हैं और

परस्पर बन्धन युक्त होते हैं।[४६] रागादि भावो के कारण विभावशक्तिप्रेरित जीव कार्माण-वर्गणा, आहार तेजस भाषा तथा मनोवर्गणारूप नो कार्माण वर्गणाओ[४७] को अपनी ओर आकृष्ट करता है। रागादि से सन्तप्त जीव कार्माण तथा नोकार्माण वर्गणाओ को उसी प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करता है जिस प्रकार तप्त लोहपिण्ड अपने सर्वांग मे जल को खींचकर आत्मसात् करता है।[४८]

कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्म की तुलना धूल से की है। तेल से चिकने शरीर पर जिस प्रकार धूल चिपक जाती है उसी प्रकार रागादि से मलिन आत्मा के साथ कर्म रूपी रज सयुक्त होता है।[४६] स्निग्धता तथा रूक्षता के आधार पर पुद्गल के परमाणु विविध रूपो मे परस्पर बध अवस्था को प्राप्त करते हैं।[६०] अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार द्व्यणुकादि अनन्तानन्त परमाणु ही स्वय उन अवस्थाओ के उत्पादक है,[६१] इस विश्व मे सर्वत्र सूक्ष्म तथा एक पर्याय परिणत अनन्तानन्त पुद्गलो का सद्भाव पाया जाता है अत पुद्गल पिण्डो का आनेता पुरुष नही है,[६२] वे पुद्गल बिना बाधा उत्पन्न किये ही समस्तलोक मे पाये जाते हैं।[६३]

कर्मबन्ध मे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध

द्रव्यदृष्टि से जीव और पुद्गल पूर्णत भिन्न हैं, उनमे उपादानउपादेयता किंचित् मात्र भी नही है जिस प्रकार पात्र विशेष मे डाले गए अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मदिरा रूप मे परिणमन होता है उसी प्रकार योग तथा कषाय के कारण आत्मा में स्थित पुद्गलो का कर्मरूप से परिणमन होता है।[६४] कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

> 'जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
> पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमइ ॥'[६५]

अर्थात् जीव के परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म रूप से परिणमन करता है, इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से जीव का भी रागादि रूप से परिणमन होता है। इस प्रकार कर्मबन्ध प्रक्रिया जीव के परिणामों व पुद्गलों के परिणामों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। तात्त्विक दृष्टि से जीव न तो कर्म मे गुण उत्पन्न करता है। और न कर्म ही जीव में कोई गुण उत्पन्न करता है।[६६] जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त द्वारा परिणमन होता है।[६७] आत्मा अपने भावकर्म का कर्ता है किन्तु पुद्गल कर्मकृत परिणमन ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है।[६८] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अमृतचन्द्रसूरि ने इसी सन्दर्भ मे कहा है कि रागादि रूप परिणत जीव के राग द्वेष मोहादि भावो का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्म अवस्था को प्राप्त होते हैं।[६६] यदि जीव और पुद्गल मे निमित्त भाव के स्थान पर उपादान-उपादेयत्व हो सकता तो जीवद्रव्य का अभाव होता या पुद्गल द्रव्य का अभाव होता, तत्त्वत विभिन्न द्रव्यों मे उपादान उपादेयता नहीं पाई जाती। पुद्गल स्कन्ध कर्मत्वपरिणमन शक्ति के सम्बन्ध से स्वयमेव कर्मभाव से परिणत होते हैं।

द्रव्यों की क्रिया भिन्न भिन्न है। जड की क्रिया चेतन नहीं करता तथा चेतन की

क्रिया जड नहीं करता। जो पुरुष दो भिन्न क्रियाओं का कर्ता एक द्रव्य को मानता है वह मिथ्या दृष्टि है।[७०] कुन्दकुन्दाचार्य जीव और शरीर रूप पुद्गल में पूर्णत भिन्नता स्थापित करते हैं कि औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तेजस शरीर, आहारक शरीर और कार्माण शरीर ये समस्त पुद्गल द्रव्यात्मक हैं[७१] तथा जीव रस-रूप-गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतना युक्त, शब्दरहित, आह्यलिंग द्वारा अग्राह्य तथा अनिर्दिष्ट सस्थान वाला है।[७२] जीव और पुद्गल का सयोग होने पर भी दोनो मे लक्षणभेद है।[७३]

कर्म के कारण मलिन अवस्था को प्राप्त होने वाला आत्मा कर्मसयुक्त परिणाम को प्राप्त होता है, जिससे कर्मों का बन्ध होता है।[७४] दूसरे शब्दो मे रागादिक परिणामों को कर्म कहते हैं, कर्मबन्धन का कारण रागादि भाव हैं। कर्मों द्वारा नवीन शरीर का निर्माण होता है, इन्द्रियों के उपभोग की स्थिति उत्पन्न होती है जिससे द्वेषादि परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार बन्ध का चक्र चला आ रहा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने ससार-भ्रमण चक्र को कारण निर्देश सहित पचास्तिकाय मे निरूपित किया है।[७५] ससारस्थ अशुद्ध जीव का अशुद्ध परिणाम होता है, उस रागद्वेष मोहजनित अशुद्ध परिणामों से आठ प्रकार का कर्मबन्ध होता है, पुद्गलमय बधे हुए कर्मों से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है, मनुष्यादि गति मे प्राप्त होने वाले औदारिक आदि शरीर का जन्म होता है, शरीर होने से इन्द्रियो की रचना होती है, इन्द्रियो से रूप रसादि विषयो का ग्रहण होता है अथवा इष्टानिष्ट पदार्थों मे राग या द्वेष उत्पन्न होता है तत्पश्चात् पूर्वक्रमानुसार कर्मादि उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार जीव का ससार रूपी चक्रवाल में भवपरिणमन होता रहता है। यह भवभ्रमण अभव्य जीवो के लिए अनादि अनन्त है तथा भव्य जीवो के लिए अनादि सान्त कहा गया है। पूर्वकर्मोदय से होने वाले शुभ परिणामो से जीव का शुभ कर्मों के साथ बन्ध होता है तथा अशुभ परिणामो से अशुभकर्मों के साथ बन्ध होता है।[७६]

मन वचन और काय के व्यापार से आत्मा के प्रदेशो मे जो परिस्पन्द उत्पन्न होते हैं उसे योग कहते हैं। इस योग के निमित्त से सही कर्मों का आस्रव (ग्रहण) होता है। रति, राग, द्वेष, मोह से युक्त आत्मा के परिणाम को भाव कहते हैं। कर्मों का बन्ध इसी भाव के निमित्त से होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्मबन्ध के चार कारण बताए हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय और (४) योग।[७७] ये चार प्रकार के प्रत्यय ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मों के कारण कहे गये हैं। जीवो मे सम्यक्त्व का अभाव मिथ्यात्व (अज्ञान) का उदय है, जीवो का अविरमण अर्थात् अत्यागभाव अविरति (असयम) का उदयहै, जीवो का कलुषित उपयोग कषाय का उदय है तथा जीवो की शुभ अथवा अशुभ मे प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप चेष्टा उत्साह योग का उदय कहा जाता है। इन उदयो के हेतुभूत होने पर जो कार्माणवर्गणारूप से आया हुआ पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार से परिणमन करता है, वह कार्माणवर्गणा रूप से आया हुआ द्रव्य जब जीव से बधता है तब जीव अपने अज्ञान मिथ्यात्व रूप परिणामों का हेतु होता है।[७८] इन मिथ्यात्व आदि का कारण रागादि विभाव हैं, जब रागादि का अभाव हो जाता है तब कर्मों का बन्ध रुक जाता है।[७९]

ससारी जीव के अनादि परम्परा से आये हुए मूर्त कर्म विद्यमान हैं। वे मूर्त कर्म ही आगामी मूर्त कर्म का स्पर्श करते हैं अत मूर्त द्रव्य के साथ बन्ध को प्राप्त होता है। जीव अमूर्त है अत यथार्थ में उसका कर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं होता किन्तु मूर्त कर्मों के सम्बद्ध हो ने के कारण व्यवहारनय से जीव मूर्त कहा जाता है अत एव वह रागादि परिणामो से स्निग्ध होने के कारण मूर्त कर्मों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है और कर्म जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं।[८०]

कर्मबन्ध के भेद[८१]

कर्मबन्ध के चार भेद होते हैं—

(१) प्रकृतिबन्ध (३) अनुभागबन्ध
(२) स्थितिबन्ध (४) प्रदेशबन्ध

(१) प्रकृतिबन्ध[८२]

प्रतिसमय गृहीत कर्मपरमाणुओ मे आत्मा के रागादि परिणामो के निमित्त से ज्ञान दर्शन आदि गुणो को आवृत्त करने वाले स्वभाव को प्रकृति बन्ध कहते हैं। प्रकृतिबन्ध के ज्ञानावरणादि आठ मूल भेद हैं, जिनके उत्तरभेद १४८ होते है तथा तरतमभावो की अपेक्षा असख्यात भेद होते हैं।

(२) स्थितिबन्ध[८३]

आगन्तुक कर्मपरमाणु जितने काल तक आत्मा के साथ बद्ध रहते हैं उस काल की मर्यादा स्थिति बन्ध कहलाती है। यह स्थितिबन्ध दो प्रकार का होता है—(१) उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (२) जघन्य स्थितिबन्ध। जब आत्मा क्रोधादि कषायो के तीव्र उदय का निमित्त पाकर सक्लेश परिणति की चरमसीमा को प्राप्त होता है उस समय उसके बँधने वाले कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है, जब कषायो का उदय अत्यन्त होने से आत्मा की परिणति मे सक्लेश का अभाव होता है उस समय उसके बधने वाले कर्मों का जघन्य-बन्ध होता है।

(३) अनुभाग बन्ध

बधने वाले कर्मपरमाणुओ मे आत्मा के परिणामो का निमित्त पाकर फल देने की शक्ति के तरतमभाव को अनुभागबन्ध कहते हैं।

(४) प्रदेशबन्ध

प्रतिसमय आत्मा के साथ बधने वाले कर्मपुंज में जितने परमाणु होते हैं उनका यथासम्भव सभी कर्मों में विभाजन प्रदेशबन्ध कहलाता है।

कर्मसिद्धान्त का वैशिष्ट्य

जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत प्रत्येक जीव निजकर्मों का कर्ता तथा भोक्ता होता है। वह जिस प्रकार के कर्म करता है उसके अनुरूप उसे फल भोगना होता

है। अन्य दर्शकों की अपेक्षा जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त में यह विलक्षणता है कि इसमें जीव द्वारा कर्मफल भोगने की प्रक्रिया को किसी अन्य सत्ता द्वारा प्रदत्त दण्ड या पुरस्कार का फल नही माना जाता। प्रत्येक आत्मा अपना स्वय प्रभु है तथा अपने परिणामो पर नियन्त्रण कर जैसा चाहे वैसा बन सकता है। सामान्यत ससारी अवस्था मे जीव पूर्वबद्ध कर्मों द्वारा जनित अशुद्ध अवस्था के कारण विभिन्न कषायो से ग्रस्त हो जाता है। इन कषायो के प्रभाव के अन्तर्गत वह नूतन कर्मों का बन्ध करता है।

कुन्कुन्दाचार्य ने अपने कर्म सिद्धान्त द्वारा एक ओर ससारी जीव को उसकी कर्मों से बद्ध अशुद्ध अवस्था का ज्ञान कराया है तो दूसरी ओर उसको निराशा से बचाते हुए यह प्रेरणा प्रदान की है कि वह अपने विशुद्ध आत्मा स्वरूप को प्राप्त करने हेतु नूतन कर्मों का सवर तथा पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा के लिये पुरुषार्थ करे। कर्मसिद्धान्त के प्रति सम्यक् श्रद्धान तथा सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने पर ही सम्यक् चारित्र का पालन करना सम्भव है। इस प्रकार कर्मसिद्धान्त रत्नत्रय रूपी मोक्षमार्ग का नियामक सिद्धान्त है। कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत कर्मों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात रत्नत्रय का मार्ग मुमुक्षुओ के लिए सुगम हो जाता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्मसिद्धान्त जानने का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा है— 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चय करता हुआ श्रमण पर स्वरूप मे परिणमन नही करने पर शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता है।[८४]

कर्मसिद्धान्त की उपादेयता यह है कि इससे कर्मबन्धविषयक ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके आधार पर नवीनकर्मबन्ध का सवर तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करनी सम्भव हो जाती है। कृत्स्नकर्म विनाश ही मोक्ष मे हेतुभूत है।[८५]

जीव का उपयोग तथा कर्मबन्धन

कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रुतकेवली द्वारा प्राप्त उपदेशों के आधार पर जीव के उपयोग को तीन प्रकार का बताया है। इनमे से दो शुभ एव अशुभ उपयोग ससार मे जीव के भ्रमण का कारण है एव तीसरा शुद्धोपयोग मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। जीव के शुभ-अशुभ उपयोग ससार मे जीव के भ्रमण का कारण हैं एव तीसरा शुद्धोपयोग मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। जीव के शुभ-अशुभ उपयोग का मूल कारण उसके शुभ-अशुभ भाव हैं। जिस जीव के हृदय मे मोह, राग, द्वेष और चित्त की प्रसन्नता रहती है उसके शुभ अशुभ परिणाम अवश्य होते हैं अर्थात् जिस जीव के हृदय मे मोह द्वेष, अप्रशस्त राग तथा चित्त का अनुत्साह होगा उसके शुभ परिणाम होगे।[८६]

अरिहन्तसिद्ध एव साधुओ मे भक्ति होना, शुभ राग रूप धर्म मे प्रवृत्ति होना तथा गुरुओ के अनुकूल चलना यह सब प्रशस्त राग है, ऐसा पूर्व महर्षि ने कहा है। जो भूखे प्यासे अथवा अन्य प्रकार से दुखी प्राणी को देखकर स्वयं दुखित हृदय होता हुआ दयापूर्वक उसे अपनाता है एव उसके दुख निवारण का प्रयत्न करता है उसके अनुकम्पा का भाव होता है।[८७]

कुन्दकुन्दाचार्य ने चित्त मे क्रोध, मान, माया और लोभ आने पर आत्मा में

उत्पन्न होने वाले क्रोध को कालुष्य बतलाया है।[८८] जीव के शुभ परिणाम से पुण्य का बन्ध होता है और अशुभ से पाप का। जिस जीव का राग प्रशस्त है, परिणाम दया से युक्त है, और हृदय मे कालुष्य नहीं है उसके पुण्य कर्म का आस्रव होता है। इसके विपरीत जीव की प्रवृत्ति प्रमाद से भरी हुई हो, हृदय में कालुष्य हो, विषयो के प्रति लोलुपता हो, जो दूसरो को सताप देता हो उस जीव के पापास्रव होता है। आहार आदि चार सज्ञाएँ, कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ, पचेन्द्रियों की पराधीनता, आर्त-रौद्र ध्यान, असत्कार्य में प्रयुक्त ध्यान और मोह ये सब पापास्रव के कारण हैं।[८९] जो जीव जितने समय तक और जितने अशों मे इन्द्रिय, कषाय और सज्ञाओ को सयमित कर लेता है वह उतने समय मे उतने ही अशो मे पापास्रव का सवर करता है। जो जीव किसी भी परद्रव्य मे न राग, न द्वेष, न मोह बुद्धि रखता है तथा सुख और दुःख मे मध्यस्थ रहता है उस जीव के शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्मों का आस्रव नही होता। इस प्रकार समस्त परद्रव्यो का त्याग करने वाला त्यागी पुरुष पुण्य और पाप दोनो के योग से होने वाले कर्मों का संवर करता है। अपनी आत्मा को शुद्धोपयोग मे लगाते हुए अनेक प्रकार के तपो में प्रवृत्ति करता है जिससे बहुत से पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा होती है और भव्य जीव आत्मा को ज्ञान स्वरूप जानकर उसका ध्यान करता हुआ कर्मरूपी धूलि को उडा देता है। निज स्वरूप के ध्यान रूपी अग्नि से अपने शुभाशुभ कर्मों को जला देता है।[९०] जो जीव सवर से युक्त हो तथा समस्त कर्मों की निर्जरा करता हो वह वेदनीय तथा आयु कर्म को नष्ट कर नाम व गोत्र रूप वर्तमान पर्याय का भी परित्याग करता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

निष्कर्ष

बन्ध को प्राप्त द्रव्य अपनी स्वतन्त्रता से वचित होकर परस्पर आधीनता को प्राप्त होते हैं। सामान्य दृष्टि से कहा जाता है कि कर्मों के द्वारा जीव अपनी स्वतन्त्रता को खोकर परतन्त्र अवस्था को प्राप्त होता है और ससार में परिभ्रमण करता है, लेकिन वस्तुस्थिति तो यह है कि न केवल जीव बन्ध की स्थिति मे परतन्त्र होता है अपितु पुद्गल भी पराधीन हो स्थिति विशेष पर्यन्त जीव के साथ बद्ध रहने के लिए बाध्य होता है। जिस प्रकार पुद्गल से बन्ध की स्थिति मे जीव स्वभाव परिणमन नही कर सकता उसी प्रकार जीव से बद्ध पुद्गल भी स्वभाव परिणमन की स्थिति से वचित हो जाता हैं। पुद्गल का स्वभावरूप परिणमन उसकी परमाणु अवस्था मे सम्भव है। नवागत पुद्गल कर्मवर्गणाओ का बन्धन पूर्वबद्ध पुद्गल कर्मों से होता है इस प्रकार पुद्गल का पुद्गल से ही बन्ध होता है। पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु है यदि नवागत पुद्गल कर्म का एक परमाणु भी पूर्वबद्ध पुद्गल कर्म के एक परमाणु से सयुक्त होता हुआ माना जाय तो कर्मबन्धन की स्थिति मे दो परमाणुओ के सयुक्त होते ही स्कन्ध उत्पन्न हो जाएगा और यह स्कन्ध पुद्गल कर्मविपाक होने तक स्कन्धावस्था में ही रहेगा। अतएव नवीन कर्म का एक परमाणु जो बद्ध होने से पूर्व स्वभाव-परिणमन कर रहा था, परद्रव्य जीव से सयुक्त होते ही अपने स्वभाव परिणमन से वचित हो गया।

यदि पुद्गल कर्म जीव से सम्बद्ध नही होता तो वह निमित्तानुसार किसी भी रूप

से परिणमन करने मे स्वतन्त्र होता। एक बार जीव के साथ बद्ध हो जाने के पश्चात् विपाकावस्था पर्यन्त अन्य जीव की रागादि परिणति रूप निमित्त उपस्थित होने पर भी उससे बन्ध करने मे स्वतन्त्र नही रहता। जीव के सन्दर्भ मे बन्ध का महत्त्व इसलिए अधिक है कि जीव के चेतन होने के कारण उसका मोक्ष सभव है जबकि पुद्गल के मोक्ष नही होता। पुद्गल ज्ञाता, द्रष्टा है। पुद्गल पर पुद्गल का आच्छादन उसके कुछ गुणो को प्रच्छन्न कर सकता है किन्तु इस स्थिति मे पुद्गल पूर्वापेक्षा कम सुख की अनुभूति करता हो ऐसा नही, क्योंकि अचेतन होने के कारण पुद्गल मे अनुभूति है ही नही।

आत्मा की विभाव परिणति होने पर राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, जो आत्मा की शान्त स्थिति मे विक्षोभ उत्पन्न करते हैं और यह विक्षोभ ससारी आत्मा मे अनादि काल से चला आ रहा है क्योंकि अनादिकाल से आत्मा पौद्गलिक कर्मों के सयोग के कारण ससार चक्र मे भ्रमण करता रहा है।

द्रव्य दृष्टि से आत्मा अनन्तज्ञानमय, अनन्तवीर्य एव अनन्तसुख से युक्त है किन्तु कर्मों का अनावरण आत्मप्रदेशो पर इस प्रकार आच्छादित हो जाता है कि आत्मा के ये गुण व्यक्त नही हो पाते। आत्मप्रदेशो पर आच्छादित पूर्वोपार्जित मूर्त कर्मों की वर्गणाएँ आत्मा मे परिस्पन्द उत्पन्न होते ही नवीन कर्मों को अपनी ओर आकृष्ट करती है और इस प्रकार होने वाला नवीन कर्मों का बन्ध आत्मा पर एक और आवरण का कार्य करता है। ज्यो ज्यो ये आवरण बढते जाते हैं त्यो त्यो आत्मा के मूलभूतगुण अधिकाधिक अव्यक्त होते चले जाते हैं।

ससार से मुक्त आत्मा अनिवार्यत कर्मों के समस्त आवरणो को हटा चुका होगा और उसके समस्त मूल गुण पूर्णत व्यक्त होगे।

जैन दर्शन को अनीश्वरवादी इसी दृष्टि से कहा जाता है क्योकि इसमे किसी बाह्य सत्ता को जगन्नियन्ता स्वीकार करने के स्थान पर आत्मा स्वय अपने पुरुषार्थ द्वारा नवीन कर्मों के बध का सवर करता है, भेदविज्ञान द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करता है और चार अघातिया कर्मों को भी पूर्णत नष्ट कर अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रकट होता है। यही आत्मा की सिद्धावस्था है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म एक आच्छादन का कार्य करता है। आत्मा मे ज्ञान दर्शन सुख एव वीर्य अनन्त परिणाम मे है और इनकी अनुभूति शुद्ध आत्मा अव्याबाधत्व गुणरूपेण करता है। शुद्ध आत्मा के इन अनन्त गुणो मे से अनेकानेक गुण ससारी अवस्था मे कर्मवर्गणाओ के आच्छादन द्वारा अव्यक्त रहते हैं। इस प्रकार के कर्मों द्वारा आत्मा के हित का घात होता है अत ये घाती कर्म कहलाते हैं। आत्मा के जिस गुण को ये कर्म आच्छादित करते हैं उनके अनुरूप ही इन कर्मों को ज्ञानावरणादि संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे नय निरूपण

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा व्यवहारनय और निश्चयनय का प्रयोग किस पृष्ठभूमि मे किया गया इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती

जैन तथा जैनेतर दार्शनिक साहित्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व रचित श्वेताम्बर जैनागम भगवतीसूत्र में व्यवहारनय और निश्चयनय का उल्लेख मिलता है।[६१]

षट्खण्डागम तथा कषाय प्राभृत मे ओघ और निर्देश नयो का प्रयोग मिलता है।[६२] ये नय कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रयुक्त व्यवहारनय और निश्चयनय के तुल्य हैं। औपनिषदिक साहित्य में पारमार्थिक दृष्टि व व्यावहारिक दृष्टि तथा बौद्ध साहित्य त्रिपिटक लोकसंवृतिसत्य तथा परमार्थसत्य का प्रयोग इन्ही सन्दर्भो मे मिलता है। शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रो पर अपने भाष्य तथा अन्य व्याख्याओ मे व्यावहारिक और पारमार्थिक नयो के बीच अन्तर स्पष्ट किया है। चक्रवर्ती, ए० के मतानुसार शकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना करते समय कुन्दकुन्दाचार्य की व्यवहार तथा निश्चय की कथन शैली से सुपरिचित थे और उन्होने उस शैली को अपनाया भी।[६३]

कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती साहित्य मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो का प्रयोग मिलता है। ये नय निश्चयनय और व्यवहारनय के लिए ही प्रयोग मे लाये गए हैं अत इनके प्रयोग द्वारा विषयवस्तु प्रतिपादन मे कोई अन्तर नही आता। प्रमुख जैन दार्शनिको जैसे योगीन्द्र, अमृतचन्द्र, नेमिचन्द्र आदि ने कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित निश्चय और व्यवहारनय को अपनी रचनाओ मे अपनाया है। 'लोकाकाशेऽवगाह'[६४] सूत्र की टीका करते हुए पूज्यपाद तथा अकलक इस कथन को व्यवहारनय के अन्तर्गत मानते हैं।[६५] एवभूतनय से सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं, कोई किसी के आश्रित नही।[६६] 'निश्चय नय एवभूतो'[६७] लिख कर विद्यानन्दि ने निश्चयनय तथा एवभूत नय को एक बतलाया है।

अष्टसहस्री मे आचार्य विद्यानन्द निश्चयनय से आत्मा को स्वप्रदेशनियत तथा व्यवहारनय से स्वशरीर व्यापी निर्दिष्ट करते हैं। वर्तमान शताब्दी के एक जैन दार्शनिक सन्त कानजी स्वामी ने निश्चय और व्यवहारनय के तुलनात्मक स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कानजी स्वामी के मतानुसार[६८] जन्म-जन्मान्तरो से मुमुक्षु जीव व्यवहार का पालन करते आए हैं और उन्हे मोक्ष की प्राप्ति इसलिए नही हो पा रही है कि वे उपादेय निश्चयनय को छोडकर हेय व्यवहारनय का ही आश्रय लिये हुए हैं। उनका ससार भ्रमण व्यवहार चारित्र के कारण ही है। व्यवहारचारित्र अशुभ होने पर पाप कर्म का बन्ध कराता है तो शुभ होने पर पुण्यादि का बन्ध कराता है। शुभ और अशुभ से भिन्न व्यवहार चारित्र सम्भव ही नही है। निश्चयचारित्र शुभ रूप भी होता है तथा शुद्ध रूप भी। व्रत, समिति, गुप्ति, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यानादि चारित्र शुभ से उत्तरोत्तर शुद्ध की ओर उन्मुख होते हैं। समाधि की स्थिति जिसमे साधक आत्मस्थ हो स्वस्वरूप का ही चिन्तन करता है निश्चय चारित्र की शुद्धावस्था है। कानजी स्वामी निश्चयचारित्र को अपनाने का आग्रह करते हैं और वे व्यवहारचारित्र का त्याग करने का निर्देश करते हैं। व्यवहार को गौण रखने पर शरीर तथा भोजन सम्बन्धी नियम गौण हो जाते हैं और एक मात्र महत्त्व इस बात का होता है कि मुमुक्षु जीव इस बात का ही चिन्तन करता रहे कि मैं शान्त, निराकुल चेतन हूँ, मेरा स्वरूप

अनन्त ज्ञानमय तथाआनन्दमय है। सिद्धान्त की दृष्टि से कानजी स्वामी का दृष्टिकोण सही है लेकिन देश काल की दृष्टि से मुझे उसमे कुछ विसगति दृष्टिगोचर होती है। जैनागम के अनुसार तथा केवलज्ञानी के निर्देशानुसार वर्तमान पचमकाल में इस भरत-क्षेत्र से मोक्ष सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति मे मोक्ष प्राप्ति तो दूर रही, शुभाचरण बनाए रखना भी कठिन है। तो व्यवहार को छोडकर निश्चय को अपनाने की बात कुछ अटपटी लगती है। इस देश काल के अनुसार मुमुक्षु जीव यत्नपूर्वक व्यवहार चारित्र का पालन करते हुए, स्वय अशुभ कर्म से बचते हुए शुभाचरण मे ही प्रवृत्त रहे तो भी भविष्य मे उत्थान की सम्भावनाएँ बनी रहेगी परन्तु यदि निश्चय चारित्र के पालन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया जाएगा तो इस बात की सम्भावना भी हो सकती है कि निश्चयचारित्र तो छूटे ही साथ-साथ व्यवहार चारित्र से भी विचलित होना पडे। इसके अतिरिक्त मेरी दृष्टि मे व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र परस्पर विरोधी नयो पर आधारित होते हुए भी एक दूसरे के विरोधी नही हैं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं। व्यवहार चारित्र क सम्यक् आचरण द्वारा ही निश्चयचारित्र के आचरण की पृष्ठभूमि पुष्ट बनती है। व्यवहारचारित्र के सर्वथा अभाव मे निश्चयचारित्र तक पहुँचना असभव है। वैसे भी समयसार पक्षातिक्रान्त है अत कानजी स्वामी जैसे आसन्नभव्य जीव के लिए व्यवहारचारित्र एव निश्चयचारित्र के बीच विवाद कोई महत्त्व ही नही रखता। समाधि की अवस्था मे जिस समय केवलज्ञानी जीव अपने अनन्तज्ञानमय स्वरूप मे लीन होता है उस समय उसके लिए इस बात का कोई महत्त्व नही होता कि वह इस समाधि तक व्यव-हारनय अथवा निश्चयनय के किन-किन सोपानो द्वारा पहुँचा है। दूसरे सोपान पर पहुँचने के लिए जिस प्रकार प्रथम सोपान का छूटना आवश्यक है उसी प्रकार आत्म-चिन्तन मे तल्लीन होते समय अन्तिम सोपान का पीछे छूट जाना आवश्यक है। अत जब मोक्षप्राप्ति के समय प्रथम व अन्तिम सभी सोपान पीछे छूट जाते हैं तो फिर व्यवहार और निश्चय को लेकर विवाद करना कोई अर्थ नहीं रखता।

विभिन्न सन्दर्भों मे व्यवहारनय का प्रयोग

व्यवहारनय के विभिन्न प्रयोगो मे भेद दृष्टि से कथन एक प्रमुख प्रयोग है। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार व्यवहारनय एक द्रव्य और उसके गुणों मे भेद निर्धारित करता है जैसे आत्मा और ज्ञान मे भेद,[९९] व्यवहारनय द्वारा विभिन्न गुणो के बीच भेद का भी ज्ञान होता है, व्यवहार नय के द्वारा एक ही द्रव्य के विभिन्न गुणों के बीच भेद का ज्ञान होता है जैसे—आत्मा के दर्शन, ज्ञान व चारित्र गुणो के बीच भेद का ज्ञान। द्रव्य के एक विशेष गुण की विभिन्न पर्यायो मे व्यक्तावस्था का ज्ञान भी इसके द्वारा होता है जैसे—ज्ञान की पाँच पर्यायो—मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मन पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान।[१००] व्यवहारनय द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय तथा कर्ता और कर्म के बीच अन्तर स्पष्ट होता है।[१०१] उपादान कारण व उसके कार्य के विषय में पता चलता है। एक ही पदार्थ के एक पर्याय और दूसरे पर्याय के बीच अन्तर का बोध होता है और अन्तत किसी विशिष्ट कार्य के कर्ता और भोक्ता के विषय मे ज्ञान होता है।[१०२] द्रव्य और उसके गुणों

व पर्यायो के बीच अन्तर का ज्ञान होता है।[103]

इस प्रकार भेददृष्टि प्रधान कुन्दकुन्दाचार्य का व्यवहारनय आध्यात्मिक परम्परा के पर्यायार्थिक नय के समरूप ही है। इसी कारण से कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती कुछ जैन दार्शनिक व्यवहारनय तथा पर्यायार्थिक नय को एक ही मानते हैं।

व्यवहारनय का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग आत्मा की ससारी अवस्था का निरूपण करने के लिए किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा की ससारी अवस्था का वर्णन करने के लिए जिस दृष्टि को अपनाया है वह सश्लेषणात्मक होने से उनकी भेद-विज्ञान रूप विश्लेषणात्मक दृष्टि से पूर्णत भिन्न है। इस दृष्टि के अन्तर्गत उन्होने जीव को पुद्गल से सम्बद्ध बताते हुए आत्मा के पुद्गल से सयोजन की व्याख्या की है। इस प्रकार यद्यपि निश्चयनय से जीव और पुद्गल पृथक् है किन्तु व्यवहारनय से उनकी संयुक्तावस्था मे आत्मा के विभाव परिणमन का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ पुद्गल के भौतिक गुण स्पर्श, रस, गन्ध आदि आत्मा से सयुक्त होकर ही कर्म बधन करते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, चारित्रमोहनीय, नाम कर्म आदि अपने समस्त उपभेदो सहित जीव से सयुक्त होकर ही कर्म बन्धन करते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, चारित्रमोहनीय, नाम कर्म आदि अपने समस्त उपभेदो सहित जीव से सयुक्त होकर भावधर्म उत्पन्न करते हैं। नो कर्म, चौदह मार्गणा स्थान, चौदह जीव स्थान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्-चारित्र रूपी रत्नत्रय ये व्यवहारनय से वर्णित हैं और इनमे सात तत्त्वो तथा नौ पदार्थों जीव और पुद्गल के यथार्थ ज्ञान, आगमो का ज्ञान, व्रत, समिति एव गुप्तियो का पालन श्रावक का सम्पूर्ण नैतिक अनुशासन सम्मिलित है। व्यवहारनय की दृष्टि से श्रमण की समस्त क्रियाएँ शुभ भाव का प्रतीक है अत व्यवहारनय व्यवहारचारित्र को बल देता है और निश्चय के प्रत्येक शुद्ध भाव को गौण रखता है।[104] इस प्रकार सक्षेप मे व्यवहार नय सोपाधि जीव का वर्णन करते हुए स्व को पुद्गल तथा अन्य परपदार्थों से एकत्वरूप को प्राप्त हुआ मानता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की इस उपर्युक्त दृष्टि को समय-सार मे अपनाया है और इसके द्वारा यह दर्शाया है कि आत्मा के पुद्गल से सयुक्त हो जाने के परिणामस्वरूप क्या फल होता है। साथ ही साथ कुन्दकुन्दाचार्य इस बात पर बल देते हैं कि आत्मा के पुद्गल द्रव्य के सयोजन से जो घटित होने वाला है, आवश्यक नही कि वह सदैव घटित हो। कुन्दकुन्दाचार्य का उद्देश्य यह दर्शाना है कि यद्यपि ससारी आत्मा की अशुद्धावस्था व्यवहारनय से एक वास्तविकता है लेकिन यह आत्मा के वास्तविक स्वरूप के प्रतिकूल है क्योकि यह आगन्तुक है अत इसे हेय कहा गया है और आत्मा की शुद्धावस्था वह आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक मुमुक्षु जीव को प्रयत्नशील रहना चाहिए। आत्म-साक्षात्कार के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्मा की अशुद्धा-वस्था का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि उसकी शुद्धावस्था का। वास्तव में कुन्दकुन्दाचार्य के व्यवहारनय का यह पहलू इतना स्पष्ट एव विशद है कि हम व्यवहार-नय को ऐसी दृष्टि के रूप मे परिभाषित कर सकते हैं जिसके द्वारा आत्मा की अशुद्ध औपादानिक अवस्था का वर्णन किया जाए। इस प्रकार व्यवहार कथन अशुद्ध अवस्था निरूपण का समानार्थक है।

व्यवहारनय द्वारा निरूपित अशुद्धि दो प्रकार की है। प्रथम प्रकार की नैमित्तिक और स्थानान्तरित अशुद्धि होती है। यह अशुद्धि आत्मा के पुद्गल द्वारा सयोजन से उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति मे आत्मा पुद्गल के स्पर्श, रस आदि गुणो को धारण करने वाला कहलाता है और पुद्गल कर्मों का निमित्त कारण बनता है। द्वितीय प्रकार की अशुद्धि आत्मा की औपादानिक तथा अनिवार्य अशुद्धि होती है जो कि आत्मा के भाव कर्म के कारण होती है और उसके पुद्गल कर्मों का भी प्रभावशाली कारण होती है।

द्रव्य की औपादानिक अशुद्धि व्यवहारनय व निश्चयनय दोनो का विषय है। इसमे दोनो की सीमाएँ एक दूसरे से मिल जाती है। नैमित्तिक अशुद्धि को उसके विभिन्न अर्थों के अनुसार भिन्न-भिन्न उप वर्गों म विभाजित किया जा सकता है—

(१) व्यवहारनय के अनुसार आत्मा व शरीर एक कहे गए है। यहाँ पर व्यवहारनय के अन्तर्गत दो पूर्णत: भिन्न व विपरीत गुण वाले तत्त्वो जैसे आत्मा तथा पुद्गल मे एकत्व माना गया है।[१०५]

(२) इसी प्रकार व्यवहारनय के इस कथन मे आत्मा के ये विशेष गुण वर्ण से प्रारम्भ होकर गुण स्थान पर समाप्त होते हैं। यहाँ पर व्यवहारनय का उद्देश्य पुद्गल के गुणो को आत्मा पर आरोपित करना है।[१०६]

(३) इसी प्रकार जब व्यवहारनय मे यह कथन किया जाता है कि ससारी आत्मा कर्मबन्धन का कारण है और फल को भोगता है तो यहाँ पर व्यवहारनय आत्मा के नैमित्तिक कर्तृत्व और भोक्तृत्व की ओर सकेत करता है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा व्यवहारनय का उपर्युक्त विभिन्न अर्थों मे प्रयोग किये जाने के फलस्वरूप आशाधर और राजमल जैसे कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती जैन लेखको न व्यवहारनय को विभिन्न उपवर्गों मे विभाजित किया जैसे—सद्भूत, असद्भूत, उपचरित तथा अनुपचरित।

कुन्दकुन्दाचार्य न व्यवहार तथा निश्चय नयो का प्रयोग आध्यात्मिक सन्दर्भ मे किया है। इसी सन्दर्भ मे वे व्यवहार को हेय व असत् कहते हैं क्योकि यह आत्मा की औपादानिक अशुद्धियो से सम्बद्ध है। सैद्धान्तिक रूप से कुन्दकुन्दाचार्य व्यवहारनय को आत्मा की अशुद्धावस्था का ज्ञान कराने के कारण वास्तविक मानत है। कुन्दकुन्दाचार्य शकराचार्य के समान आत्मा की अशुद्धावस्था को मिथ्या नही मानते अत उनक तथा शकराचार्य के मतो मे अन्तर है।[१०७] इसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य साख्यमत के इस सिद्धात को नही मानते कि प्रत्येक परिवर्तन और प्रत्येक क्रिया का कारण प्रकृति है वे यह भी नही मानते कि पुरुष नित्य और अकर्ता है। कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा को कर्ता मानते है तथा व्यवहारनय से उसे अनित्य मानते हैं और उसमें होने वाले परिवर्तनो का उसे ही उत्तरदायी मानते हैं। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य वेदांतियो तथा साख्यमतावलम्बियों के समान आत्मा की ससारी अवस्था को एक वास्तविकता स्वीकार करने से इन्कार नही करते। इस दृष्टि से कुन्दकुन्दाचार्य का व्यवहारनय अद्वैतवेदान्तियो की अद्वैत दृष्टि तथा विज्ञान वादियो और शून्यवादियों की व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न है।

कर्म बन्धन के सिद्धान्त को कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित व्यवहारनय द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते समय कुन्दकुन्दाचार्य

ने निश्चयनय की अपेक्षा से आत्म द्रव्य को पूर्णत विशुद्ध तथा समस्त पर पदार्थों से पूर्णत असम्बद्ध निर्दिष्ट किया है। आत्मा की यही अवस्था उपादेय है तथा इसकी प्राप्ति ही मुमुक्षुओ का लक्ष्य है। कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की अपेक्षा से ससारी आत्मा का कथन करते हुए उसे कर्मबन्धनो से युक्त कहा है। पूर्वापर कर्मबन्धनो से युक्त यह ससारी आत्मा जब राग अथवा द्वेष रूप विभाव परिणमन करता है उस समय उसमे परिस्पन्द उत्पन्न होते हैं और पुद्गल कर्मवर्गणाएँ आत्म प्रदेशो की ओर आकृष्ट होती हैं। ये नवागत पुद्गल कर्मवर्गणाएँ पूर्वापर विद्यमान पुद्गल कर्मों से ही बधती हैं और इस प्रकार आत्मा पर पुद्गल कर्मों का एक और आवरण छा जाता है। आत्मा को आवृत्त करने वाले ये समस्त कर्मावरण आत्मा के स्वाभाविक गुणो-दर्शन ज्ञान चारित्र को पूर्णत: व्यक्त नही होने देते और इस प्रकार अनन्त शक्ति का पुंज होते हुए भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के प्रभाव से आत्मा अपने को दीन हीन एव असहाय अनुभव करता है। कर्मों द्वारा आत्मा के स्वाभाविक गुण अनन्त सुख को आवृत्त कर दिए जाने पर आत्मा अपने सहज स्वाभाविक सुख को भूलकर पर द्रव्यो मे राग-द्वेष अनुभव करता हुआ सुख तथा दु ख मानता है। इस समस्त स्थिति को व्यवहारनय द्वारा स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि यद्यपि निश्चयनय से आत्मा स्व का ही कर्ता है पर का नही और कोई भी पर द्रव्य आत्मा का कुछ कर सकने मे समर्थ नही। समस्त द्रव्य अपन द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चतुष्टय मे परिणमन करते हैं और कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के चतुष्टय का अतिक्रमण कर सकने मे समर्थ नही है किन्तु ससारी अवस्था मे आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की उपस्थिति मे निज के विभाव रूप परिणमन द्वारा पुद्गल कर्मवर्गणाओ को आकृष्ट करता है। इस प्रकार कर्मों के आगमन के लिए आत्मा की विभाग परिणति ही उत्तर-दायी है अत स्वय को कर्मों से आच्छादित करने मे आत्मा ही उपादान कारण है और पूर्वबद्ध पुदगल कर्म नवागत पुद्गल कर्मवर्गणाओ से बन्धन मे सहायक होने के कारण निमित्त कारण मात्र हैं। इस प्रकार नवीन पुदगल कर्मों का पूर्वापरबद्ध कर्मों की ओर आकृष्ट होना पुद्गल द्रव्य का अपने चतुष्टय म परिणमन है अत पुद्गलकर्म ही इस परिणमन का उपादान कारण है। यह परिणमन आत्मा की उपस्थिति एव विभाव-परिणति के कारण ही सम्भव हो पाया अत· आत्मा की विभावपरिणति पुद्गल द्रव्य के परिणमन मे निमित्त कारण मात्र है। इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा से यह कहा जाता है कि आत्मा कर्मों से बद्ध है और कर्म आत्मा को सुख अथवा दु ख रूप अनुभव कराते है किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से कर्मबन्ध की अवधि पूर्ण होन पर आत्मा कर्मों से पृथक् होते समय सुख अथवा दु ख रूप अनुभव अपनी ही परिणति के कारण करता है[१०८] इस प्रकार आत्मा का यह विभाव परिणमन आत्मा के सुख अथवा दु.ख अनुभव करने मे उपादान कारण है और पुद्गल कर्मों का आत्मा से पृथक् होना कर्मविपाक का द्योतक एक निमित्त कारण मात्र है।

व्यवहारनय से आत्मा पुदगलकर्म का कर्ता और भोक्ता है। तथा अशुद्ध निश्चय नय से कर्मजनित रागादि भावो का कर्ता है।[१०९] पद्मप्रभ ने नय विवक्षा से कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार

नय की अपेक्षा आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता है तथा उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख-दु:ख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा समस्त मोह-राग-द्वेष रूप भाव कर्मों का कर्ता है तथा उन्हीं का भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा शरीर रूप नो कर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से घट-पटादि का कर्ता और भोक्ता है। जहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद से नय के दो भेद ही विवक्षित हैं वहाँ आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा अपने ज्ञानादि गुणो का कर्ता भोक्ता होता है और व्यवहारनय से रागादि भाव कर्मों का।

पद्मप्रभ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा निरूपित दोनो नयो की उपादेयता की व्याख्या करते हुए कहते हैं—अरिहन्त भगवान् ने दो नय कहे हैं—एक द्रव्यार्थिक, दूसरा पर्यायार्थिक। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिकनय है। एक नय के अधीन उपदेश ग्राह्य नही है किन्तु दोनो नयों के अधीन उपदेश ग्राह्य है।[११०]

कुन्दकुन्दाचार्य ने वैभाविक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध के समान ही स्वाभाविक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार यह सम्बन्ध षट्-द्रव्यो—जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल में विद्यमान रहता है। मुक्तात्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है किन्तु यह धर्म द्रव्य की अनुपस्थिति में सम्भव नही है अतः आत्मा के ऊर्ध्वगमन एव धर्म द्रव्य की गतिशीलता मे सहायक होने के बीच निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। लोकाग्र भाग से परे धर्म द्रव्य के अभाव के कारण आत्मा का गमन सम्भव नही। अधर्म द्रव्य ऊर्ध्वगामी आत्मा के लोकाग्र भाग में स्थित हो जाने मे सहायक होता है। आकाश द्रव्य वहाँ सिद्धात्मा को अवगाहना प्रदान करता है तथा काल द्रव्य के द्वारा एक पर्याय से दूसरी पर्याय मे रूपातर सम्भव होता है। इस प्रकार समस्त षट्द्रव्यो मे स्वाभाविक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध विद्यमान है।[१११]

कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार ससारी आत्मा और पुद्गल के बीच निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही व्यवहारनय से उनकी अशुद्ध पर्यायो का कारण है।

जीव के त्रिविध उपयोग की व्यवहारनय से व्याख्या

आत्मा का लक्षण चेतना और उपयोग है उसकी यह चेतना दर्शनोपयोग एव ज्ञानोपयोग के माध्यम से व्यक्त होती है। कोई भी जीव उपयोगशून्य नही है। सिद्धावस्था मे जीव का समस्त उपयोग आत्मकेन्द्रित होने की अपेक्षा से शुद्धोपयोग कहलाता है। ससारी अवस्था मे जीव का उपयोग मूलत शुभ और अशुभ कर्मों पर केन्द्रित होने के कारण शुभोपयोग एव अशुभोपयोग कहलाता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्धोपयोग का निरूपण निश्चय दृष्टि से किया है क्योंकि शुद्धोपयोग विशुद्ध आत्मद्रव्य का लक्षण है और यह लक्षण आत्मा की सिद्धावस्था अथवा अरिहन्तावस्था मे दृष्टिगोचर होता है। ससारी जीवो के समस्त व्यापारो को कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की दृष्टि से समझाया है। अशुभोपयोग द्वारा अशुभ कर्मबन्ध होने पर आत्मा का पतन होता है तथा शुभोपयोग द्वारा शुभकर्मबन्ध होने पर आत्मा प्रशस्तराग का अनुभव करते हुए भी पतनोन्मुख नहीं

हो पाता। व्यवहार चारित्र मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष द्वारा जीव अपना उपयोग अशुभ से हटाकर शुभ की ओर लगाता है। ऐसा जीव श्रमणावस्था में अपने उपयोग को अधिकाधिक स्व मे केन्द्रित करता हुआ समाधि मे स्थित होता है और समाधि के क्षणो मे उसका उपयोग शुद्धोपयोग होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की दृष्टि से अशुभोपयोग को हेय तथा शुभोपयोग को उपादेय निर्दिष्ट किया है, निश्चयनय की दृष्टि से उन्होने शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो को ही कर्मबन्ध व ससार भ्रमण का कारण मानते हुए हेय निर्दिष्ट किया है तथा एक मात्र शुद्धोपयोग को ही मुमुक्षुओ के लिए उपादेय बतलाया है। केवल शुद्धोपयोग से ही मोक्ष सम्भव है।

ससारी जीव कर्मबन्धन के अनुसार चतुर्गति मे भ्रमण करता है। विभिन्न गतियो मे भ्रमण करने वाले जीव के स्वरूप का निरूपण उस जीव द्वारा विभिन्न गतियो मे धारण की गई पर्यायो की अपेक्षा से पर्यायार्थिक नय द्वारा किया गया है। जीव द्वारा धारण की गई सभी पर्यायो मे जीवद्रव्य नही रहता है, यदि ऐसा न हो तो जीव द्वारा एक पर्याय का परित्याग करने पर वही जीव अन्य पर्याय मे उत्पन्न न हो। इस प्रकार जीव की शाश्वत सत्ता खण्डित हो जाएगी। कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्यार्थिक नय द्वारा जीवद्रव्य की शाश्वतता प्रमाणित की है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथन करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव को पर्याय के अनुरूप होने के कारण पर्यायवत् कहा है। हाथी की पर्याय ग्रहण करते समय आत्मा के प्रदेशो का विस्तार हाथी के परिमाणानुरूप हो जाता है और उसी आत्मा द्वारा चींटी की पर्याय धारण करते समय आत्मप्रदेशो का सकुचन चींटी के शरीर परिमाण से हो जाता है। पर्यायार्थिक नय मे कथन करते हुए भी कुन्दकुन्दाचार्य ने अशुद्धावस्था की न्यूनता अधिकता के कारण एक पर्याय को दूसरी पर्याय से भिन्न बताया है। पचगति अथवा मोक्ष प्राप्त करने पर आत्मा अपनी विशुद्ध पर्याय का धारी हो जाता है, उससे भिन्न समस्त गतियो मे धारण की गई समस्त पर्यायें आत्मा की विभाव पर्यायें है। मेरे मतानुसार कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रयुक्त निश्चयनय और व्यवहारनय से द्रव्यार्थिकनय एव पर्यायार्थिकनय दृष्टियाँ विषय निरूपण की दृष्टि से साम्य लिए हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य का लक्ष्य मुक्तावस्था मे आत्मा एव उसकी समस्त ससारी अवस्थाओं मे धारण की गई विभिन्न पर्यायों के बीच अन्तर स्पष्ट करना हैं, चाहे वह निश्चयनय और व्यवहारनय के माध्यम से हो अथवा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय के माध्यम से।

व्यवहारनय की उपयोगिता और सीमाएँ

कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि जिस प्रकार किसी म्लेच्छ व्यक्ति को अपनी बात समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना आवश्यक है उसी प्रकार ससारी आत्मा को विशुद्ध आत्मद्रव्य का बोध कराने के लिए व्यवहारनय आवश्यक है।[११२] व्यवहारनय में शास्त्रों का पठन-पाठन, सत्याचरण, अरिहन्त उपासना, दीन-हीनो की सेवा आदि सभी प्रकार के शुभाचरण सम्मिलित हैं इनके अतिरिक्त व्यवहार चारित्र द्वारा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है अत-

व्यवहारनय को नयाभास नहीं कहा जा सकता। यह वास्तविक किन्तु मोक्ष का अप्रत्यक्ष मार्ग है। व्यवहारनय पर आचरण करते हुए भव्य जीव अन्तत निश्चयनय के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं किन्तु अभव्य जीव व्यवहारनय के ऐकान्तिक आचरण द्वारा ससार में ही भ्रमण करते रहते हैं तथा उन्हे कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

अशुद्ध निश्चयनय का समावेश

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी रचनाओ मे निश्चयनय का विभाजन शुद्ध तथा अशुद्धनय के रूप मे नही किया है किन्तु उनके टीकाकार अमृतचन्द्र, जयसेन तथा अन्य लेखक जैसे देवसेन, आशाधर यथा नेमिचन्द्र आदि द्वारा अशुद्ध-निश्चयनय का प्रयोग किया गया है, जो व्यवहारनय और निश्चयनय के बीच की स्थिति का निरूपण करता है। व्यवहारनय आत्मा को पुद्गल कर्मों से बद्ध मानता है तथा निश्चयनय आत्मा को परद्रव्य से सर्वथा असम्बद्ध, स्वचतुष्टय मे परिणमन करने वाला विशुद्ध आत्मद्रव्य मानता है। इन दोनों ही नय दृष्टियो से यह कथन करना सम्भव नहीं है कि आत्मा रागादि भावकर्मों का कर्ता, भोक्ता है। इस कथन की व्याख्या टीकाकारो ने अशुद्ध निश्चयनय से की है।

सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैन विचारक राजमल्ल इस बात से सहमत नहीं है कि निश्चयनय के अन्तर्गत अशुद्ध निश्चयनय जैसी कोई दृष्टि हो सकती है।[११३] उनके अनुसार व्यवहारनय की अपेक्षा से अनेकानेक कथन किए जा सकते हैं अत व्यवहारनय का (१) उपचरित (२) अनुपचरित (३) सद्भूत (४) असद्भूत चार श्रेणियो में विभाजन मान्य हो सकता है किन्तु निश्चयनय व्यवहारनय के समस्त कथनों का खण्डन करने के कारण एक ही हो सकता है। राजमल्ल के अनुसार जो निश्चयनय का विभाजन अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चयनय मे करते हैं वे सर्वज्ञ के कथन की अवहेलना करते हैं। राजमल्ल द्वारा निश्चयनय को वास्तविकता का प्रतिषेधात्मक पहलू मानना तथा उसे व्यवहारनय द्वारा किये गए समस्त कथनो का खण्डन कर्ता मानना युक्तिसगत नही प्रतीत होता। कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चयनय द्वारा आत्मा के विशुद्ध गुणो जैसे दर्शन, ज्ञान आदि पर भी प्रकाश डाला है। निश्चयनय द्वारा उन्होने बहुत से कथनो द्वारा आत्मा सम्बन्धी धनात्मक जानकारी प्रस्तुत की है। ससारी जीव को अपना कथन स्पष्ट करने हेतु टीकाकारो ने अशुद्धनिश्चयनय का प्रयोग किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य का व्यवहारनय भेद-दृष्टि प्रधान है तथा उनके द्वारा प्रतिपादित निश्चयनय अभेदत्व पर बल देता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय को अभूतार्थ तथा शुद्धनय को भूतार्थ कहा है।[११४] शुद्धनय से कुन्दकुन्दाचार्य का अभिप्राय शुद्ध निश्चयनय से ही है क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को दर्शाने वाले नय को ही शुद्धनय मानते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं और व्यवहारनय की अपेक्षा से ही इन्हे आत्मा का कहा जाता है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा, ज्ञाता द्रष्टा मात्र है। सिद्धावस्था में ज्ञान और ज्ञाता मे अभेद हो जाता है।[११५]

कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा व्यवहारनय और निश्चयनय का प्रयोग किस अपेक्षा से किया गया है इसको संक्षेप में निम्न प्रकारेण समझा जा सकता है—कोई भी द्रव्य गुण

और पर्याय के बिना अस्तित्व मे नही रह सकता। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय दो प्रकार की हो सकती है स्वभाव पर्याय तथा विभाव पर्याय। जिस समय द्रव्य परपदार्थ से सर्वथा अलिप्त रहता हुआ स्वचतुष्टय मे परिणमन करता है उस समय वह स्वभाव पर्याय का धारक होता है उसकी इस स्थिति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि द्रव्य एक बार स्वभाव पर्याय मे स्थित होने के बाद विभाव पर्याय मे नही जाता अर्थात् स्वभाव पर्याय की स्थिति मे पर्यायरूपान्तरण न होने के कारण पर्याय गौण हो जाती है और विशुद्ध द्रव्य प्रधान हो जाता है। द्रव्य जब विभाव पर्यायधारी होता है तो वह अनन्तानन्त विभाव पर्यायो मे रूपान्तरित होता रहता है। इस स्थिति मे द्रव्य के गुण परद्रव्य से सयुक्त होने के कारण न्यूनाधिक व्यक्तावस्था मे होते हैं और लौकिक रूप द्रव्य का पर्यायवत् कथन किया जाता है। जिस प्रकार स्वर्ण से बने कुण्डल को पर्याय की अपेक्षा कुण्डल ही कहा जाता है और उसी स्वर्ण कुण्डल को पर्याय रूपान्तरण के कारण मुद्रिका कहा जाता है। लौकिक कथन की अपेक्षा से कथन स्वर्ण कुण्डल या स्वर्ण मुद्रिका रूप होता है और इस कथन का मूल कारण पर्याय का रूपान्तरण है। कुण्डल पर्याय मे स्वर्ण को पर्यायवत् स्वर्ण कुण्डल कहा गया तथा मुद्रिका पर्याय मे उसे पर्यायवत् स्वर्ण मुद्रिका कहा गया। वस्तुत मुद्रिका और कुण्डल स्वर्ण की स्वभाव पर्याय नही हैं क्योकि अन्य तत्त्व के सयोजन द्वारा ही शुद्ध स्वर्ण को कुण्डल अथवा मुद्रिकावत् ढालना सम्भव हो पाया हैं। स्वर्ण की स्वभाव पर्याय विशुद्ध स्वर्णद्रव्यमय ही है और उसकी इस पर्याय मे सर्वाधिक महत्त्व द्रव्यपरक उसकी शुद्धावस्था का है। कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रयुक्त व्यवहारनय तथा निश्चयनय अथवा पर्यायार्थिकनय तथा द्रव्यार्थिकनय का प्रयोग कुन्दकुन्दाचाय तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने भी ससार मे भ्रमण कर रही कर्मों से बद्ध आत्मा एव सिद्धावस्था को प्राप्त विशुद्धात्मा के स्वरूप के कथन की अपेक्षा म ही किया है। मेरे मतानुसार व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय तथा निश्चयनय और द्रव्यार्थिकनय के प्रयोग का उद्देश्य क्रमश आत्मा की विभाव पर्यायो का कथन तथा उसकी स्वभाव पर्याय का कथन करना है। ससारी अवस्था मे आत्मा विभावपर्यायधारी होता है, विभाव पर्याय अनन्तानन्त हैं अत जब ससारी आत्मा द्वारा इन अनन्तानन्त पर्यायो मे भ्रमण का निरूपण किया जाता है उस समय पर्याय दृष्टि की प्रधानता रहती ह। जब आत्मा मनुष्य गति के अनुरूप मानव शरीर रूपी पर्याय धारण करता है तो व्यवहार अथवा पर्यायार्थिकनय अपेक्षा से यह कहा जाता है कि उसका मनुष्य रूप मे जन्म हुआ। एक पर्याय के नष्ट हुए बिना दूसरी पर्याय धारण करना सम्भव नही है अत जब वही आत्मा आयुकर्म के क्षय होने पर मनुष्य पर्याय छोड़कर देव पर्याय का धारण करता है तो मनुष्य पर्याय की अपेक्षा से मनुष्य देह के चेतना शून्य हो जाने पर लौकिक कथन के अनुसार देहधारी आत्मा मृत्यु को प्राप्त कहलाता है तथा नवीन पर्याय को ग्रहण करने की अपेक्षा से देवगति के अनुरूप देवरूप मे उसका जन्म जाना जाता है। इसका मूल कारण यह है कि व्यवहारनय अथवा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से द्रव्य का कथन पर्यायवत् किया जाता है किन्तु वास्तविकता यह है कि द्रव्य न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है अत द्रव्य की दृष्टि से जो आत्मा मनुष्य देह में था वही आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों के अनुसार पर्याय बदलकर

देवदेहधारी हो गया। ससारी आत्मा के लिए उसकी पर्याय ही लौकिक कथन के लिए प्रमुख लक्षण है। अत: संसारी-आत्मा का कथन करते समय द्रव्य दृष्टि गौण होती है और व्यवहारनय की अपेक्षा से पर्याय दृष्टि प्रधान होती है। मुक्तात्मा के लिए एक ही पर्याय सम्भव है जो उसकी स्वभाव पर्याय है और शुद्धावस्था का प्रतीक है। सिद्धावस्था मे पर्याय का रूपान्तरण नहीं होता अत पर्याय की अपेक्षा से नानाविध कथन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती।[116] इस स्थिति में विशुद्ध आत्मद्रव्य का महत्त्व होता है। आत्मद्रव्य के समस्त गुण अपनी व्यक्तावस्था की पराकाष्ठा पर होते हैं। यह वह स्थिति है जिसमें गुण और गुणी मे कोई भेद नही रह जाता। इस स्थिति मे आत्मा पूर्णत: स्वतन्त्र, निश्चय, निष्काम तथा ज्ञाता-द्रष्टा मात्र होता है। आत्मा के समस्त गुणो को सश्लिष्ट कर निश्चयनय से वीतराग अथवा ज्ञाता-द्रष्टा कहा जा सकता है। आत्मा की यही अवस्था सर्वज्ञावस्था कहलाती है। सर्वज्ञ अवस्था मे आत्मा त्रिकालदर्शी कहलाती है अत वह, समस्त परपदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा, इस प्रकार से परपदार्थों से प्रभावित है किन्तु कुन्दाकुन्दाचार्य इस स्थिति का निराकरण करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार धूल रहित स्वच्छदर्पण से पदार्थों के प्रतिबिम्बित मात्र हो जाने से दर्पण परपदार्थ का कर्ता नहीं हो जाता तथैव विशुद्ध आत्मा त्रिकाल के समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्बित होने मात्र से परपदार्थ से किंचित् मात्र भी प्रभावित नहीं होता, वह आत्मा तो स्वयम्भू सज्ञा से विभूषित स्वचतुष्टय मे परिणमन करता है। अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उसे पर-पदार्थों का ज्ञाता द्रष्टा कहा जाता है। विशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्धात्मा निज का ही ज्ञाता द्रष्टा है।[117] ऐसे सिद्धात्मा का कथन शुद्ध निश्चयनय अथवा द्रव्यार्थिकनय से ही हो सकता है क्योकि इस नय ही से सिद्धात्मा का यथार्थ स्वरूप कहा जा सकता है।

शुद्धनय और निश्चयनय

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे आत्मा का निरूपण अनेकश शुद्धनय से किया है। शुद्धनय से कुन्दकुन्दाचार्य का तात्पर्य उस नय से है जो बन्ध रहित, पर चतुष्टय से रहित, नियत, अविशेष, अस्पृष्ट अथवा असयुक्त आत्मा का ज्ञान कराता है।[118] इस प्रकार शुद्ध नय से आत्मा की शुद्धावस्था का निरूपण कुन्दकुन्दाचार्य को अपेक्षित है। कुन्दकुन्दाचार्य 'निश्चय'[119], 'परमार्थ'[120], 'तत्त्व'[121], 'शुद्ध'[122] तथा 'भूतार्थ'[123] को एकार्थक मानते हैं।

कुन्दकुन्दाचाय ने आत्मा की शुद्धावस्था का निरूपण निश्चयनय द्वारा किया है। इस अवस्था मे आत्मा स्वचतुष्टय मे लीन ज्ञाता, द्रष्टा, मात्र होता है आत्मा की अवस्था के अतिरिक्त अन्य किसी भी अवस्था से सम्बन्धित कथन व्यवहारनय के अन्तर्गत आते हैं। इन कथनो मे से कुछ कथन आत्मा के ससारी पर्याय के कथन की अपेक्षाकृत उसकी शुद्धावस्था के निरूपण के अधिक निकट होते हैं अत ऐसे कथन व्यवहारनय के अन्तर्गत होते हुए भी निश्चयनय के अधिक निकट होते हैं। ऐसे कथनो को अशुद्ध निश्चयनय की श्रेणी मे रखा जाता है। यद्यपि ये कथन भी शुद्धनय के कथन की अपेक्षा से व्यवहारनय के अन्तर्गत ही आते हैं। उदाहरणार्थ ससारी आत्मा के कर्मों से सम्बद्ध होने की अवस्था

मे पुद्गल के गुण, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व्यवहारनय से आत्मा के कहे जाते हैं यह कथन विशुद्धात्मा की अपेक्षा से सर्वथा अग्राह्य है और व्यवहार की चरमसीमा का परिचायक है। आसन्नभव्य सम्यग्दृष्टि जीव का मोक्षोन्मुख आत्मा रत्नत्रय स्वरूप कहलाता है। यह कथन भी व्यवहारनय की अपेक्षा से है। किन्तु रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग होने के कारण यह कथन निश्चयनय दृष्टि के अधिक निकट है क्योकि रत्नत्रय के अभ्यासी मुमुक्षुजीव का उपयोग शुद्धोन्मुख शुभ होता है अत शुद्ध की अपेक्षा से उसे व्यवहार कहा जा सकता है किन्तु अशुभ तथा शुभ की अपेक्षा उसका स्तर अवश्य ही उच्च है। मोक्ष मार्ग के रूप मे रत्नत्रय व्यवहार है किन्तु रत्नत्रयमय आत्मा परद्रव्य से सर्वथा अलिप्त होने के कारण निश्चय मोक्ष मार्ग है।[१२४]

नय दृष्टि से आचार मीमांसा

कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रावको तथा श्रमणो के लिए पचव्रतो के पालन का निर्देश किया है। ससारी आत्मा इन व्रतो का पालन व्यवहारनय की अपेक्षा से करते हुए अशुभ कर्मबन्धन से बच सकता है। श्रमण जो सब प्रकार के अशुभ उपयोग का त्याग कर चुका है, शुभोपयोग मे इन पाँच व्रतो का पालन करते हुए उत्तरोत्तर शुद्धोपयोग की ओर अग्रसर हो सकता है। शुद्ध निश्चयनय से कोई भी जीव किसी अन्य जीव का घात करने मे समर्थ नही है अत हिसा से तात्पर्य आत्मा की स्वभाव परिणति से विचलित हो विभाव परिणमन द्वारा आत्मा का घात करना ही है। आत्मा की राग-द्वेषमय अवस्था ही हिसा है।[१२५] अपने उपयोग को अपने विशुद्ध स्वरूप मे केन्द्रित करना अहिसा है। आत्मा का विशुद्ध स्वरूप ब्रह्म है तथा उसमे निरन्तर तल्लीन रहना ब्रह्मचर्य। आत्मा की निरुपाधिक विशुद्ध अस्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति सत्य है। परद्रव्यो को ग्रहण न करना ही अस्तेय है। इसी प्रकार समस्त परपदार्थों के प्रति मूर्च्छा का परित्याग अपरिग्रह है। आत्मा से पूर्णतया भिन्न पुद्गल निर्मित शरीर के प्रति आसक्ति रखना भी परिग्रह है। शरीर के प्रति मूर्च्छा का त्याग मोक्ष प्राप्ति म सहायक है। इन पाँचों व्रतो का निश्चयनय से पालन आत्मा को वीतराग अवस्था मे स्थित कराता है। इस प्रकार निश्चयनय आत्मा के समस्त गुणो का सश्लेषण करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय कराता है और उसका यही स्वरूप समयसार कहलाता है।

आत्मा से पुद्गल के सयुक्त होने की अवस्था ससारी अवस्था कहलाती है। उसकी इस सोपाधिक अवस्था मे ज्ञानावरणीय आदि कर्म, राग, द्वेष आदि भाव कर्म, नोकर्म, जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान, सस्थान, सहनन, वर्ण, स्पर्श, रस, गन्ध आदि पुद्गल के समस्त गुण व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा के कहे जाते है। पुद्गल और आत्मा का सम्पर्क जल और दूध के मिश्रण के समान है। व्यवहार से जल और दूध एकाकार प्रतीत होते हैं लेकिन निश्चय से जल के परमाणु दूध के परमाणु से भिन्न ही रहते हैं। निश्चयनय से आत्मा वर्ण, रस, गन्ध रहित तथा इन्द्रिय द्वारा अग्राह्य, चेतना से युक्त, नि शब्द है।[१२६] निश्चयनय से अथवा द्रव्य दृष्टि से ससारी और मुक्त आत्मा मे कोई अन्तर नही हैं। जिस प्रकार मुक्त आत्माएँ जन्म, जरा, मृत्यु रहित तथा अष्टगुणयुक्त होती

हैं उसी प्रकार ससारी आत्मा भी द्रव्यदृष्टि मे इन गुणो से युक्त है। जिस प्रकार लोकाग्र-भाग मे स्थित मुक्तात्माएँ अशरीरी, अविनाशी, इन्द्रियरहित, कर्मफल से विमुक्त तथा विशुद्ध द्रव्य हैं उसी प्रकार ससारी आत्मा भी विशुद्ध द्रव्य की दृष्टि से इन सभी गुणो से सहित है।[127] शुद्ध निश्चयनय का सबसे महत्त्वपूर्ण काय स्वसमय अर्थात् निर्मल आत्मा का वर्णन करना है।[128]

सम्यग्दृष्टिधारी जीव पूर्वार्जित कर्मों का उदय होने पर भी अपना उपयोग स्व मे केन्द्रित करते समय किसी प्रकार का सुख अथवा दुख अनुभव नही करता और उसके कर्मों की निर्जरा हो जाती है कर्मोदय के समय रागद्वेष से रहित होने के कारण उसको कर्मबन्ध नही होता। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि रागद्वेष मे लिप्त होने के कारण पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय होने पर व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मजनित सुख अथवा दुख का भोक्ता कहलाता है तथा रागद्वेष रूप परिणमन करते हुए नवीन कर्मों का बन्ध करता है। अभव्य जीव मोक्ष मे श्रद्धा न होने के कारण शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी मोक्ष प्राप्त नही करता। शुभ कर्मबन्ध के कारण वह देवगति मे जन्म तो ले सकता है किन्तु आत्मा के वास्तविक स्वरूप म श्रद्धान न हो सकने से उसे कदापि मोक्ष नही हो सकता। वह इन्द्रियजनित सुखो मे ही सुख दुख का अनुभव करता है।[129] इसके विपरीत भव्यजीव इन्द्रियजनितसुखो के प्रति तटस्थ रहता हुआ शुभ और शुद्ध उपयोग द्वारा मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

व्यवहारनय मोक्ष का अप्रत्यक्ष मार्ग है क्योकि उसके द्वारा शुभोपयोग मे व्यवहारचारित्र की प्रेरणा मिलती है। शुभोपयोग मे व्यवहारचारित्र शुद्धोपयोग की ओर उन्मुख कराता है और भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र द्वारा निश्चयनय के अनुसार आचरण करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। व्यवहारनय की सार्थकता निश्चय-नय की ओर उन्मुख कराने मे ही है। निश्चयनय की उपयोगिता आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करने तथा उसके द्वारा मुमुक्षु मे मोक्षप्राप्ति की इच्छा को जागृत करने मे है। यदि व्यवहारनय प्रतिषेध्य है तो निश्चयनय प्रतिषेधक है।[130] लेकिन निश्चयनय व्यवहारनय का पूर्णत खण्डन नही कर सकता क्योंकि व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो ही आंशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। निश्चयनय आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का निकटता से दिग्दर्शन कराता है किन्तु कथन की शैली होने के कारण अनिर्वचनीय आत्मा का उसकी सम्पूर्णता मे वर्णन करने में समर्थ नहीं होता। आत्मा की विशुद्धावस्था अनुभव का विषय है और उसकी सम्पूर्णता को अनुभव द्वारा ही जाना जाता है। नयो की उपयोगिता आत्मा के शुद्धस्वरूप के निकट तक पहुँचाने के कारण है क्योंकि आत्मा की शुद्धावस्था तक पहुँचना एक क्रमिक प्रक्रिया है। अमृतचन्द्र ने व्यवहार और निश्चय दोनों के सापेक्ष महत्त्व पर समयसार की टीका मे प्रकाश डाला है कि यदि कोई जीव जिनशिक्षाओ का पालन करना चाहता है तो उसे व्यवहार और निश्चय का आश्रय नही छोडना चाहिये। व्यवहार की अनुपस्थिति में धर्माचरण सम्भव नहीं होगा, निश्चय की अनुपस्थिति में सर्वोच्च, सत्य की प्राप्ति असंभव हो जाएगी।[131] इस प्रकार व्यवहार और निश्चय दोनों नय परस्पर सम्बद्ध हैं। ये दोनो वाद और प्रतिवाद के समान हैं। एक की अनुपस्थिति मे

दूसरे की उपस्थिति सम्भव नही। इनके द्वारा आगम का ज्ञान प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ मे पद्मप्रभ की व्याख्या अत्यधिक ग्राह्य है।[122] इस प्रकार इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष है कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे निर्मल आत्मा अथवा समयसार का निरूपण करते समय नयसिद्धान्त की सीमाओ को स्पष्टरूप से दर्शाया है। आत्मा कर्मों से बद्ध है या अबद्ध ये दो परस्पर भिन्न नय पक्ष है। समयसार इन पक्षों से परे अर्थात् पक्षातिक्रान्त है।[123] एक अथवा अनेक स्थायी अथवा सक्रमणशील, व्यक्त अथवा अव्यक्त, बद्ध अथवा अबद्ध ये सभी नयपक्ष हैं, परमार्थरूपी वस्तु इन पक्षो से परे है।[124]

कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार अथवा परमार्थ अथवा विशुद्ध आत्मनिरूपण के सिद्धान्त के सन्दर्भ मे समयसार के टीकाकार अमृतचन्द्र ने नय के स्वरूप पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाण
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित नय व्याख्या आत्मा के शुद्ध स्वरूप का उत्तरोत्तर ज्ञान कराती है। आत्मानुभव के अनिर्वचनीय वैभव के समक्ष नयदृष्टि, प्रमाण और निक्षेपचक्र स्वत ही महत्त्वहीन हो जाते हैं।

सन्दर्भ

१. जैन दार्शनिक प्रकरण सग्रह, (सम्पादक) नगीन, जी० शाह, भारतीय सस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद १९७३, पृ० १६१

२. 'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वमतोऽन्यथाऽसत्वमसूपपादम्।'
—मल्लिषेण, स्याद्वादमजरी, (सम्पादक) जगदीशचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५, गाथा २२, पृ० २६७

३ स्याद्वादमञ्जरी, गाथा टीका २३, पृ० २८३ आदि

४ अपर्यय वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदितसप्तभगमीदृशस्त्व बुधरूपवेद्यम्॥
—सूरि, मल्लिषेण: स्याद्वादमञ्जरी, (सम्पादक) जगदीशचन्द्र, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई १९३५, गाथा २३, पृ० २७१

५. विमलदास, सप्तभगी तरगिणी, (सम्पादक) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई १९१६, पृ० ३

६ 'एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद् अविरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयो. समुदितयोश्च विधिनिषेधयो पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाछितो वक्ष्यमाणै सप्तभि प्रकारैर्वचनविन्यास सप्तभगीति गीयते'
—स्याद्वादमञ्जरी, पृ० २७८

७ 'भंगास्सत्वादयस्सप्त संशयास्सप्त तद्गता ।
जिज्ञासास्सप्त स्यु प्रश्नास्सप्तोत्तराण्यपि ।।' —सप्तभगीतरंगिणी, पृ० ८

८ पञ्चास्तिकाय, गाथा १४, पृ० ३०

९ अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्व ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्ण वा ।।
—प्रवचनसार २।२३, पृ० १४६

१० कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहारनय तथा निश्चयनय के माध्यम से कथन किया है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो मे द्रव्यार्थिकनय तथा पर्यायार्थिक नय निरूपण है।

११ 'नैगमसग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवभूता नया ' —तत्त्वार्थ १।३३, पृ० ७०

१२ आया भते, रयणप्पभा पुढवी अन्ना रयणप्पभा पुढवी
गोयमा, रयणप्पभा सिय आया, सिय नो आया,
—भगवतीसूत्र १२।१०

१३ सुया, एगे वि अह दुवे वि अह जाव अणेगभूयभावभविए वि अह ।
से केणट्ठेण भते, एगे वि अह जाव ।
सुया, दव्वट्ठाए एगे अह, नाणदसणट्ठाए दुवे वि अह, णएसट्ठाए अक्खए वि अह अव्वट्ठिए वि अह उवओगट्ठाए अणगभूयभावभविए वि अह ।
—ज्ञातृधर्मकथा ५।४६

१४ प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० ८१

१५ 'दव्व अणतपज्जयमेगमणताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगव किध सो सव्वाणि जाणादि ।'
—प्रवचनसार, १।४६, पृ० ५७

१६ वही, गा० १।४९, पृ० ५७ नियमसार, गाथा १५८, पृ० १३६

१७ जुगव वट्टइ णाण केवलणाणिस्स दसण च तहा ।
दिणयरपयासताप जह वट्टइ तह मुणेयव्वम् ।।
—नियमसार, गाथा १५९, पृ० १३७

१८ (क) Hiriyana, M Outlines of Indian Philosophy, London, 1932, p 172-73
(ख) Radhakrisnan, S Indian Philosophy, Vol I, London, 1966, p 305-8
(ग) श्रीभाष्य, २।४५
(घ) शांकरभाष्य २।२।३३

१९. कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।
—समयसार, गाथा १४२' पृ० २०१

२०. 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' —कठोपनिषद् १।२।९,
'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' —वही, १।२।२३

२१ 'कर्मशब्दस्यानेकार्थत्वे क्रियावाचिनो ग्रहणमिहान्यस्यासभवात्'

तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ६।१।३, पृ० ४४२

'कर्मशब्दोऽनेकार्थ —क्वचित्कर्तुरीप्सिततमे वर्तते—यथा घट करोतीति। क्वचित्-पुण्यापुण्यवचन यथा 'कुशलाकुशल कर्म'—आप्तमीमासा श्लोक ८ इति। क्वचिच्च क्रियावचन यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुचन प्रसारण गमनमिति कर्माणि—वैशेषिक सूत्र १।१।७ इति। तत्रेह क्रियावाचिनो ग्रहणम्।

२२. 'वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणाम पुद्गलेन च स्व-परिणाम व्यत्ययेन च निश्चयव्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म। करण प्रशसा-विवक्षाया कर्तृधर्माध्यारोपे सति स परिणाम कुशलमकुशल वा द्रव्यभावरूप करोतीति कर्म। आत्मन प्राधान्यविवक्षाया कर्तृत्वे सति परिणामस्य करणत्वोपपत्ते बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति। साध्यसाधनभावानभिधित्साया स्वरूपा-वस्थिततत्त्वकथनात् कृति कर्मेत्यापि भवति।'

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ६।१।७, पृ० ४४८

२३ आप्तपरीक्षा टीका ११३, पृ० २६६ (वीर सेवा मदिर, सरसावा, वि० स० २००६)

२४ 'कम्मतणेण एक्क दव्व भावोत्ति होदि दुविह तु।
पोग्गलपिडो दव्व तस्सत्ती भावकम्म तु॥'

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मटसार, कर्मकाण्ड (सम्पादक) मनोहरलाल, राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९७१, गाथा ६, पृ० ४

२५ (क) बज्झदि कम्म जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो।
कम्मादपदेसाण अण्णोण्णपवेसण इदरो॥

–नेमिचन्द्र द्रव्यसग्रह, गाथा ३२, पृ० ६७ (सम्पादक) दरबारीलाल कोठिया, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, बनारस, १९६६

(ख) प्रवचनसार, गाथा १।९५, पृ० २२८

२६ मिच्छत्त पुण दुविह जीवमजीव तहेव अण्णाण।
अविरदि जोगो मोहो कोधादीया इमे भावा॥

—समयसार, गाथा ८७, पृ० १४४

२७ वही, गाथा ८८, पृ० १४६

२८ (क) 'क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणाम पुद्गलोऽपि कर्म'

—प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा २।२५, पृ० १५०

(ख) Das Gupta, S N A History of Indian Philosophy, Vol I, London, 1969 p 191

२९ प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा २।३२, पृ० १५८

३०. 'ज्ञानदर्शनावरणांतरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्माणि'

—नियमसार, तात्पर्यवृत्ति गाथा १०७, पृ० ८९

३१ समयसार, आत्मख्याति, पृ० ४८९-५१०

३२ (क) वही, पृ० ५११-१८

(ख) नेमिचन्द्राचार्य कर्मप्रकृति, (सम्पादक) शास्त्री, हीरालाल, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४, गाथा १०८-२१, पृ० ५३-५८

३३ विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम मुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥
—समयसार, आत्मख्याति, श्लोक २३०, पृ० ५११

३४ Zimmer, Henrich Philosophies of India, London, 1951, p 257

३५ योगीन्दुदेव—परमात्मप्रकाश (सम्पादक) उपाध्ये, ए० एन०, अगास, १९६०, गाथा ६२, पृ० ६

३६ Zimmer, Henrich Philosophies of India, p 248-49

३७ Schubring, Walther The Doctrine of the Jainas, Motilal Banarsidass, 1962, p 320

३८ कुन्दकुन्दाचार्य पञ्चास्तिकाय, गाथा १३३, पृ० १९६

३९ प्रवचनसार, गाथा १।१९, पृ० २३

४० वही, गाथा २।२९, पृ० १५४

४१ 'णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तसिमभाव किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो॥'
—पञ्चास्तिकाय, गाथा २०, पृ० ४२

४२ Schubring Walther The Doctrine of the Jainas, p 152

४३ Das Gupta S N A History of Indian Philosophy Vol I, p 190

४४. समयसार, गा० १४६, पृ० २१६

४५ वही, गा० ४, पृ० ११

४६ पचास्तिकाय, गा० १६५-६६, पृ० २३८-३९

४७ वही, गा० १६४, पृ० २३६

४८ 'जह भारवहो पुरिसो वहइ भर गेहिऊण कावलिय
एमेव वहइ जीवो कम्मभर कायकावलिय॥'
—नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती गोम्मटसार, जीवकाण्ड, परमश्रुत-प्रभावकमण्डल बम्बई १९२७, गा० २०१, पृ० ८१

४९ तत्त्वार्थसूत्र, ८।२-३, पृ० ३५४-५५

५० 'कर्मणा बध्यते जन्तु, विद्यया तु प्रमुच्यते' —महाभारत, २४०-७

५१ 'क्लेशमूल कर्माशय दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय' —योगसूत्र, २।१२,
'कर्माशुक्लकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषा' —वही, ४।७

५२ गुणधर भट्टारक कषायपाहुड, (सम्पादक) सुमेरुचन्द्र, फलटण, १९६८, प्रस्तावना, पृ० २०

५३ पचास्तिकाय, गा० ९७, पृ० १५५

५४ वही, गा० ९८, पृ० १५६

५५. 'भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ—परिणाममात्रलक्षणो भाव परिस्पन्दलक्षणा क्रिया' —अमृतचन्द्र प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका, २।३७, पृ० १६४-६५

५६ 'अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवसद्द्वयो पृथक् ।
अस्ति शक्ति विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ।। —पञ्चाध्यायी २।४२

५७ 'औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसानि शरीराणि हि नोकर्म्माणि'
—नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा० १०७, पृ० ८६

५८ 'देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्म ।
पडिसमय सव्वग तत्तायसपिंडओव्व जल ।।
—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, (सम्पादक) मनोहरलाल, अगास, १६७१, गा० ३, पृ० २

५६ 'परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहिं ।।
—प्रवचनसार, गा०२।६५, पृ० २२८

६० वही, गा० २।७१-७४, पृ० २०४-७

६१ 'अतोऽवधार्यते द्वयणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलाना न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति'
—प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० २।७५, पृ० २०६

६२ 'ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषाऽस्ति'
—वही, गा० २।७६, पृ० २१०

६३ ओगाढगाढनिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं वादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ।।' —वही, पृ० २०६

६४ 'यथा भाजनविशेषे क्षिप्ताना विविधरसबीजपुष्पफलाना मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थिताना योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्य ।'
—सर्वार्थसिद्धि, ८।२, पृ० २२२

६५ समयसार, गा० ८०, पृ० १३५

६६ (क) समयसार, गा० ८१, पृ० १३५
(ख) प्रवचनसार, २।७७, पृ० २१०

६७. वही, गा० २।८५, पृ० २१८

६८ (क) प्रवचनसार, गा० २।६२, पृ० २२५
(ख) समयसार, गा० ७६, पृ० १३३, गा० ८३, पृ० १३७

६६. 'जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ।।
—अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्धयुपाये, (सम्पादक) उग्रसेन, रोहतक, १६३३, गा० १२, पृ० १७

७० समयसार, गा० ८५-८६, पृ० १४०-४१

७१ प्रवचनसार, गा० २।७६, पृ० २११

७२. वही, गा० २८०, पृ० २१२

७३ पंचास्तिकाय, गा० ७, पृ० १८

७४ 'आदा कम्ममलिमसो परिणाम लहदि कम्मसजुत्त ।
तत्तो सिलिसदि कम्म तम्हा कम्म तु परिणामो ॥'

—प्रवचनसार, गा० २।२६, पृ० १५४

७५ जो खलु ससारत्था जीवो तत्तोदु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इदियाणि जायत ।
तेहिं दु विषयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥

—पचास्तिकाय, गा० १२८-४०, पृ० १६१

७६ भावपाहुड गा० ११६, अष्टपाहुड, पृ० १६८

७७ पचास्तिकाय, गा० १४७-४६, पृ० २१३-१५

७८ समयसार, गा० १३२-३६, पृ० १६४

७६ प्रवचनसार, गा० २।८७ पृ० २२०

८० (क) पचास्तिकाय, गा० १३३-३४, पृ० १६६-६७
(ख) प्रवचनसार, गा० २।८१-८२, पृ० २१४-१५
(ग) समयसार, गा० १०५-७, पृ० १७०-७२

८१ तत्त्वार्थसूत्र ८।३, पृ० ३५५

८२ प्रवचनसार गा० २।८५ पृ० २१८

८३ वही, गा० २।८६, पृ० २१६

८४ 'कत्ता करण कम्म फल च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्ण जदि अप्पाण लहदि सुद्ध ॥'

—प्रवचनसार, गा० २।३४, पृ० १६०

८५ (क) 'बधाण च सहाव वियाणिओ अप्पणो सहाव च ।
बधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खण कुणई ॥

—समयसार, गा० २६३, पृ० ३८७

(ख) वही, गा० ३१६, पृ० ४१७
(ग) नियमसार, गा० १७५, पृ० १५०
(घ) मोक्षपाहुड, गा० ४८, पृ० २५६
(ङ) समयसार, गा० ४१२, पृ० ५३४
(च) 'कम्मखवणे हि मोक्ख सुह' —रयणसार, गा० १४८, पृ० १८६

८६ पचास्तिकाय, गा० १३१, पृ० १६४

८७ वही, गा० १३६-३७, पृ० २००-१

८८ वही, गा० १३८, पृ० २०२

८९ (क) भावपाहुड, गा० ११७-१८, पृ० १९८-९९

(ख) पञ्चास्तिकाय, गा० १३२, १३९-४०, पृ० १९५ २०३-४

९० (क) पचास्तिकाय, गा० १४१-४६, पृ० २०५-२०

(ख) वही गा० १५० ५२, पृ० २१६-१९

९१ फाणियगुले ण भंते। कइवन्ने कइगधे ' गोयमा ! एत्थ ण दो नया भवति, त० — निच्छइयनए य वावहारियनए य ...'

—भगवतीसूत्र, विवाह पण्णति १८, उद्देशक ६, गा० ६२९ सुत्तागमे प्रथम भाग, (सम्पादक) पुप्फभिक्षु, सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुडगाँव छावनी, १९५४, पृ० ७७१-७२

९२ (क) 'सतपरूवणदाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य'

११८—पुष्पदन्त—भूतबलि, षटखण्डागम, शोलापुर, १९६५, पृ० ५

(ख) मालवणिया, दलसुख न्यायावतारवार्तिकवृत्ति, बम्बई, १९४९, प्रस्तावना, पृ० २९

९३ Chakravarti, A. (Ed.) Samayasāra, Bhartiya Jñanapitha, 1971, p. 106

९४ तत्त्वार्थसूत्र, ५।१२

९५ अकलक तत्त्वार्थराजवार्तिकालकार, भाग ४-५, ५।१२।६, पृ० १३६

९६ विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालकार, छटा खण्ड, कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६९, ५।१२।२ पृ० ११४

९७ विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, चौथा खण्ड, १।३३

९८ (क) आत्मस्मरण, देसाई, मूलशकर, आगरा

(ख) 'आत्मधर्म', श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ

९९ समयसार, गा० ७, पृ० १७

१००. वही, गा० २०४, पृ० २९०

१०१ वही, गा० ३५६ से ३६०, पृ० ४५७

१०२ वही, गा० ३४५ से ३४८, पृ० ४४६-४८, प्रवचनसार, २।१९, पृ० १४०

१०३ प्रवचनसार, १।१०, पृ० १०

१०४ समयसार, गा० २७६, पृ० ३६८

१०५ वही, गा० २७, पृ० ५९

१०६ समयसार, (सम्पा०) चक्रवर्ती, ए० गा० ५६, पृ० ५५

१०७ वही, अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० १०४

१०८ समयसार, गा० ८३, पृ० १३७

१०९ वही, गा० ८२, पृ० १३५

११० वही, तात्पर्यवृत्ति, गाथा टीका १८, पृ० १८

१११ 'द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिका पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिक । पर्याय एव प्रयोजनमस्येति पर्यार्यार्थिक । न खलु एक — नयायत्तोपदेशो ग्राह्य किन्तु तदुभयायत्तोपदेश '

—नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा टीका १६, पृ० १६

११२ समयसार, गा० ८, पृ० १६

११३ (अ) राजमल्ल पञ्चाध्यायी, भाग १, गा० ६५७-६०

(ब) समयसार, गा० ३, पृ० १०

११४ वही, गा० १०, पृ० २३

११५ वही, गा० ७, पृ० १७

११६ वही, गा० १५६, पृ० २२६

११७ 'णिच्छयणयस्य एव आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो त चेव जाण अत्ता दु अत्ताण ।।

—समयसार, गा० ८३, पृ० १३७

११८. जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अवणय णियद ।
अविसेसमसजुत्त त सुद्धणय वियाणीहि ।। —वही, गा० १४, पृ० ३५

११९ मोत्तूण णिच्छयट्ठ ववाहारेण विदुसा पवदृ ति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।

—वही, गा० १५६, पृ० २२६

१२० वही

१२१ वही, गा० २९, पृ० ६१

१२२ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो यु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ।। —वही गा० ११, पृ० २२

१२३ वही

१२४ णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहि ममाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ।।

—पञ्चास्तिकाय, गा० १६१, पृ० २३२

१२५. समयसार, गा० २६२, पृ० ३५०

१२६ नियमसार, गा० ४६, ८०, पृ० ४१, ६३

१२७ वही, गा० ४७ से ४९, पृ० ४२-४३

१२८ 'सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया ससिदी जीवा ।।' —नियमसार, गा० ४९, पृ० ४३

१२९ समयसार, गा० २७३ से २७५, पृ० ३६५-६७

१३० वही, गा० टीका २७६, अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, पृ० ३६९

१३१ 'जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहार णिच्छेद् मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्चम् ।।'

—समयसार, आत्मख्याति, गा० टीका १२, पृ० २९

१३२ 'उभयनयविरोधध्वसिनि स्यात्पदाके
जिनवचसि रमते ये स्वय वातमोहा '
सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षत एव ॥

—नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० टीका १६, पृ० २०

१३३ 'पक्खातिक्कतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो'

—समयसार, गा० १४२, पृ० २०१

१३४. य एव मुक्त्वा नयपक्षपात स्वरूपगुप्ता निवसति नित्य ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृत पिबति ॥

—समयसार, आत्मख्याति, गा० टीका १४२, पृ० २०२

उपसंहार

(१) ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे दक्षिण भारत के कोण्डकुन्दे नामक स्थान पर अवतीर्ण हुए कुन्दकुन्दाचार्य का दिगम्बर-जैन-परपरा के आचार्यों में अग्रगण्य स्थान है। आत्म-केन्द्रित दार्शनिक दृष्टिकोण से पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार का उनकी कृतियों मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन चार कृतियो मे प्रथम तीन 'प्राभृत-त्रय' तथा 'नाटकत्रय' की सज्ञा से अभिहित हैं। कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियाँ द्वादशाङ्ग वाणी से सम्बद्ध होने से मान्य है।

(२) क—पञ्चास्तिकाय की रचना का प्रयोजन शिवकुमार महाराजा को ही प्रतिबोधित करना नही है अपितु पञ्चास्तिकाय की रचना जिनवाणी की भक्ति से प्रेरित होकर भव्य जीवो के लिए मोक्षमार्ग की प्रभावना के लिए की गई है।

(ख) पञ्चास्तिकाय मे निरूपित सत्ता के लक्षण मे स्याद्वाद-कथन-शैली का सकेत मिलता है। यह सत्ता का विश्लेषण आगम तथा आगमेतर साहित्य मे निरूपित सत्-स्वरूप से विलक्षण है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इस विश्व मे व्याप्त विविध लक्षण वाले समस्त द्रव्यो का सत् (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त) ऐसा सर्वगत एक लक्षण करते हुए सत्ता के सर्वपदार्थस्थिता महासत्ता स्वरूप निरूपण द्वारा आगमोक्त "जो एग जाणई सो सव्व जाणई" की सार्थकता अभिव्यक्त की है तथा केवली को महासत्ता का ज्ञाता कहा है। अवान्तरसत्ता के निरूपण द्वारा उन्होने द्रव्यो के विभाव परिणमन की व्याख्या करते हुए अनन्तपर्यायात्मक लोक का स्वरूप प्रस्तुत कर सर्वज्ञ को समस्त ज्ञेयो का ज्ञाता कहा है।

(३) क—जीव का लक्षण चेतना और उपयोग है। जीव ही सुख और दु ख का अनुभव करता है अत अनन्तसुख की प्राप्ति के लिए समस्त परपदार्थों से पूर्णत असम्बद्ध होकर अपनी विशुद्धावस्था मे स्थित होना उसके लिए उपादेय है।

(ख) असत् का जन्म व सत् का विनाश नही होता, द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, द्रव्य मे गुण सहभावी तथा पर्याय क्रमभावी हैं अत सभी द्रव्य द्रव्यदृष्टि से सदाकाल स्वचतुष्टय मे परिणमन करते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यो का परिणमन सदा स्वभाव और विभाव मे ही (शुद्ध) रहता है परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य मे शुद्ध और अशुद्ध अथवा स्वभाव और विभाव दोनो प्रकार का परिणमन होता है।

(ग) कुन्दकुन्दाचार्य ने सत्ता, द्रव्य, पञ्चास्तिकाय तथा तत्त्व-निरूपण के माध्यम से ससारी जीवों मे भेद-विज्ञान द्वारा स्वपरविवेक उत्पन्न करने का प्रयत्न किया

है। स्वपरविवेक द्वारा जीव सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है।

(४) क—प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत Mediate अर्थात् इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त ज्ञान को 'परोक्ष-प्रमाण' तथा Immediate अर्थात् इन्द्रियनिरपेक्ष आत्मानुभूत ज्ञान को 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' कहा है। परोक्ष-प्रमाण परप्रकाशक है तथा प्रत्यक्ष-प्रमाण स्व-परप्रकाशक है।

(ख) प्रत्येक द्रव्य अनन्तगुणधर्मात्मक है अत उसके यथार्थ ज्ञान के लिए सप्त-भगी का निर्देश किया गया है।

(ग) तत्त्वार्थ के स्वभाव का निरूपण कराने वाला नय निश्चयनय है, तत्त्वार्थ के विभाव का निरूपण करने वाला नय व्यवहारनय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चयोन्मुखी व्यवहारनय को निरूपित किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने ससारी जीव को आत्मा के विशुद्ध-स्वरूप का बोध कराने के लिए उसके सीमित ज्ञान को दृष्टिगत रखते हुए व्यवहारनय का आश्रय लिया है, भव्यजीवो को उनकी प्रच्छन्न अनन्तगुणात्मिका शक्ति का बोध कराने के लिए निश्चयनय माध्यम से विशुद्धात्मद्रव्य का निरूपण किया है। इस प्रकार 'जीव का स्वरूप नय-दृष्टि से जानकर नयपक्षातिक्रान्त समय अथवा विशुद्ध आत्मा को उपादेय माना जाए' यही कुन्दकुन्दाचार्य के नयनिरूपण का प्रयोजन है क्योकि निर्मल-आत्मा ही समयसार है।

(५) क—जीव स्वपरिणमन का कर्ता है, कोई भी परद्रव्य अथवा परसत्ता उसे किसी भी प्रकार से सुख अथवा दुःख प्रदान करने मे सक्षम नही है। कुन्दकुन्दाचार्य, किसी ईश्वर आदि जगत्कर्ता द्वारा जीव को पुरस्कार रूप सुख अथवा दण्ड रूप दुःख प्रदान किया जाना, स्वीकार नही करते हैं।

(ख) जीव का उपयोग अशुभ, शुभ तथा शुद्धस्वरूप वाला होता है। अशुभोप-योग की तुलना मे शुभोपयोग उपादेय है तथा शुद्धोपयोग की तुलना मे अन्य दोनो हेय हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए केवल शुद्धोपयोग ही उपादेय है।

(ग) ससारी जीव के शुभ कर्मों से पुण्य का बन्ध होता है तथा अशुभ कर्मों से पाप का बन्ध होता है। पुण्य और पाप दोनो ही बन्ध के कारण हैं अत हेय हैं। मुमुक्षु को इन दोनो की निर्जरा करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(घ) सिद्ध जीव किसी बाह्य कारण से उत्पन्न न होने से कार्य नही और मुक्त होने की अपेक्षा से वे किसी कार्य को उत्पन्न नही करते अत कारण भी नही हैं।

(ङ) 'उवसपयामि सम्म' (प्रवचनसार १/५) द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य स्वय को साम्यभाव मे प्रस्तुत करके श्रमणो के अनुकरण के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते है।

(च) कुन्दकुन्दाचार्य ने जीव के ससार-भ्रमण का कारण उसका अनादिकाल से पुद्गल कर्म से बन्ध माना है। ससारी जीव द्वारा कर्मास्रव का सवर तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा किए जाने पर मोक्ष सम्भव है।

(छ) मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र की युगपत् प्राप्ति अनिवार्य है।

(ज) श्रमणों के द्रव्यलिंगी तथा भावलिंगी भेदो के निरूपण द्वारा भावलिंगी

श्रमण को मोक्ष का अधिकारी कहा है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने तत्त्व समीक्षा के अन्तर्गत षड्द्रव्यो तथा सप्त तत्त्वो का, ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत परोक्ष ज्ञान-प्रत्यक्ष ज्ञान, स्याद्वाद तथा नयवाद का और आचार मीमांसा के अन्तर्गत उपयोगत्रय, रत्नत्रय, कर्म तथा पदार्थों का निरूपण किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो से सम्बन्धित अधुनातम प्रकाशित साहित्य मे अनालोचित प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की मौलिक अवधारणाएं—

कथन करने की शैली से कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो की समालोचना

समयसार	—	द्रव्यदृष्टिप्रधान
प्रवचनसार	—	पर्यायदृष्टिप्रधान
पचास्तिकाय	—	प्रमाणदृष्टिप्रधान
नियमसार	—	साधकदृष्टिप्रधान

रत्नत्रय की दृष्टि से प्रधानता

समयसार	—	दर्शन-प्रधान
प्रवचनसार	—	चारित्र-प्रधान
पचास्तिकाय	—	ज्ञान-प्रधान
नियमसार	—	रत्नत्रय-निरूपण

विषयवस्तु की दृष्टि से प्रधानता

समयसार	—	आत्मनिरूपण प्रधान
प्रवचनसार	—	श्रमण एव श्रामण्य निरूपण प्रधान
पचास्तिकाय	—	लोकनिरूपणप्रधान

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे निरूपित प्रमुख बिन्दु—

(१) कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियो मे 'वत्थुसहावो धम्मो' का सही एप्लीकेशन हुआ है।

(२) पुद्गल के स्वभाव-विभाव भेद के स्पष्टीकरण हेतु नियमसार मे स्कन्ध-भेदो की सज्ञाएं परम्पराप्राप्त (आगम तथा परवर्ती साहित्य मे प्राप्त) भेदो की सज्ञा से भिन्न हैं।

(३) पुद्गल का पुद्गल से सम्बन्ध पुद्गल की विभावदशा है, जीव का जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य के साथ सम्बन्ध जीव तथा पुद्गल दोनो की विभाव दशा है।

(४) विभाव (बन्ध) समाप्ति मे स्वभाव (मुक्ति) स्थित जीव पुन विभाव दशा को प्राप्त नही होता क्योकि जीव स्वभाव अभूतपूर्व सिद्धत्व (जो पूर्व मे प्राप्त नही था) है। पुद्गल का स्वभाव परमाणु अभूतपूर्व न होने से स्वभाव मे आने के बाद भी विभाव को प्राप्त हो सकता है।

(५) व्यवहारनय से आत्मा सर्वज्ञ है तथा निश्चयनय से आत्मा आत्मज्ञ है।

(६) समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय मे वर्णित कतिपय दार्शनिक संकेतो को समझने हेतु नियमसार कुञ्जी स्वरूप है। टीकाकार अमृतचन्द्र (ईसा की १७वीं

शताब्दी का अन्त) तथा जयसेन (ईसा की १२ वी शताब्दी का मध्य) के समक्ष नियमसार न होने से इन टीकाकारो की दृष्टि से ओझल कतिपय सूक्ष्म दार्शनिक मन्तव्य ।

(७) उपक्रमादि लिङ्ग न्याय से कुन्दकुन्दाचार्य की कृति का तात्पर्य निर्णय ।

(८) रत्नत्रय के सन्दर्भ मे उपयोग समीक्षा।

(९) 'समयसार-पक्षातिक्रान्त हैं', इस पर मौलिक व्याख्या ।

(१०) कर्मफलचेतना से आत्मा के अस्तित्व का बोध ।

(११) कुन्दकुन्दाचाय का निश्चयोन्मुखी व्यवहारनय । स्याद्वाद तथा नय-विषयक आलोचनात्मक एव तार्किक व्याख्या ।

(१२) पाहुड, नियम, आवश्यक, समय आदि सज्ञाओ की सार्थक निरुक्ति ।

(१३) सत्ता, अस्तिकाय की विशद मौलिक व्याख्या ।

(१४) 'कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियाँ आत्म निरूपण प्रधान' आदि प्रसग हृदयङ्गम करने योग्य ।

(१५) निष्कर्षत 'आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ है ।'

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. अकलंक—तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार, भारतीय-जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

२. अमृतचन्द्र—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, (सम्पा०) जैन, उग्रसेन, रोहतक, १९३३

३ अमृतचन्द्र—पञ्चाध्यायी, ग्रन्थ प्रकाशन कार्यालय, इन्दौर, १९१८

४ अमितगति—योगसारप्राभृत, (सम्पा०) मुख्तार, जुगलकिशोर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६८

५. आशाधर अनगार धर्मामृत (पत्राकार), श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, वीर सम्वत्, २४८१

६. आशाधर—सागारधर्मामृत (पत्राकार), श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, वीर सम्वत्, २४८८

७. ईश्वर-कृष्ण—सांख्यकारिका, (सम्पा०) त्रिपाठी, रमाशंकर, वाराणसी, १९७०

८ उपाध्याय, बलदेव—भारतीय दर्शन, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, १९७१

९. उमास्वाति—सभाष्य-तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, परमश्रुतप्रभावक-मण्डल, बम्बई, १९३२

१० उमास्वाति तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य तथा सिद्धसेनगणी कृत टीका सहित), (सम्पा०) कापडिया, एच० आर०, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९३०

११. कुन्दकुन्दाचार्य—अष्ट पाहुड,* सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला, पुष्प नं० ११, बम्बई, १९२३

१२. कुन्दकुन्दाचार्य—नियमसार, (सम्पा०) मगनलाल, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वीर सम्वत्, २४९२

१३. कुन्दकुन्दाचार्य—नियमसार,* (सम्पा०) शीतलप्रसाद, जैनग्रन्थरत्नाकार कार्यालय, बम्बई, १९१७

१४. कुन्दकुन्दाचार्य—पञ्चास्तिकाय* (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमंडल, बम्बई, १९०४

१५. कुन्दकुन्दाचार्य—पञ्चास्तिकाय संग्रह, (सम्पा०) मगनलाल, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, १९६५

१६. कुन्दकुन्दाचार्य—प्रवचनसार,* (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन०, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १९६४

१७ कुन्दकुन्दाचार्य—प्रवचनसार, (सम्पा०) परमेष्ठीदास, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ, १९६४
१८. कुन्दकुन्दाचार्य—प्रवचनसार, (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, विक्रम सम्वत् १९६६
१९ कुन्दकुन्दाचार्य—रयणसार,* (सम्पा०) शास्त्री, देवेन्द्र कुमार, श्री वीर-निर्वाण-ग्रन्थ प्रकाशन-समिति, इन्दौर, वीर निर्वाण सम्वत् २५००
२०. कुन्दकुन्दाचार्य—समयसार,* (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९१९
२१ कुन्दकुन्दाचार्य—समयसार, (सम्पा०) शीतलप्रसार, जैन विजय, सूरत, १९१८
२२ कैलाशचन्द्र शास्त्री—जैन-न्याय, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६६
२३ कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य—दक्षिण भारत मे जैन धर्म, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६७
२४. गुणधरभट्टारक—कषायपाहुड सूत्र, (सम्पा०) दिवाकर, सुमेरुचन्द्र, श्रुतभण्डार व ग्रन्थप्रकाशन समिति, फलटण, १९६८
२५ गौतम—न्याय दर्शन, (व्याख्याकार) ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा-सस्कृत-सिरीज, वाराणसी, १९७०
२६ चैनसुखदास—जैनदर्शनसार, (सम्पा०) मल्लिनाथन, सी० एस०, वीर पुस्तक भण्डार, जयपुर, १९७४
२७ जैन, कैलाशचन्द्र—कुन्दकुन्दप्राभृतसग्रह, जीवराज जैन-ग्रन्थमाला सवत् ९, जैन-सस्कृति-सरक्षक-सघ, सोलापुर, १९६०
२८. जैन, जगदीशचन्द्र—प्राकृत-साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१
२९ देवनन्दि (अपर नाम पूज्यपाद)—इष्टोपदेश, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९५४
३० नथमल मुनि—जैनदर्शन मनन और मीमासा, (सम्पा०) दुलहराज मुनि, आदर्श साहित्य सघ प्रकाशन, दिल्ली, १९७३
३१ नेमिचन्द्र (सिद्धान्त चक्रवर्ती)—गोम्मटसार—(जीवकाण्ड), (सम्पा०) जैन, खूबचन्द्र, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९२७
३२ नेमिचन्द्र (सिद्धान्तचक्रवर्ती—गोम्मटसार—(कर्मकाण्ड), (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, राजचन्द्र जैन शास्त्र माला, अगास, १९७१
३३ नेमिचन्द्र—(सिद्धान्त चक्रवर्ती)—लब्धिसार, (सम्पा०) मनोहरलाल परमश्रुत-प्रभावकमण्डल, १९१६
३४ नेमिचन्द्र—कर्मप्रकृति, (सम्पा०) हीरालाल शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६४
३५ नेमिचन्द्र शास्त्री—प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६६

३६. नेमिचन्द्र—द्रव्य संग्रह, (सम्पा०) कोठिया, दरबारी लाल, श्रीगणेशप्रसादवर्णी जैन ग्रन्थमाला—१६, वाराणसी, १९६६

३७. पटेल, गोपालदास जीवाभाई —कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न (गुजराती से हिन्दी अनुवाद कर्ता) शोभाचन्द्र भारिल्ल, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६७

३८ पटेल, गोपालदास जीवाभाई—कुन्दकुन्दाचार्यांचे रत्नत्रय (मराठी अनुवाद) सोन टक्के, आ० भा० जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापुर, १९६५

३९ पतंजलि—योगदर्शनम्, श्रीस्वामिनारायण ग्रन्थ माला, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस, १९३९

४० पद्मनन्दि—पद्मनन्दि—पञ्चविंशति, (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन० तथा जैन, एच० एल०, जैन-संस्कृति संरक्षक-संघ, सोलापुर १९६२

४१ पन्नालाल—कुन्दकुन्दभारती श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फल्टन, १९७०

४२. पुष्पदन्त-भूतबली—षट्खण्डागम, (सम्पा०), शाह, सुमतिबाई-श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फल्टन, १९६५

४३ पुप्फभिक्खु (सम्पा०)—सुत्तागमे भाग १ तथा २, सूत्रागम प्रकाशक समिति, गुड़गांव-छावनी, १९५३ तथा १९५४

४४. पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि,* रावजीसखारामदोशी, सोलापुर, शक संवत् १८३९

४५ पूज्यपाद—सर्वार्थसिद्धि, (सम्पा०) जगरूपसहाय, भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, विक्रम संवत् १९८५

४६ प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई, १९५६

४७. बड़जात्या, सागरचन्द—आत्म-स्मरण, धूलियागंज, आगरा, वि० सं० २०१४

४८ माइल्लधवल—नयचक्र, (सम्पा०) कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७१

४९ मालवणिया, दलसुख—आगम-युग का जैन-दर्शन, (सम्पा०) विजयमुनि शास्त्री, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६

५० योगीन्दु—परमात्मप्रकाश, (सम्पा०) उपाध्ये, ए० एन० श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, १९६०

५१ रामचन्द्र मुमुक्षु—पुण्यास्रव कथा-कोश, जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापुर, १९६४

५२ विजयमुनि शास्त्री तथा समदर्शी प्रभाकर—आगम और व्याख्या-साहित्य, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६४

५३ विमलदास—सप्तभंगीतरंगिणी, (सम्पा०) मनोहरलाल, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९१६

५४. विद्यानन्द मुनि—निर्मल आत्मा ही समयसार, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर, १९७२

५५ विद्यानन्द मुनि—पिच्छि-कमण्डलु, प्रथम भाग, राजस्थान जैन-सभा, जयपुर, १९६४
५६ विद्यानन्द—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, श्री आचार्य कुंथुसागर-ग्रन्थ-माला, सोलापुर, १९४९
५७ विद्यानन्दस्वामी—अष्टसहस्री, (सम्पा०) गोपालदास, निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, १९१५
५८ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, (सम्पा०) ढुण्ढिराजशास्त्री, गणेश महाल, वाराणसी, १९५८
५९ शिवकोटि (शिवार्य)—मूलाराधना (अपरनाम भगवती-आराधना), शांतिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९३५
६० श्रीवास्तव, बलराम—दक्षिण-भारत का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वारणसी, १९६८
६१ समन्तभद्र—आप्तमीमांसा, विद्यानन्दस्वामी, प्रमाणपरीक्षा, (सम्पा०) गजाधर लाल, भारतीय-जैन-सिद्धांत, प्रकाशिनी संस्था, बनारस, १९१४
६४ समन्तभद्र—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, (सम्पा०) मुख्तार, जुगल किशोर, भा० दि० जै० ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, १९२५
६३ सिद्धसेन दिवाकर—सन्मतितर्कप्रकरण, भाग १ से ४, (सम्पा०) संघवी, सुखलाल तथा दोशी, बेचरदास, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, १९८०-८५
६४. सिंहसूरि—लोक विभाग, (सम्पा०) बालचन्द्र शास्त्री, जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापुर, १७६२
६५ सुखलाल—दर्शन अने चिन्तन, पुस्तक २, गुजरात विद्या-सभा, अहमदाबाद, १९५७
६६ सोनी, पन्नालाल (सम्पा०)—सिद्धांतसारादिसंग्रह, भा० दि० जै० ग्रंथमाला, बम्बई, विक्रम संवत् १९७९
६७. हर्षचन्द्र महाराज—समयसार, संक्षिप्त निरीक्षण, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन संघ समिति, राजकोट, वि० संवत् १९९९
६८ हस्तीमल महाराज—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, जैन-इतिहास-समिति, जयपुर, १९७४
६९ हीरालाल शास्त्री—जैनधर्मामृत, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६५
७० हेमचन्द्र—स्याद्वादमञ्जरी (सम्पा०) जगदीशचन्द्र, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १९३५

* शोध प्रबन्ध के पाद-टिप्पणो में पृष्ठांकन चिह्नित कृतियों से किया गया है।

1 Amṛtacandra Purusārthasiddhupāya, (Ed) Ajit Prasāda, The sacred books or the Jainas, Vol IV, Lucknow, 1923

2 Bhattācārya, H S Reals in the Jain Metaphysis, The Seth Shanti Das Khetsy Charitable Trust, Bombay, 1966

3 Bhargava, Dayanand Jain Ethics, Moti Lal Banarsidas, Delhi, 1968

4 Das Gupta, S N A History of Indian Philosophy, Vol I and II, University Press, Cambridge, 1969

5 Desai, P B Jainism in South India, Jaina Sanskṛti Samrakṣaka Samgha, Sholapur, 1957

6 Jacobi, Hermann Jaina Sutras, Part I and II Sacred Books of the East XXII and XLV (Ed) MaxMuller, F , Moti Lal Banarsidāss, 1964

7 Jaina Champat Rai The Practical Dharma, The Indian Press, Allahabad 1929

8 James, Hastings (Ed) Encyclopadia of Religion and Ethics, New York, 1955

9 KundaKundācārya Nivamasāra (Ed) Uggar Sain, Sacred Books of the Jainas, Vol IX, Ajitasrama, Lucknow, 1931

10 KundaKundācārya Pañcāstikāvasāra (Ed) Chakravarti, A , Bhāratiya Jñānapitha, Delhi, 1975

11 KundaKundācārva ' Samayasāra (Ed) Chakravarti, A , Bhartiva Jñānapitha, Delhi, 1971

12 Moraes George M The Kadamba Kula, B X Furtado and Sons, Bombay, 1931

13 Mālvaniā Dalsukha (Ed) Prākrta Proper Names Part I and II L D Institute of Indology, Ahmedabad, 1972

14 Mālvaniā, Dalsukha (Ed) Jaina Philosophical Tracts (Collection), L D Institute of Indology, Ahmedabad, 1973

15 Nilakānta Śāstrī, K A The Pāndyan Kingdom, Great Russel Street, London, 1929

16. Rādhākrisnan Indian Philosophy Vol I and II, Humanities Press, New York, 1929

17 Schubring, Walther The Doctrine of the Jainas, Moti Lal Banārsi dass, Delhi, 1962

18 Shah, C L Ancient India, Vol II Shashikant and Co Baroda, 1939

19 Smith, Vincent A, The Oxford History of India, Clarendon Press, Oxford, 1970

20 Sogani, K C Ethical Doctrine in Jainism, Jivarāja Jaina Granthamāla, No 19, Sholapur, 1967

21. Stevenson, Mrs Sinclair The Heart of Jainism, Munshiram Manohar Lal, New Delhi, 1970

22 Tātiyā Nathamala Studies in Jaina Philosophy, Benaras, 1951
23 Umāswāmi Tatvārtha Sūtram (Ed) Jaini, J L. Cnampat Rai Jaina Trust Delhi 1956
24 Winternitz, Maurice A History of Indian Literature, Vol II, Munśi Ram Manohar Lal, Delhi, 1972
25 Zimmer, Henrich Philosophies of India, Routledge and Kegan Paul Ltd, London, 1955

शिलालेख और पत्रिकाएँ

१ अनेकान्त -(सम्पादक) मुख्तार, जे० के०, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
२ अहिंसावाणी - (सम्पादक) जैन, वीरेन्द्र प्रसाद, अलीगज, एटा (उ० प्र०)
३ आत्मधर्म—(सम्पादक) डोसी, जगजीवन, जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ
४ इण्डियन एण्टीक्वेरी—द काउन्सिल ऑफ द रॉयल एन्थ्रोपालाजी इन्स्टीट्यूट, बोम्बे
५ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टली—(सम्पादक) लॉ, एन० एन, कलकत्ता
६ एपिग्राफिआ-इण्डिका—मैनेजर ऑफ पब्लिकेशन्स, दिल्ली
७ एपिग्राफिआ-कर्नाटिका—बैंगलोर
८ ऐनल्स ऑफ ओरिएण्टल रिसर्च—यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास
९. जर्नल ऑफ द भण्डारकर ओरिण्टल, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
१०. जर्नल ऑफ द यूनिवर्सिटी ऑफ बोम्बे—बाम्ब
११ जर्नल ऑफ एसिएटिक सोसाइटी ऑफ बगाल—कलकत्ता
१२ जर्नल ऑफ गगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट—इलाहाबाद
१३ जर्नल ऑफ ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—बड़ौदा
१४ जैन जगत्—(सम्पादक) राका, ऋषभदास, बम्बई
१५ जैन-जर्नल—श्री जैन सभा, कलकत्ता
१६. जैन-दर्शन—(सम्पादक) शास्त्री, लालबहादुर, दिल्ली
१७ जैन-सिद्धान्त-भास्कर—जैन, ज्योति प्रसाद आदि, आरा (बिहार)
१८. जैन-हितैषी—(सम्पादक) प्रेमी, नाथूराम, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
१९ जैन-शिलालेख सग्रह, भाग १, २, ३, ४ तथा ५ माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला, बम्बई
२० न्यू-इण्डियन-एण्टीक्वेरी—कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बोम्बे
२१ वायस ऑफ अहिंसा--(सम्पादक) जैन, ज्योति प्रसाद आदि, अलीगंज, एटा
२२ वीर परिनिर्वाण—(सम्पादक) जैन, अक्षय कुमार, दिल्ली
२३. श्रमण—(सम्पादक) मेहता, मोहनलाल, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शब्दानुक्रमणी

●●●

शीघ्र प्रकाशित होने वाला ग्रथ

प्राचीनाचार्य कृतभाष्योपेत,
श्रीविसाहगणिमहत्तरप्रणीतम् ।

निशीथ-सूत्रम्

आचार्य प्रवरश्रीजिनदासमहत्तर
विरचियता
विशेषचूर्ण्या समलकृत्तम्

सम्पादक

उपाध्याय कवि श्री अमरचन्द्र जी महाराज
मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल"

चार भाग म सम्पूर्ण